आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व

पटना विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

'कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः इत्याचार्याः' ।

—राजशेखर

शैव्या झा

एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी-विभाग

कॉमर्स कॉलेज

पटना

भूमिका

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों मे जिन नवीन भावादर्शों की प्रतिष्ठा हुई और जिनसे एक नये क्लासिकल एवं आचारवादी युग का सूत्रपात हुआ, उस प्यूरिटन युग का समर्थ नेतृत्व **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने किया जो, **बनारसीदास चतुर्वेदी** के शब्दों में,[1] महापुरुष ही नहीं, महामानव भी थे।

वस्तुतः, द्विवेदीजी हिन्दी-साहित्य के वैसे ही शहीद थे, जैसे भारतेन्दु। इन दोनों ने दिन-रात एक कर साहित्य की अथक सेवा की और इसकी इमारत को एक ऐसी सुदृढ पीठिका पर कायम करना चाहा, जो युग-युग तक अक्षुण्ण रहे। भारतेन्दु के अधूरे काम को द्विवेदीजी ने ही पूरा किया। हिन्दी-काव्य व्रजभाषा से मुक्त हो गया, 'भाषा की शब्द-सम्पत्ति की अभिवृद्धि हुई तथा उसमें वह लचक आई, जो उसे सहज ही भिन्न दिशाओं में मोड़ सके। यह वह काल था, जिसने रतिशास्त्र को अग्निसात् किया था। इस आचारवादी जड़ता और आदर्शवादी रुक्षता का प्रभाव भाषा और शैली पर भी पड़ा। द्विवेदीजी की शैली इसका ज्वलन्त प्रमाण है। भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से यह एक पुरुष-काल था।'[2]

इस पुरुष-काल के लेखकों के लिए द्विवेदीजी आदर्श लेखक, मार्गदर्शक एवं सम्पादक थे। ध्यातव्य है कि उन दिनों एकमात्र 'सरस्वती' ही 'पत्रिकाओं की रानी नहीं, पाठकों की सेविका थी।' द्विवेदीजी के कथनानुसार, 'तब उसमें कुछ छापना या किसी के जीवन-चरित्र आदि प्रकाशित करना जरा बड़ी बात समझी जाती थी।'[3] ऐसी दशा में लोग द्विवेदीजी को कभी-कभी बड़े-बड़े प्रलोभन देते। "कोई कहता—मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूँगा। कोई लिखता—अमुक सभा में दी गई, अमुक सभापति का 'स्पीच' छाप दो, मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो, तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नजर की जायगी।" इन प्रलोभनों के बावजूद द्विवेदीजी टस-से-मस नहीं होते थे, परन्तु इतना तो अवश्य होता था कि इनका विचार करके वे अपने दुर्भाग्य को कोसते थे और कहते थे कि जब मेरे आकाश-महलों को खुद मेरी ही पत्नी ने गिराकर चूर कर दिया, तब भला ये घड़ियाँ और गाड़ियाँ मैं कैसे हजम कर सकूँगा। अतः 'बहरा' और 'गूँगा' बनकर वे 'सरस्वती' में उन्हीं रचनाओं का

---

१. **रेखाचित्र** (भारतीय ज्ञानपीठ, १९५२), पृ० १२।

२. केसरीकुमार, **साहित्य और समीक्षा** (१९५१), पृ० ४२।

३. द्र० क्षेमचन्द्र सुमन (सम्पादक), **जीवन-स्मृतियाँ** (१९५३) पृ० ४५।

प्रकाशन करते थे, जो पाठकोपयोगी होते । उन्होंने लिखा है : "मैं उनकी रुचि का सदैव खयाल रखता, और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो । संशोधन द्वारा लेखों की भाषा बहुसंख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता । यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या उल्लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं । अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की ।"

जाहिर है कि द्विवेदीजी-जैसे कर्त्तव्यपरायण, उदार साहित्यसेवी विरले ही होते हैं। उनमें अपने कर्त्तव्य के प्रति अपूर्व निष्ठा और ईमानदारी थी ही, हिन्दी-भाषा और साहित्य के प्रति अगाध प्रेम भी था। अपनी 'जीवनगाथा' के एक रोचक स्थल पर उन्होंने अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भिक दिनों की झाँकी प्रस्तुत करते हुए कहा है कि कतिपय छिटपुट रचनाओं के प्रकाशन के अनन्तर ही उन्होंने अपने ऊपर ग्रन्थकार, लेखक, समालोचक और कवि की पदवियाँ लाद ली थीं, जिनके कारण उनके गर्व की मात्रा में बहुत-कुछ इजाफा हो गया था। किन्तु उनके तत्कालीन मित्रों और सलाहकारों ने उसे पर्याप्त न समझा । उन्होंने द्विवेदीजी को सलाह दी : 'अजी ! कोई ऐसी किताब लिखो जिससे टके सीधे हों ।' सरलहृदय द्विवेदीजी उनके चकमे में आ गए और बड़े श्रम से उन्होंने 'तरुणोपदेश' नामक ग्रन्थ की रचना की । फिर भी, उनके मित्रों को इससे सन्तोष न हुआ, कारण कि इसमें वह सरसता न थी, जिससे 'पाठक उसपर इस तरह टूटें, जिस तरह गुड़ नहीं, बहते हुए व्रण या गन्दगी पर मक्खियों के झुण्ड-के-झुण्ड टूटते हैं।' उन्होंने लेखक को सलाह दी : 'कामकला लिखो, काम-किल्लोल लिखो; कन्दर्प-दर्पण लिखो; रति-रहस्य लिखो; मनोज-मंजरी लिखो; अनंग-रंग लिखो ।' द्विवेदीजी ने स्वीकार किया है कि इस सलाह के कारण ही बहुत दिनों तक उनका चित्त चलायमान रहा । अन्त में, उन्होंने चार-चार चरणवाले लम्बे-लम्बे छन्दों में एक पद्यात्मक पुस्तक लिख ही डाली । इसकी आलोचना स्वयं द्विवेदीजी ने इस पकार की है:

"...ऐसी पुस्तक, जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नहीं, तो बरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना कि उस समय तक उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। मैं तीस-चालीस साल पहले की बात कह रहा हूँ, आजकल की नहीं। आजकल तो नाम बाजारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनों को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है । अपने बूढ़े मुँह के भीतर धँसी हुई जबान से आपके सामने उस नाम का उल्लेख करते मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी । पर पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए आप पंच समाज-रूपी

परमेश्वर के सामने शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही होगा। अच्छा, तो उसका नाम था या है 'सोहागरात'। उसमें क्या है, यह आप पर प्रकट करने की जरूरत नहीं, क्योंकि—'परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः।"

ऐसी ही स्वीकारोक्ति और निर्भीक स्पष्टवादिता द्विवेदीजी की चारित्रिक विशेषताएँ है, जो उनकी पत्रावली और आलोचनाओं में भी अवितथ प्रतिबिम्बित हुई है। द्विवेदीजी व्यक्ति के नहीं, उसके गुणों के उपासक थे, इसीलिए उन्होने अनौचित्य की भरसक पुरजोर गर्हणा की है और असाधु प्रयोगों की ओर अपने समसामयिकों का ध्यान आकृष्ट किया है, चाहे वे प्रयोग किसी महान् कहे जानेवाले व्यक्ति या साहित्यकार के ही क्यों न हों। उन्होंने जूही, कानपुर से **प० पद्मसिंह शर्मा** को लिखा था :

> "हमने दो-एक व्यंग्यपूर्ण और हास्यरसानुयायी गद्य-पद्यमय लेख लिखे है, उनका सम्बन्ध ऐसे लोगों की समालोचनाओं से है, जो कुछ नही जानते, पर सब कुछ जानने का दावा करते हैं। अगर सलाह हुई, तो उनको शायद हम क्रम-क्रम से प्रकाशित कर दें। भाषा और व्याकरण पर एक और लेख लिखने का हमारा इरादा है। उसमें भी हम हरिश्चन्द्र की त्रुटियाँ दिखलायेंगे, और अच्छी तरह दिखलायेंगे। काशी के कई पण्डितों ने अनस्थिरता को साधु बतलाया। 'संस्कृत' पत्रिका के सम्पादक अप्पाशास्त्री विद्यावागीश ने तो कई तरह से उसकी साधुता साबित की।"[1]

द्विवेदीजी ने न तो अपने जीवन में क्लिष्टता को महत्त्व दिया और न काव्य में। यहाँ तक कि **बाबू मैथिलीशरण गुप्त** की रचनाओं में भी इस दोष को पाकर उन्होने कवि को सलाह दी थी कि काव्य में सरलता ही वरेण्य है, न कि अस्पष्टता और दुरूहता। गुप्तजी के नाम लिखे गये एक पत्र में द्विवेदीजी ने कहा है : 'यत्र-तत्र पेंसिल के निशान और सूचनाएँ देख जाइए।....इसमें कहीं-कहीं क्लिष्टता खटकती है। यथासम्भव उसे दूर करने का यत्न कीजिएगा। नहीं तो टिप्पणियाँ दे दीजिएगा।' इसी पत्र के अन्त में उन्होंने गुप्तजी को सरल भाषा में कविता रचने की सलाह दी है : 'एक बात का विचार रखिएगा। भाषा सरल हो। भाव सार्वजनीन और सार्वकालिक हो, सब देशों के सब मनुष्यों के मनोविकार प्रायः एक-से होते हैं। काव्य ऐसा होना चाहिए, जो सबके मनोविकार को उत्तेजित करे—देश-काल से मर्यादा-बद्ध न हो। ऐसी ही कविता अमर होती है।'[2]

जिन कारणों से इँगलैण्ड में **डॉ० जॉनसन** ने मेटाफिजिकल कवियों की आलोचना की थी, प्रायः उन्हीं कारणों से द्विवेदीजी ने 'सुकविकिंकर' और 'द्विरेफ' के छद्म

---

१. **द्विवेदी-पत्रावली** (भारतीय ज्ञानपीठ, १९५४), पृ० ९०।
२. उपरिवत्, पृ० ११४।

नामों से 'कमल-अमल, अरविन्द-मिलिन्द आदि अनोखे-अनोखे उपनामों की लांगूल' लगानेवाले छायावादी कवियों को 'कवित्वहन्ता' छोकड़ा कहा था। द्विवेदीजी की दृष्टि में काव्यगत उत्कर्ष-अपकर्ष की परीक्षा के लिए एक ही अचूक निकष है—सत्य। जिस प्रकार व्यक्ति का चरित्र इस बात से जाना जाता है कि वह सत्य का कितना प्रेमी है, उसी प्रकार काव्य की श्रेष्ठता इस बात से द्योतित होती है कि उममें सत्य की मात्रा कितनी है। 'रसज्ञ-रंजन' के एक अविस्मरणीय स्थल पर द्विवेदीजी ने कहा है कि चूँकि बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है, इसलिए कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए। द्विवेदीजी के कथनानुसार 'अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा। वही कवि सच्चे कवि है, जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है। ऐसे कवि धन्य हैं; और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं, वह देश भी धन्य है। ऐसे कवियों की कविता चिरकाल तक जीवित रहनी है।'[१]

सत्य के ऐसे ही अनन्य उपासक एवं हिन्दी-आलोचना के जनक पर लिखा गया यह शोधग्रन्थ कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। शोधकर्त्री ने द्विवेदीजी के मूल ग्रन्थों का सूक्ष्म विश्लेषण तो किया ही है, उन ग्रन्थों पर लिखे गए निबन्धों और आलोचनाओं से भी प्रभूत प्रेरणा ग्रहण की है, उनमें उपस्थित विचारों का खंडन-मंडन किया है और इस प्रकार एक ऐसे मौलिक ग्रन्थ की रचना की है, जो वैदुष्यपूर्ण तो है ही, 'असलियत' तथा गम्भीर शोधपरक भावों से भरपूर है। मेरी दृष्टि में प्रस्तुत ग्रन्थ द्विवेदीजी के सम्पूर्ण साहित्यिक पहलुओं पर लिखा गया एक सर्वांगपूर्ण अध्ययन है, जिसकी भाषा प्रांजल और विषय-वस्तु का विश्लेषण एवं प्रस्तुतीकरण बहुत मनोहारी है। इसके लिए लेखिका और प्रकाशक, दोनों ही बधाई के पात्र हैं।

अँगरेजी-विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय
१५. ६. १९७७

रामचन्द्र प्रसाद
यूनिवर्सिटी प्रोफेसर और अध्यक्ष

---

१. रसज्ञ-रंजन (१९४९), पृ० ६१।

आभार

यों तो, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के जीवनवृत्त, व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व-सम्बन्धी कई पुस्तकें उपलब्ध हैं,पर अधिकतर पुस्तकों में केवल उनके ।
विचारों का उल्लेख हुआ है। द्विवेदी-युग की पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उनके व्यक्तित्व तथा कर्त्तृत्व पर पूरा विचार नहीं किया गया है। इन्हीं अभावों को देखकर मैंने इस शोध-प्रबन्ध द्वारा इनकी पूर्त्ति का विनम्र प्रयास किया है। इस महत्कार्य के प्रेरक और प्रोत्साहक परमादरणीय **डॉक्टर रामचन्द्र प्रसाद** हैं। इन्हीं की प्रेरणा से प्रभावित होकर मैं शोध की ओर आकृष्ट हुई। इन्हीं का स्नेह मेरा सम्बल रहा है। अतः, यह जो कुछ भी है, सब इन्हीं का है।

हिन्दी के जिन महान् आचार्यो की कृतियों से मैं अतिशय लाभान्वित हुई हूँ, वे हैं **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० शत्रुघ्न प्रसाद, श्रीसिद्धिनाथ तिवारी, डॉ० नगेन्द्र** आदि। पटना विश्वविद्यालय-पुस्तकालय, सिन्हा लाइब्रेरी, चैतन्य पुस्तकालय, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्-पुस्तकालय, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा आदि के व्यवस्थापकों ने समय-समय पुस्तकों के उपयोग की जो सुविधा दी है, उसके लिए मैं इन संस्थाओं और इनके अधिकारियों का आभार स्वीकार करती हूँ।

कॉमर्स कॉलेज,

पटना

—शैव्या झा

अन्तर्वस्तु

प्रथम अध्याय

द्विवेदी-युग की पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियाँ

अवतरणिका :

साहित्येतिहास में किसी युग-विशेष का नामकरण सामान्यतः प्रवृत्ति-विशेष के आधार पर होता है, परन्तु कभी-कभी किसी व्यक्ति के नाम पर भी युग का नामकरण कर दिया जाता है। व्यक्ति के नाम पर किसी काल का नामकरण तभी सार्थक होता है, जबकि उस व्यक्ति-विशेष ने अपने समसामयिक साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित किया हो। हिन्दी के साहित्यिक इतिहास का काल-विभाजन करते हुए **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने सं० १९०० से अबतक की सम्पूर्ण साहित्यिक परम्परा को आधुनिक काल के अन्तर्गत परिगणित किया है। 'आधुनिक' शब्द हमारे युग की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है; क्योंकि आधुनिक युग में जीवन और कला के विभिन्न क्षेत्रों में अभूतपूर्व युग-परिवर्त्तन दिखाई पड़ता है। अभिव्यक्ति की नूतन प्रविधियों एव कला-जगत् की नवीनताओं की इस व्याप्ति के कारण ही आचार्य शुक्ल एवं अन्यान्य विद्वानों ने सं० १९०० से प्रारम्भ होनेवाले इस काल को 'आधुनिक काल' नाम दिया। शुक्लजी ने आधुनिक काल में अन्तर्विभाग भी किये हैं। उन्होंने २५-२५ वर्षों का उत्थान माना है और प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान, तृतीय उत्थान आदि कहते चले गये हैं। इन्हीं उत्थानों को व्यक्ति-विशेष की प्रमुखता के आधार पर क्रमशः भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग आदि की संज्ञा दी जाती है। जहाँतक द्विवेदी-युग का सन्दर्भ है, इस कालखण्ड की स्थूल सीमा सन् १९०० से १९३० ई० तक मानी गई है।

काल की किसी विशेष अवधि को द्विवेदी-युग कहकर सम्बोधित करने का स्पष्ट अर्थ यही है कि उक्त युग-विशेष की साहित्यिक गतिविधियों का नेतृत्व द्विवेदी नाम-धारी किसी साहित्यसेवी के जिम्मे था। वास्तव मे, सन् १९०० से १९२० ई० की, सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् में होनेवाली गतिविधियाँ **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** के निर्देशन में संचालित होती थीं। इस तथ्य को सभी आलोचक विद्वानों ने एकमत होकर स्वीकार किया है कि द्विवेदीजी ने अपनी समसामयिक हिन्दी-साहित्य को दिशा-बोध कराने एवं भाषा का स्वरूप गढ़ने में नेता-जैसा कार्य किया है। **श्रीबालकृष्ण राव** ने लिखा है :

"स्वयं अपने को वे महान् साहित्यकार बना पाये हों या न बना पाये हों, इसमें कोई सन्देह नही कि उन्होंने अनेक साहित्यकार बनाये। उनकी प्रेरणा से जाने कितनों ने उस युग मे हिन्दी में लिखना शुरू किया, उनके प्रशिक्षण के कारण जाने कितने मँजे-मँजाये लेखक बन गये। जिसे हम द्विवेदी-युग कहते हैं, उस युग में महान् साहित्य की सृष्टि भले ही न हुई हो, उस युग ने ही महान् साहित्य की सृष्टि के लिए मार्ग प्रशस्त किया।"[1]

अपने युग की उपलब्धियों के बीच द्विवेदीजी का अपना विशिष्ट महत्त्व था, इतना निःसन्दिग्ध है। **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने इसी आशय के विचार अभिव्यक्त किये है :

"हम उस युग के अन्यान्य साहित्यिक महारथियों की महिमा को सम्पूर्ण स्वीकार करते हुए भी निःसकोच कह सकते है कि भाषा को युगोचित, उच्छ्वासहीन, स्पष्ट-वादी और वक्तव्य अर्थ के प्रति ईमानदार बनाकर जो काम द्विवेदीजी कर गये हैं, वही उन्हे हिन्दी-साहित्य मे अद्वितीय स्थान का अधिकारी बनाता है। साधारणतः, साहित्य क्षेत्र में भाषा के प्रजापतिगण केवल शैली और भाषा के बल पर इस महत्त्व-पूर्ण आसन पर अधिकार नहीं करते, परन्तु द्विवेदीजी एक ऐसे अद्भुत मुहूर्त्त में आये थे और ऐसी प्रकृति और ऐसा संस्कार लेकर आविर्भूत हुए थे कि वे उस आसन पर निर्विवाद भाव से अधिकार कर सके।"[2]

युग-नेतृत्व का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य संचालित करने के कारण द्विवेदीजी का समुचित प्रभाव तत्कालीन साहित्यिक विकास पर पड़ा। इस कारण, उनकी छत्रच्छाया मे साहित्य-रचना होने की सम्पूर्ण अवधि को 'द्विवेदी-युग' कहना सर्वथा युक्तिसंगत है। इस नामकरण को अधिकांश विद्वानों ने स्वीकृति दी है। परन्तु, इस कालखण्ड के लिए कई अन्य संज्ञाओं का भी प्रयोग किया गया है। नागरी-प्रचारिणी सभा (वाराणसी) से प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास' में सं० १९५० से सं० १९७५ की इस साहित्यिक काल-सीमा को 'परिष्कार-काल' कहा गया है। भाषा के स्थिरीकरण एवं सुधार का जो कार्य इस अवधि में हुआ था, प्रस्तुत नाम उसी पर आधृत है। इस ऐतिहासिक कार्य को आचार्य द्विवेदी ने ही गति और सही दिशा का ज्ञान दिया था, अतएव इस कालखण्ड को 'परिष्कार-काल' की अपेक्षा 'द्विवेदी-युग' कहना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसी भाँति, **डॉ० जितराम पाठक** ने तत्कालीन राष्ट्रीय काव्य पर प्रभाव डालनेवाली सामयिक परिस्थितियों पर आधृत संज्ञाओं की कल्पना की है, परन्तु मान्यता सर्वस्वीकृत नाम को ही दी है। यथा :

---

१. श्रीबालकृष्ण राव : सम्पादकीय, 'माध्यम', मई, १९६४ ई०, पृ० ६।

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'विचार और वितर्क', पृ० ८४।

"इस युग-विशेष में सुधारों का जोर रहा। द्विवेदीजी भी भाषा के साथ जीवन के अन्य क्षेत्रों में सुधार कर मर्यादा की स्थापना करना चाहते थे। उनपर आर्यसमाज का सुधारवाद हावी रहा। राष्ट्रीय क्षेत्र में तिलक का प्रभाव इसके उत्तरार्द्ध मे रहा। इसलिए राष्ट्रीय काव्य पर पड़नेवाले प्रभाव की दृष्टि से इस युग का नामकरण 'दयानन्द-युग' अथवा 'तिलक-युग' किया जा सकता है, लेकिन हिन्दी-साहित्येतिहास में प्रचलित 'द्विवेदी-युग' नाम ही यहाँ गृहीत है।"[1]

डॉ० पाठक ने द्विवेदी-युग की काल-सीमा सन् १९०१ से १९१९ ई० तक मानी है। दूसरी ओर, डॉ० गणपतिचन्द्रगुप्त ने काव्य-परम्पराओं एवं मूल आदर्शों की दृष्टि से द्विवेदी-युग को भारतेन्दु-युग से अभिन्न भाना है। उन्होने द्विवेदीकालीन सम्पूर्ण काव्य-सभ्यता को भारतेन्दु-युग से ही प्रारम्भ हुई 'आदर्शवादी काव्य-परम्परा' के खाते में डाल दिया है और लिखा है :

"काव्य-परम्पराओं की दृष्टि से यह युग पूर्ववर्त्ती युग से अविभाज्य है, पूर्ववर्त्ती युग की ही परम्पराओं और प्रवृत्तियों का विकास इस युग में हुआ है। परिवर्त्तन केवल दो क्षेत्रों मे हुआ—एक तो नेतृत्व में और दूसरे रचना-पद्धति एवं काव्यभाषा में। अब भारतेन्दु का स्थान महावीरप्रसाद द्विवेदी ने ग्रहण कर लिया तथा उनके प्रभाव तथा प्रयास से मुक्तक शैली के स्थान पर प्रबन्धात्मकता की तथा ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठा हुई।"[2]

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त का यह कथन द्विवेदी-युग की काव्यगत उपलब्धियों पर आधृत है, गद्य-सम्बन्धी गवेषणाओं की ओर इसमें ध्यान नहीं दिया गया है। अतएव, इस विभाजन को सर्वांगपूर्ण नही माना जा सकता। द्विवेदी-युग के नामकरण एवं काल-विभाजन को सर्वाधिक विस्तार **डॉ० श्रीकृष्ण लाल** ने दिया है। उन्होंने सन् १९०० से १९२५ ई० तक की अवधि को 'द्विवेदी-युग' के अन्तर्गत माना है। इस युग की साहित्यिक विशिष्टताओं की चर्चा करते हुए लिखते है :

"बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में हिन्दी-साहित्य का विकास प्रयोग से प्रारम्भ होकर निश्चित सिद्धान्तों की ओर, प्राचीन संस्कृत-साहित्य के प्रतिवर्त्तन (रिवाइवल) से पाश्चात्त्य साहित्य के अनुकरण और रूपान्तर की ओर; मुक्तक और प्रबन्धकाव्यों से गीतिकाव्यों की ओर; इतिवृत्तात्मक और असमर्थ कविता से प्रभावशाली और भावपूर्ण कविता की ओर; करुणा, वीर और प्रकृति-वर्णन के सहजोद्रेक भावों से प्रारम्भ

---

१. डॉ० जितराम पाठक : 'राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि में आधुनिक काव्य का विकास', पृ० १५३।

२. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त : 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', पृ० ६३७।

होकर चित्रभाषा-शैली में कलापूर्ण रचनाओं की ओर, अलंकार, गुण और रस से ध्वनि और व्यंजना की ओर; साधारण प्रेम, वीरता और त्याग की भावना से मानव-जीवन की उच्च तृप्तियों और भावनाओं की व्यंजना की ओर हुआ।"[1]

द्विवेदी-युग की इन साहित्यिक देनों की अभिशंसा करने के साथ-ही-साथ **डॉ० श्रीकृष्ण लाल** ने इस युग-विशेष के भी अन्तर्विभाग किये है :

सन् १९००—१९०८ ई० : अराजकता-काल
सन् १९०८—१९१६ ई० : साहित्यिक व्यवस्था-काल
सन् १९१६—१९२५ ई० : साहित्यिक उत्कर्ष-काल

इस विभाजन का द्विवेदी-युगीन सन्दर्भो में अपना निजी औचित्य है। द्विवेदी-युग की साहित्य-सर्जना के पीछे उस युग की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का विशेष योग था। इस कारण, इस युग का वास्तविक महत्त्वपूर्ण निरूपण इन प्रेरक परिस्थितियो के विस्तृत अध्ययन के अभाव में उसी प्रकार अधूरा है, जिस प्रकार भारतेन्दु युगीन साहित्य का मूल्याकन समाजशास्त्रीय सन्दर्भ के विना अपूर्ण रह जाता है। भारतेन्दु-युग में भारत के राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षितिज पर अराजकता एवं विदेशी शासन से उत्पन्न शोषण के जैसे काले बादल छाये हुए थे, द्विवेदी-युग की स्थिति उससे भिन्न नही थी। **डॉ० शत्रुघ्न प्रसाद** ने ठीक ही लिखा है :

"वह युग सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों के उद्‌बुद्ध तथा आर्थिक शोषण से पीड़ित था। चिन्तन के क्षेत्र मे विज्ञान-जन्य हेतुवाद, मानवतावाद, राष्ट्रीयता तथा रागवादी एवं कर्मवादी जीवन-दर्शन के विचार फैल रहे थे। देश-विदेश के विभिन्न विचारकों के नव-चिन्तन बौद्धिक वातावरण मे सन्तरण कर रहे थे। द्विवेदी-युग पुनर्जागरण तथा नवोत्थान के युग में प्रवेश कर चुका था, जबकि भारतेन्दु-युग नवयुग का अभिनन्दन कर उसमें प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहा था। इन्हीं परिस्थितियों तथा विचारों से साहित्य भी अनुप्राणित हो रहा था।"[2]

तद्‌युगीन साहित्य को जिन विशेष परिस्थितियों ने सबसे अधिक प्रभावित किया, उनमें निम्नांकित की चर्चा की जा सकती है :

राजनीतिक परिस्थितियाँ : द्विवेदी-युग भारतीय इतिहास में बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण के रूप में स्वीकृत है। इस नई शती के प्रारम्भ होने तक कश्मीर से कन्याकुमारी

१. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिन्दी का विकास', पृ० २५-२६।
२. डॉ० शत्रुघ्न प्रसाद : 'द्विवेदीयुगीन हिन्दी-नाटक', पृ० १९-२०।

तक सम्पूर्ण भारतीय जनता ने अँगरेजो का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। सन् १८५७ ई० के गदर की आग शान्त हो गई थी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के स्थान पर भारत का शासन ब्रिटेन के सम्राट् के अधीन हो गया था और सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय काँगरेस का जन्म हो चुका था। बीसवी शती के प्रारम्भ होते ही सन् १९०१ ई० से भारत के गवर्नर जेनरल **लॉर्ड कर्जन** का शासन प्रारम्भ हुआ। अधिकांश लोगों का मत है कि भारतव्यापी अराजकता के लिए जो अकेला व्यक्ति उस समय उत्तरदायी था, उसका नाम लॉर्ड कर्जन था। ऐसे अभिमतों के प्रकाशन का कारण यही है कि कर्जन ने अपने हठी स्वभाव के कारण विभिन्न भारत-विरोधी कार्य कर भारतीयों को असन्तुष्ट कर दिया था। निरंकुश एवं कठोर नीतिवाले लॉर्ड कर्जन ने अपने दमन-कार्य से भारतवासियो के मन में अँगरेजी-शासन के विरुद्ध भावनाओं को जागरित किया। बंगाल का विभाजन-सम्बन्धी उनके निर्णय ने आग मे घी का काम किया। फलस्वरूप, देश की राष्ट्रीय चेतना ने भी क्रान्तिकारी रूप धारण करना प्रारम्भ किया। उस समय की राष्ट्रीय स्थिति के प्रसंग में **श्रीपट्टाभिसीतारामैया** ने लिखा है :

"सरकार की उत्तरोत्तर उग्र और नग्न रूप धारण करनेवाली दमन-नीति के कारण नवचेतना भी सचमुच व्यापक, विस्तृत और गहरी होती गई। देश के एक कोने में जो घटना होती थी, वह सारे देश में फैल जाती थी।"[१]

भारतेन्दुयुगीन शासन-सुधार की माँग करनेवाली राष्ट्रीय चेतना इस अवधि में स्वशासन की अधिकार-घोषणा करने लगी। इस दृष्टि से भारतीय काँगरेस में भी क्रान्तिकारी परिवर्त्तन के लक्षण दीख पड़े। सन् १९०६ ई० में काँगरेस के कलकत्ता-अधिवेशन मे **श्रीदादाभाई नौरोजी** ने सर्वप्रथम स्वराज्य का प्रस्ताव रखा। इसी वर्ष राजनीतिक स्तर पर भारतीय मुसलमानों के दल 'मुस्लिम लीग' का भी जन्म हुआ। इसके पूर्व सन् १९०५ ई० में लॉर्ड कर्जन के स्थान पर **मिण्टो** वायसराय नियुक्त हो चुके थे। उन्होंने भारत-सचिव **मार्ले** के साथ मिलकर भारतव्यापी मिण्टो-मार्ले-सुधार की योजना तैयार की। परन्तु, इस सुधार को अँगरेजो की निजी दुर्बलता ही समझा गया तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को और अधिक वेग से चलाया जाने लगा। सन् १९१० ई० में **पंचम जॉर्ज** ब्रिटिश-सिंहासन पर आरूढ हुए और सन् १९११ ई० में रानी मेरी-सहित उनके भारत-आगमन के अवसर पर दिल्ली में विशाल दरबार का आयोजन किया गया। इसी समय भारत की राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली लाई गई। सन् १९०८ ई० मे **खुदीराम बोस** द्वारा बम फेंके जाने से लेकर सन् १९१२ ई० में लॉर्ड हार्डिंग पर बम फेंके जाने की घटना तक ब्रिटिश-शासन के प्रति भारतीय जनमानस में उत्पन्न रोष

१. श्रीपट्टाभिसीतारामैया : 'काँगरेस का इतिहास', भाग १, पृ० ६४।

अभिव्यक्त हो चुका था। पराधीन राष्ट्र की राजनीतिक चेतना की विद्रोहमूलक जागृति का एक मुख्य कारण भारत के साथ अन्य देशों का बढ़ता हुआ सम्पर्क भी था। रूस-जापान-युद्ध मे जापान की विजय (सन् १९०५ ई०) से भारतीय जीवन में नवजावरण की प्रेरणा मिली थी। इसी भाँति, दक्षिण अफ्रिका के बोअर-युद्ध, जुलू-विद्रोह और सत्याग्रह आदि में **महात्मा गान्धी** के सेवाकार्यों से भी राष्ट्र के जीवन में नवीन स्फूर्त्ति का सचार हुआ। परन्तु, अन्तरराष्ट्रीय चेतना का सर्वाधिक सचार सन् १९१४ ई० में छिड़े विश्वयुद्ध के द्वारा हुआ। **डॉ० श्रीकृष्ण लाल** ने ठीक ही लिखा है :

"सन् १९१४ —१८ ई० का महायुद्ध एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना थी। इससे पहले भारतवर्ष मे अन्तरराष्ट्रीय भावना बिलकुल न थी। अबतक भारत पश्चिम की राष्ट्रीयता से ही प्रभावित हुआ था, परन्तु अब उसे इस बात का अनुभव होने लगा कि भारतवर्ष विशाल विश्व का एक अंग है और विश्व की प्रत्येक घटना उसके लिए भी महत्त्व रखती है।"

भारत ने प्रथम विश्वयुद्ध में इस आशा से अँगरेजों का साथ दिया कि वे उनकी सेवा से प्रसन्न होकर स्वशासन का अधिकार दे देंगे। परन्तु, इस सहायता से कोई फल नहीं प्राप्त करने पर राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओ ने भारतव्यापी असन्तोष को अभिव्यक्त करने के लिए कार्य प्रारम्भ किया। इस बीच सन् १९१५ ई० में **श्रीगोपाल कृष्ण गोखले** और **श्रीफिरोजशाह मेहता** के निधन के पश्चात् भारतीय कॉंगरेस मे नरमदल के स्थान पर गरमदल की प्रमुखता हो गई थी। **श्रीबाल गंगाधर तिलक** और **लाला लाजपत राय** आदि नेताओं का उदय इस काल में जोर-शोर से हुआ। **श्रीमोहनदास करमचन्द गान्धी** सन् १९१५ ई० में भारत आये और अगले वर्ष सन् १९१६ ई० से वे यहाँ की राजनीति में कूद पड़े। सन् १९१६ ई० मे यहाँ **श्रीमती एनीबेसेण्ट** ने 'होम-रूल लीग' की स्थापना की। सन् १९१९ ई० में अमृतसर के जालियाँवाला बाग मे **जनरल डायर** के आदेश पर हुए पाशविक गोलीकाण्ड द्वारा इस द्विवेदी-युगीन ब्रिटिश-दमनचक्र की पूर्णाहुति हुई। दमन के विरोध में काँगरेस, मुस्लिम लीग तथा एनीबेसेण्ट के होमरूल लीग ने राष्ट्रीय आन्दोलन को अपने-अपने ढंग से सहारा दे रखा था। इनके साथ-साथ उग्रपन्थी एवं आतंकवादी क्रान्तिकारियों का आन्दोलन भी चल रहा था। सन् १९०० से १९२० ई० का यह कालखण्ड भारत के राजनीतिक क्षितिज पर महात्मा गान्धी के छा जाने की पूर्वपीठिका के रूप में स्वीकृत हो सकता है। इन सारी राजनीतिक स्थितियों से उस युग के साहित्यसेवी असम्पृक्त नहीं थे।

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी-सहित्य का विकास', पृ० २९।'

साहित्य में राजनीतिक वातावरण की स्पष्ट छाप दीख पड़ती है। **डॉ० सुषमा नारायण** के शब्दों में :

"राष्ट्रवादी विचारधारा प्रबल रूप में सम्पूर्ण देश में छा गई थी, प्राचीन भारतीय सस्कृति तथा सभ्यता की धाक भारतीय मस्तिष्क में बैठाई जा चुकी थी और साम्राज्य-वादियो की निरंकुशता से मुक्ति पाने के लिए अतीत गौरव एक सुदृढ रक्षाकवच के समान था। अत', हिन्दी-साहित्य में भी भारत के अतीतकालीन आध्यात्मिक, नैतिक और भौतिक उत्कर्ष के सुन्दर, प्रभावोत्पादक, पुराण तथा इतिहास-सम्मत विषय चुने गये। अतीत गौरव की तुलना में वर्त्तमान दुर्दशा की अनुभूति मे तीव्रता आई। भौगोलिक एकता एवं मातृभूमि-स्तवन पर विशेष बल दिया गया। वर्त्तमान के अभावों—राजनीतिक अभिशाप, सामाजिक कुरीतियाँ, आर्थिक शोषण, सांस्कृतिक हीनता—का चित्रण किया गया।। राष्ट्रवाद के भावात्मक पक्ष स्वदेशी-आन्दोलन, तिलक की उग्र राष्ट्रवादिता, होमरूल-आन्दोलन, अहिसात्मक सत्याग्रह और बलिदान की भावना की साहित्य मे अभिव्यक्ति की गई। भारत के सुन्दर भविष्य के स्वप्न सँजोये गये।"[१]

युगीन राजनीतिक घटनाओ से हिन्दी-साहित्यकारों के साहचर्य की स्पष्ट सूचना उपर्युक्त पंक्तियों मे मिल जाती है।

सामाजिक परिस्थितियाँ : द्विवेदी-युग के प्रारम्भ होने तक भारत की सामाजिक अवस्था राजनीतिक अराजकता के समकक्ष ही विषम हो चुकी थी। भारतीय समाज विनाशशील प्रवृत्तियों को बड़ी ही प्रसन्नता के साथ ग्रहण कर रहा था, इसके प्रमाणस्वरूप समाज के सभी वर्गो में हुए पतन को सामने रखा जा सकता है। अपनी प्राचीन विशेषताओं से पीछा छुड़ाकर भारतीय समाज पूरी तरह वर्गगत एवं साम्प्रदायिक विषमताओं का प्रतीक बन चुका था। साथ ही, अशिक्षा के कारण भारतीय समाज अन्धविश्वासों एव कुप्रथाओं का अड्डा बन गया था। ऐसी सामाजिक कुरीतियो में बाल-विवाह, बेमेल विवाह, बहु-विवाह, मांस-भक्षण, मदिरा-सेवन, धार्मिक अन्धविश्वास, छुआछूत, पारस्परिक फूट और कलह आदि की चर्चा की जा सकती है, जिनके कारण इस देश की अधोगति हो रही थी। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल की सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध मे **डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय** की निम्नांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"एक ओर तो भारतीय जीवन सुव्यवस्थित एवं सुदृढ शिक्षा-पद्धति के अभाव के कारण अनेक मध्ययुगीन कट्टर, गतिहीन, रूढिबद्ध, असामाजिक और अनुदार अन्ध-विश्वासों, कुरीतियों और कुप्रथाओं से भरा हुआ था, समाज में कूपमण्डूकता का

१. डॉ० सुषमा नारायण : 'भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी-साहित्य में अभिव्यक्ति,' पृ० ६३।

प्रचार था, उसकी सर्जनात्मक और नवोन्मेषशालिनी शक्ति और उच्च आकांक्षाओं और साहसिक प्रकृति का ह्रास हो गया था और भारतीय इस्लामी सभ्यता एवं संस्कृति का सूर्य अस्ताचलगामी हो चुका था, तो दूसरी ओर वह परम्परा और रूढिप्रियता तथा पौराणिकता का मोह छोड़कर नवीनता की ओर बड़ी तीव्रता के साथ बढ रहा था जिससे स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारतीय जीवन अपने दुर्दिन देख रहा था, तो भी वह नितान्त निष्प्राण नहीं हो गया था।"[1]

सन् १८५७ ई० के विद्रोह के पूर्व भी अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन हुए, जिनके फलस्वरूप भारत मे सामाजिक प्रगति की भावना धीरे-धीरे विकसित हुई। इस सामाजिक पुनरुत्थान का बीड़ा सर्वप्रथम **राजा राममोहन राय** ने सन् १८१५ ई० में ही 'आत्मीय सभा' एवं सन् १८२८ ई० में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना द्वारा उठाया। भारतीय जनमानस को सामाजिक पुनर्गठन की नितान्त आवश्यकता का सर्वाधिक बोध कराने का श्रेय आर्यसमाज को है। **स्वामी दयानन्द** ने बाल-विवाह, बहु-विवाह तथा अस्पृश्यता का विरोध किया एवं भारतीय समाज को नई दृष्टि प्रदान की। उन्होंने समाज का ध्यान नये मूल्यो की ओर आकृष्ट किया। इस दृष्टि से **श्रीसुरेन्द्र नाथ बनर्जी** द्वारा सामाजिक सुधार के लिए किये गये प्रयत्न भी महत्त्वपूर्ण हैं। उन्होने भारतीय रूढिवादी समाज मे नई चेतना की लहर फैला दी और इस कार्य के लिए कई संस्थाओ की स्थापना द्वारा देश-भर मे अन्तरजातीय विवाह, मादकद्रव्य-निषेध और रात्रि-पाठशालाओं का प्रचार किया। सन् १८८५ ई० मे भारतीय कांगरेस की स्थापना से भी सामाजिक सुधारों को बल मिला और समाज की अनेक रूढियों के उन्मूलन के लिए प्रयत्न होने लगे। इन सुधारवादी आन्दोलनों के प्रेरणा के स्रोतों की ओर संकेत करते हुए **डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा** ने लिखा है :

"इन सामाजिक आन्दोलनों की प्रेरणा पश्चिम से ही आई, पर साथ में यह कहना भी ठीक है कि इन आन्दोलनों की प्रगति अँगरेजी प्रभाव के प्रसार के साथ-साथ हुई।"[2] भारतीय समाज पर आंग्ल-प्रभाव का यह एक उपकार सामने आया कि एक सर्वथा नई सामाजिक चेतना का विकास हुआ और रूढिग्रस्त परम्परा का परित्याग आवश्यक प्रतीत होने लगा था। सामाजिक परिवर्त्तन की इन्ही परिस्थितियों के मध्य सम्पूर्ण द्विवेदी-युग भी घिरा था। राजनीतिक अराजकता की ही भाँति जनजीवन में सामाजिक खोखलेपन के विरुद्ध भी आवाज उठी। उन्नीसवी शती के अन्त मे ब्रह्म-समाज एवं आर्यसमाज ने जिन क्रान्तिकारी भावनाओं तथा पुनरुत्थानवाद को जन्म दिया था, इस काल में उसे बल मिला। इसके फलस्वरूप नये-नये सामाजिक मूल्य

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'उन्नीसवीं शताब्दी', पृ० ४।

२. डॉ० रवीन्द्रसहाय वर्मा: 'हिन्दी-काव्य पर आंग्ल प्रभाव', पृ० ६६।

सामने आये। सामाजिक असमानता, जातिवर्ण-भेद, बालविवाह, विधवाओं की दुरवस्था आदि के विरुद्ध इस युग में आर्यसमाज, प्रार्थना-समाज आदि संस्थाओ के संरक्षण में सुधारपरक आन्दोलन चल रहा था। भारतीय आदर्शो तथा नैतिकता की रक्षा के साथ बुद्धिवादी समाजसुधारक-समुदाय सामाजिक-धार्मिक परिवर्त्तन लाने के लिए कार्यशील था। अन्य सामाजिक उत्थानों के साथ-ही-साथ नारियों की दशा में सुधार इस युग की एक महान् उपलब्धि है। आर्यसमाज आदि के प्रयत्न-स्वरूप जिन सामाजिक सुधारों का स्थायी प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर पड़ा, उनमे नारी-जागरण का सर्वाधिक महत्त्व है। **डॉ० लक्ष्मीनारायण गुप्त** के अनुसार :

"आर्यसमाज के प्रचार ने एक और बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया, जिसका प्रभाव साहित्य पर पड़ा। वह है नारी-जागरण का कार्य। लगभग ३०० वर्षो से १९वीं शती के अन्त तक हिन्दी-साहित्य एवं काव्य मे स्त्रियो का बड़ा हीन चित्रण किया गया था। नायिका-भेद के जाल से जकड़कर उन्हे एकमात्र उपभोग्य सामग्री वना रखा था। उनका वर्णन प्रोषितपतिका, अभिसारिका, अज्ञातयौवना, वासकसज्जा आदि के रूप मे ही मिलता था। अन्धविश्वास और रूढिवाद में उलझे हुए हिन्दू-समाज ने उन्हें पूर्णतया घर की चहारदीवारी मे बन्द कर रखा था। वे अशिक्षित थी, तिरस्कृत थीं और पति के कार्यो मे हस्तक्षेप करने एवं परामर्श देने का उन्हें अधिकार न था। आर्यसमाज ने स्त्रियों की ऐसी दशा देखकर उनका भी उद्धार किया, उन्हें अर्धांगिनी का पद दिलाया, परदा-प्रथा के गर्त्त से बाहर निकाला, उन्हे शिक्षित किया और सीता एव सावित्री का आदर्श उनके सन्मुख रखा।"[1]

नारियों के इस जागरण का प्रभाव द्विवेदीयुगीन साहित्य पर पड़ा। परम्परित नारी-शोभा की काव्यगत अभिव्यंजना के विरुद्ध स्वय **पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने भी आवाज उठाई है। इसी भाँति, अन्यान्य क्षेत्रों मे हो रहे सामाजिक सुधारों की ओर भी तत्कालीन साहित्यसेवी जागरूक थे। राष्ट्रीय चेतना का विकास करने के महान् उद्देश्य से भारतीयीकरण की सामाजिक नीति को साहित्य में भी प्राश्रय मिला। जैसे-जैसे समाज का नेतृत्व आभिजात्य वर्ग के हाथों से निकलकर उदित हो रहे मध्यम-वर्ग के हाथों में आ रहा था, देशव्यापी सामाजिक सुधारवादिता भी साहित्य में मुखरित हो रही थी।

आर्थिक परिस्थितियाँ : व्यापारी बनकर आये अँगरेजो ने जब भारत के शासन को अपने अधीन कर लिया, तब स्वतन्त्र व्यापार की आर्थिक नीति का सूत्रपात हुआ। भारत में-

---

१. डॉ० ल० ना० गुप्त : 'हिन्दी-भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन', पृ० १९२।

स्टीम-इंजन, स्टीम-पावर तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों का प्रचुर मात्रा में प्रचार हुआ, जिसका फल देश की औद्योगिक स्थिति के हित मे अच्छा नहीं हुआ। विदेशी शासक इँगलैण्ड के कल-कारखानों के लिए भारत से कच्चा माल ले जाने लगे, जिसके फलस्वरूप देश के उद्योग-धन्धे नष्ट होने लगे। उद्योग एवं व्यापारिक क्षेत्रों के साथ ही इस देश की कृषि पर भी अँगरेजों के आर्थिक षड्यन्त्र का प्रभाव पड़ा। उद्योगो के नष्ट हो जाने पर बेकार कारीगर खेतों की ओर लौट गये, फलस्वरूप कृषि पर जनसंख्या का भार अधिक हो गया। अतः, कृषि का उत्पादन जनसख्या के भार एवं पुराने कृषि-साधनो के कारण कम हो गया। इसी अवधि में देश के कई भागों में अकाल की भीषणता भी रंग लाई, जिससे जनसाधारण की आर्थिक स्थिति डावाँडोल हो गई। साथ ही, विदेशी व्यापार तथा अन्य कई सूत्रों से भारत का धन ब्रिटेन जा रहा था। देश के धन का निर्यात तथा उसका संचय अँगरेजों ने जिस निर्दय शोपण-वृति द्वारा किया, उसने तो भारत की आर्थिक कमर ही तोड़ डाली। अँगरेजों की करसंग्रह-पद्धति की तुलना एक ऐसे स्पंज से की जा सकती है, जो गगातट से सब अच्छी चीजों को चूसकर टैक्स-तट पर ला निचोड़ती थी। कुल मिलाकर, भारत में अँगरेजी-शासन की कहानी शोषण, धनलोलुपता आदि की कहानी है। भारतेन्दु-युग से ही देश की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई थी। अपने 'भारत-दुर्दशा' नाटक मे भारतेन्दु ने भारत-दुर्दैव के मुँह से अँगरेजों की आर्थिक नीति को उद्बोध करवाया है :

मरी बुलाऊँ देश उजाड़ूँ, मँहगा करके अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न ॥[१]

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भारत की आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्त्तन नही आया था। **डॉ० परशुराम शुक्ल विरही** ने लिखा है :

"द्विवेदीयुगीन भारत की आर्थिक दशा भारतेन्दुयुगीन भारत से कुछ विशेप अच्छी नही थी। इसीलिए, 'ये धन विदेश चलि जात' की जो 'अतिख्वारी' भारतेन्दु को थी, वही क्षोभ द्विवेदी-युग के कवियों को भी था। भारत की आर्थिक दशा के डावाँडोल होने का वास्तविक कारण यही था कि विदेशी वस्तुओं से भारत का बाजार पाट दिया गया था और एतद्देशीय उद्योग-धन्धे नष्ट कर दिये गये थे।"[२]

प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने के पूर्व भारत की आर्थिक एवं औद्योगिक स्थिति परवर्त्ती काल की तुलना में कुछ अच्छी थी। विश्वयुद्ध-काल में विदेशों में स्थित भारतीय

---

१. श्रीव्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली', भाग १, पृ० ४०२।

२. डॉ० परशुराम शुक्ल विरही : 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद', पृ० ९९-१००।

सेना का पूरा व्ययभार देश पर आ पड़ा। सैनिक व्यय के बढ़ने तथा उसके फलस्वरूप करों के बढने से भारत की आर्थिक दशा दयनीय हो गई। **डॉ० रामचन्द्र मिश्र** ने तत्कालीन आर्थिक स्थिति का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है :

"देश की आर्थिक प्रगति पूर्ववत् ही असन्तोषजनक थी। अकाल और भुखमरी से देश बड़ा पीड़ित और जर्जरित था। कृषकों एवं कारीगरों की दशा दिनानुदिन शोचनीय हो रही थी। अँगरेजी-सरकार स्वार्थप्रधान थी। इससे उनके द्वारा सहृदयता-पूर्वक देश की दीन-हीन दशा को सुधारने का प्रयास किया ही नही गया।"[1] बीसवीं शती के प्रारम्भ के उपरान्त भारत की आर्थिक स्थिति में जो दयनीयता छाई रही, उसके फलस्वरूप देश के नवजागरित समाज मे कई नई चेतनाओं ने जन्म लिया। एक ओर गाँवों की निश्चिन्तता एवं कृषिप्रधान ग्रामीण सभ्यता का उत्तरोत्तर विनाश होता गया, तो दूसरी ओर उद्योगों तथा व्यवसाय के पश्चिमोन्मुखी वैज्ञानिक विकास के कारण नागरिक सभ्यता का विकास हुआ। नगरो मे ब्रिटिशो की शोषणपूर्ण आर्थिक नीति का विरोध भी स्वदेशी-आन्दोलन के रूप मे प्रारम्भ हुआ। इस स्वदेशीवाले नारे को **भारतेन्दु** ने ही अपने युग में वाणी दी थी, परन्तु सबसे पहले सन् १९०३ ई० में ही इसे कार्यान्वित किया जा सका। साहित्यकारों ने भी स्वदेशी-आन्दोलन एवं आर्थिक शोषण को अपनी रचनाओं मे अभिव्यक्ति दी। इस प्रकार, द्विवेदी-युग में भारतीय जनता एवं उसके साहित्य मे अपनी दरिद्रता एवं विदेशी शोपण से निवृत्ति पाने की चेतना जगी।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ . धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में द्विवेदी-युग अपने पूर्ववर्त्ती युग से भिन्न नही था। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में जिन सास्कृतिक आन्दोलनो ने जन्म लिया था, उन्ही की विचारधाराएँ इस युग में भी विकासशील रहीं। अनेक सामाजिक कुरीतियो एवं अराजकता का जो हस्तिदल भारतेन्दुयुगीन समाज को कुचल रहा था, वही धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओ के कदलीवन में भी घुस पड़ा था। सामाजिक एवं . सम्बन्ध यह था कि अधिकाश सामाजिक कुरीतियाँ धर्म की आड़ में जीवित थीं। इस कारण तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति अनाचारो एवं अन्धविश्वासों से ओतप्रोत हो गई थी। हिन्दू-धर्म की धार्मिक अवनति पर मुसलमानो के इस्लाम-प्रचार एवं अँगरेजों के ईसाई धर्म-प्रचार का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। परन्तु, इसी काल मे भारतीय जनता ने सांस्कृतिक पुनर्जागरण की दिशा में भी प्रयास प्रारम्भ

१. डॉ० रामचन्द्र मिश्र : 'श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व-स्वच्छन्दतावादी काव्य' पृ० ६३।

किये। इस कार्य के लिए बहुतेरे आन्दोलन हुए और कई संस्थाओं का जन्म हुआ। इस कर्म मे **स्वामी दयानन्द** द्वारा संस्थापित आर्यसमाज (सन् १८७५ ई०) का सर्वाधिक महत्त्व माना जा सकता है। आर्यसमाज की स्थापना के पूर्व हिन्दू-समाज मुख्य रूप से दो वर्गों में विभक्त हो चुका था। एक वर्ग हिन्दू-पुराणशास्त्र एवं अन्यान्य धार्मिक ग्रन्थों का अन्धभक्त था और जो वर्त्तमान युग की परिवर्त्तनशील परिस्थितियों के प्रति अनासक्त था। दूसरा वर्ग पाश्चात्त्य सभ्यता के सागर में गोते लगाकर इस परिणाम पर पहुँच चुका था कि हमारी प्राचीन सामाजिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियाँ एवं रीतियाँ सड़ गई है और इनमे आमूल परिवर्त्तन करने से ही देश का स्वास्थ्य ठीक रह सकता है। रूढिवादी और परामपराभक्तों के बीच नवीन एवं प्राचीन का समन्वय स्थापित करने का किंचित् प्रयत्न आर्यसमाज ने किया। आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य भारत का सांस्कृतिक अभ्युत्थान था एव उसका आधार वैदिक था। वैदिक संस्कृति तथा प्रकारान्तर से भारत के स्वर्णिम अतीत का गुणगान कर आर्यसमाज ने भारतीय सांस्कृतिक चेतना को एक नया मोड़ दिया। दूसरी ओर आंशिक पाश्चात्त्य प्रभाव के कारण ब्रह्मसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं ने भी अस्पृश्यता एवं धार्मिक विभेद की रेखा मिटाकर, एक सूत्र मे सम्पूर्ण देश को बाँधकर यहाँ की सांस्कृतिक एकता को संस्थापित करने का प्रयत्न किया। सांस्कृतिक ऐक्य एवं राष्ट्रीयता की यह लहर मुख्य रूप से हिन्दू-धार्मिकता से आक्रान्त थी। भारत में धार्मिक एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के इस काल में ब्रिटिश-शासन के प्रभाव-स्वरूप पाश्चात्त्य संस्कृति का भी गहरा प्रभाव जनजीवन पर पड़ रहा था। द्विवेदी-युगीन भारतीय समाज पर पड़े पाश्चात्त्य प्रभाव की चर्चा करते हुए **डॉ० उर्मिला गुप्ता** ने लिखा है :

"प्राचीन अन्धविश्वासी दृष्टिकोण समाप्त हो गया तथा भारतवासियों के रहन-सहन और वेश-भूषा में परिवर्त्तन आ गया। इस युग मे प्राचीन मान्यताएँ ही समाप्त हो रही थी, परन्तु नवीन मान्यताओं को जनता पूरी तरह अपना नही पा रही थी, इसलिए संस्कृति में एक प्रकार की अव्यवस्था-सी फैली हुई थी।"[१]

इस सांस्कृतिक विशृंखलता के बीच आर्यसमाज आदि द्वारा भारत के गौरवमय अतीत के गुणगान का जो शंखनाद किया गया, उससे इस देश की सांस्कृतिक चेतना एवं साहित्यिक गतिविधि को एक स्पष्ट मार्ग दीख पड़ा। यह मार्ग था अतीत के आधार पर राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना को पनपाने का। द्विवेदी-युग के सभी

---

१. डॉ० उर्मिला गुप्ता : 'हिन्दी-कथासाहित्य के विकास में महिलाओं का योग', पृ० १९।

साहित्यकार, चित्रकार आदि बुद्धिजीवी इसी कारण भारतीय अतीत गौरव की अभिव्यक्ति प्रदान करने मे लीन रहे। सांस्कृतिक अतीतावलोकन के साथ भारतीय जनमानस एवं साहित्य के अन्तःसम्बन्धों की चर्चा करते हुए **डॉ० केसरीनारायण शुक्ल** ने लिखा है :

"द्विवेदी-युग में जनता का ध्यान हिन्दू-संस्कृति और उसके निदर्शक पूर्वजो की ओर गया। जनता का यह राष्ट्रीय और जातीय जागरण द्विवेदी-युग के साहित्य में प्रतिबिम्बित है। जनता की भावनाएँ काव्य में झलक रही है। जनता की मनोभावना के समान कवि की मनोदृष्टि भी अतीत की ओर लगी हुई है। कवि अतीत के गीत गा रहे है और हिन्दू-संस्कृति के उच्चतम प्रतीक और व्यक्तित्वो की ओर संकेत कर रहे है। इस प्रकार, जन-मन के समान काव्य भी अतीत और हिन्दुत्व से ओतप्रोत है।"[१]

हिन्दुत्व के परिष्कृत रूप का प्रस्तुतीकरण तथा भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों की अभिव्यक्ति के क्रम मे द्विवेदीयुगीन साहित्य, मुख्य रूप से कविता, का स्वरूप आदर्शवादी एवं इतिवृत्तात्मक हो गया है। परन्तु, सांस्कृतिक धरातल पर हिन्दुत्व को शीर्षस्थान दिलाने के लिए इतिवृत्तात्मकता अनिवार्य थी और इसी कारण उपदेशात्मकता तथा आदर्शवादिता भी द्विवेदीयुगीन काव्य मे सर्वत्र उपलब्ध है। इस सन्दर्भ में **डॉ० परशुराम शुक्ल विरही** ने पश्चिमी विद्वानों के योग को भी महत्त्वपूर्ण माना है :

'द्विवेदी-युग के काव्य में सांस्कृतिक पुनरुत्थान और अतीत गौरवगाथा की जो प्रवृत्ति परिलक्षित होती है, उसके मूल में भी अँगरेजी का प्रभाव ही विद्यमान है। मैक्समूलर, कोलब्रुक, विलियम जोन्स आदि पाश्चात्त्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य और प्राचीन भारतीय साहित्य के सम्बन्ध मे अपनी जो शोधें प्रस्तुत की, उनसे एतद्देशीय विद्वान् लाभान्वित हुए और अपनी प्राचीन संस्कृति एवं साहित्य के प्रति उनकी गौरव-भावना जागरित हुई। इसी प्रकार गेटे, शेली आदि यूरोपीय कवियों ने भारत के उपनिषदों और कालिदास आदि संस्कृत के महाकवियों की जो महत्त्व-घोषणा की, उससे प्रभावित भारतीय साहित्यकारों ने भी अपने देश के गौरवशाली अतीत को सम्मान की अंजलि दी।"[२]

---

१. डॉ० केसरीनारायण शुक्ल : 'आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत', पृ० १३८-१३९।

२. डॉ० परशुराम शुक्ल विरही : 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद', पृ० १०६।

इस प्रकार, आर्यसमाज के हिन्दुत्वप्रधान प्रचारात्मक आन्दोलन एवं पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा की गई, भारत के प्राचीन साहित्य की प्रशंसा ने भारतीय जनमानस एवं तद्युगीन साहित्य में सांस्कृतिक चेतना की एक अपूर्व लहर दौड़ा दी। सर्वत्र निजी गौरव-भावना ने प्रसार पाया और स्वर्णिम अतीत की भाँति वर्त्तमान और भविष्य को सँवारने तथा समुज्ज्वल बनाने की दिशा मे लोग सचेष्ट हुए। द्विवेदीयुगीन सांस्कृतिक परिस्थिति को हम अपने-आप में विविध प्रभावों के कारण विशृंखलित होते हुए भी अतीतोन्मुखी एव पुनरुत्थानवादी कह सकते है।

साहित्यिक पृष्ठभूमि तथा उसका द्विवेदीयुगीन प्रतिफलन :

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे प्राचीन और नवीन विचारधाराओं का जो संघर्ष सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्तर पर चल रहा था, उसका प्रभाव तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों पर भी पड़ा। फलतः, उस समय साहित्यसेवियों में रीति-भक्तिकालीन परम्परावादी तथा नवीन विचारभूमि पर विचरण करनेवाले परम्परामुक्त जैसे स्पष्ट ही दो दल हो गये थे। उन दोनों दलों की मूलभूत विशेषताओं को समन्वित कर हिन्दी में समर्थ साहित्यधारा प्रवाहित करनेवाले युगनिर्माता के रूप मे **भारतेन्दु हरिचन्द्र** ने एक जागरूक साहित्यकार के सारे गुणों को आत्मसात् किया। **डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय** ने लिखा है :

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दो ऐतिहासिक युगों के सन्धिस्थल पर खड़े थे, इसलिए उनका ध्यान प्राचीन और नवीन दोनो की ओर गया। उन्होंने न तो प्राचीन की उपेक्षा की ओर न उसके मोह में बँधे। साथ ही, उन्होंने न तो नवीन का अन्धानुकरण किया और न उससे आशंकित ही रहे। उन्होने जो कुछ देखा,आँखें खोलकर देखा और उनकी साहित्यिक प्रतिभा ने मणिकांचन-संयोग उपस्थित किया।"[1]

भारतेन्दु की निजी सर्वतोमुखी प्रतिभा से आलोकित होते हुए भी हिन्दी-साहित्य कई दृष्टियो से अराजकता की स्थिति से उस समय गुजर रहा था। इस युग में साहित्योचित विषय एवं शैली को लेकर जो वैषम्य था, उससे कहीं अधिक प्रबल विवाद भाषा-विषयक था। **श्री सिद्धिनाथ तिवारी** ने उस समय की दशा की चर्चा इन शब्दों में की है :

"१९वीं शताब्दी का गोष्ठी-साहित्य समुचित मनोवृत्ति लिये भाषा, भाव और नियम और विधान में कुछ आदर्श नहीं रख सका। उर्दू, बँगला, मराठी आदि प्रदेशों के हिन्दी-भाषाभाषी अपने-अपने स्थानीय साँचे में ही हिन्दी को ढालने का प्रयत्न कर रहे थे। नये लेखकों द्वारा व्याकरण की अवहेलना कम नहीं थी। इनके

१. डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : 'हिन्दी-साहित्यकोश', भाग २, पृ० ३८३।

अतिरिक्त शब्दों का भण्डार भी रिक्त ही था।....हिन्दी के पास न कोई अपना इतिहास था, न कोश, न व्याकरण...साहित्य का खजाना खाली पड़ा था।"[१]

साहित्य-क्षेत्र में फैले अभाव एवं अराजकता के इस युग में गद्य एवं पद्य दोनों ही क्षेत्रों में समान विश्रृंखलता थी। उर्दू, व्रजभाषा एवं अँगरेजी के साथ संघर्षरत हिन्दी का उस समय तक कोई निर्धारित स्तर नही बन पाया था। फिर भी, युगीन परिस्थितियों एवं निजी प्रतिभा के सहारे भारतेन्दु ने स्थिति को अपनी छत्रच्छाया में विशेष बिगड़ने नही दिया। तद्युगीन शिक्षा एवं उसके प्रभाव से परिवर्त्तित हो रहे जनमानस ने हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल का प्रारम्भ होने में भरपूर सहयोग दिया। परन्तु, भारतेन्दु के अवसान से द्विवेदी-युग के शुरू होने तक हिन्दी-साहित्य को अवैचारिक शून्यता तथा नेताविहीन मनोदशा के दलदल में फँस जाना पड़ा। तत्कालीन परिस्थिति को **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** ने इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है :

"द्विवेदी-भास्कर के उदित होने के पूर्व एवं भारतेन्दु के अस्त होने के पश्चात् १५-१६ वर्ष का समय हिन्दी-भाषा का अराजकता-काल था। सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलनों एवं परिस्थितियों से देश में जो जनचेतना उद्भूत हुई थी, उसकी प्रक्रिया-स्वरूप हिन्दी-साहित्य में द्रुतगति से सृजन-कार्य प्रारम्भ हुआ था। उस समय 'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई' वाली कहावत भाषा के क्षेत्र में पूर्णतः चरितार्थ हो रही थी। शासक-विहीन राज्य की उच्छृंखलता, स्वेच्छाचारिता, अव्यवस्था तथा अस्थिरता का बोलबाला था। शब्दों का अकाल, व्याकरण के नियमों की शिथिलता, नेतृत्वहीनताजन्य सन्निपात-बकवास एवं हिन्दी-उर्दू-संघर्ष—ये चार बड़ी समस्याएँ थी। इनमें से प्रथम दो का सम्बन्ध भाषा के अन्तरंगपन से है तथा अन्तिम दो का सम्बन्ध वाह्य परिस्थितियों से।"[२]

(क) उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशक :

पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-प्रदीप' के तीसरे अंक (१ नवम्बर, १८७७ ई०) में प्रकाशित 'भारत-जननी और इँगलैण्डेश्वरी का संवाद' भारतेन्दु-युग की मनोवृत्ति और भावबोध पर प्रभूत प्रकाश डालता है। इँगलैण्डेश्वरी से असभ्य और दासी

१. श्रीसिद्धिनाथ तिवारी : द्विवेदीजी की देन', 'ज्योत्स्ना', दिसम्बर, १९५३ ई०, पृ० १३।

२. डॉ० शंकरदयाल चौऋषि : द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन', पृ० ४५०।

कही जाने पर भारत-जननी चौक उठती है और इस बात की उद्घोषणा करती है कि भारतवर्ष कभी गुरुओ का गुरु, उस्तादों का उस्ताद, 'मुअल्लिमों का मुअल्लिम' और राजाधिराजो का राजाधिराज था। उसकी सभ्यता का प्रकाश और उसका नाम सभी दिशाओं मे उस समय उजागर था, जब इँगलैण्ड का कही नाम-निशान और पता भी न था। "मिसिर, यूनान और क्याल्डिया ने किसके कारण सेवा कर बुद्धि और विद्या पाई...ज्योतिषशास्त्र, अगविद्या, पदार्थविद्या, वैद्यविद्या, कला-कौशल, कविता और दर्शनों का केन्द्रस्थान कौन था, बहुमूल्य रत्नो की खान से रत्नगर्भा यह वसुधा का नाम किसके कारण से हुआ, यह हीरा जो तुम्हारी मुकुट में चमक रहा है, इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई, कहाँ तुम्हारा ध्यान है, छोटे मुँह बड़ी बात, तनिक होश की दवा करो ना।" १ इस संवाद के लेखक का स्वर भारतेन्दु-युग का प्रतिनिधि स्वर है, इस युग के लेखक इस बात के लिए सदैव प्रयत्नशील है कि भारत अपने प्राचीन वैभव और अपनी गरिमामयी परम्पराओं को विस्मृत न करे। एकता के अटूट सूत्र मे परस्पर बँधा मानव देश को गौरव के शिखर पर आरूढ करे और इँगलैण्ड के 'मायावी पुत्रो' से इसको मुक्ति दिलाये।

इस अंक में किसी ग्रन्थ की न तो व्यावहारिक आलोचना मिलती है और न किसी प्रकार का सिद्धान्त-प्रतिपादन ही। परन्तु, निबन्धों के चयन मे सम्पादक की भावयित्री प्रतिभा का अच्छा प्रकाशन हुआ है और इन निबन्धों मे (जिनमे कुछ अनुवाद भी सम्मिलित है) उसके मन्तव्य में सन्देह नहीं रह जाता। 'ललित भाषा छन्दों में' किया गया 'मेघदूत' का अनुवाद और 'वाल्मीकिरामायण' का हिन्दी-रूपान्तर, दोनों इस बात की घोषणा करते है कि इस युग के लेखक, सम्पादक और कवि हिन्दी-साहित्य के विकास को अपना पुनीत लक्ष्य बना चुके हैं और वे चाहते हैं कि हिन्दी-साहित्य ही समृद्ध न हो, प्रत्युत हिन्दी की तकनीकी शब्दावली भी यथाशीघ्र संवर्द्धित हो जाय। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर 'हिन्दी-प्रदीप' (नवम्बर, १८७७ ई०) ने 'वायु का वर्णन' और 'ऐंग्लो वर्न्याक्लर' शीर्षक निबन्ध (जिसमें पश्चिमोत्तर देश की सरकार की शिक्षा-नीति की आलोचना की गई है) प्रकाशित किया था। 'हिन्दी-प्रदीप' के दिसम्बर, १८७७ ई० वाले अंक में प्रकाशित 'भोजनपदार्थ' और इसी अंक में प्रकाशित 'हवा का बोझ' आदि सैकड़ों निबन्ध केवल रोचकता की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नही हैं, वे तद्युगीन सम्पादकीय मनोवृत्ति को भी प्रकाशित करते है और इस बात की सूचना देते हैं कि खड़ी बोली की नींव सुदृढ हो चली है और नये-नये पारिभाषिक शब्दों का आयात शुरू हो गया है। हिन्दी की आधुनिक आलोचना का विकास ऐसी ही नींव पर सम्भव था। पं० बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु प्रभृति ने भावसम्प्रेषण के माध्यम को

१. हिन्दी-प्रदीप (जिल्द १, संख्या ३, सन् १८७७ ई०), पृ० २।

सशक्त बनाकर हिन्दी-आलोचना के विकास के लिए जो राजमार्ग बनाया, वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। 'हिन्दी-प्रदीप' का युग हिन्दी-पत्रकारिता का, हिन्दी-गद्य के विकास का और आधुनिक हिन्दी-आलोचना के आविर्भाव का ऐतिहासिक युग था। इस युग के निबन्धों में प्रचुर आलोचनात्मक सामग्री भी मिलती है, जिसकी ओर शायद ही किसी आलोचक ने ध्यान दिया है। अप्रैल, १८७८ ई० में 'हिन्दी-प्रदीप' में प्रकाशित 'वेद' शीर्षक निबन्ध भले ही आलोचनात्मक परिपक्वता से रहित हो, पर इसे हम परिचयात्मक आलोचना की श्रेणी में परिगणित करने में संकोच करेंगे। इस निबन्ध में 'वेद' शब्द की उत्पत्ति से वेदों के प्रतिपाद्य तक का उल्लेख है और यह बतलाया गया है कि मन्त्र और ब्राह्मण क्या हैं। इसी प्रकार, संहिता और मीमांसा आदि की भी चर्चा हुई है और यह कहा गया है कि वेद नित्य और अपौरुषेय है। इसी अंक (अप्रैल, १८७८ ई०) में 'देशी भाषाओं के पत्रों के विषय के कानून की समालोचना' भी प्रकाशित है, जो साहित्यिक महत्त्व नही रखती।

इसमें सन्देह नहीं कि आलोचना का विकास गद्य के विकास और माध्यम की परिपक्वता पर भी आधृत होता है। इसलिए इँगलैण्ड में भी जब नवजागरण-युगीन आलोचकों ने इतालवी एवं अभिजात आलोचकों से प्रेरणा लेकर अँगरेजी-आलोचना का सूत्रपात किया, तब उन्होंने भी इस बात की घोषणा की कि आलोचना की भाषा नार्मन फ्रेंच और लैटिन न होकर स्वदेशी अँगरेजी ही हो। **सिडनी, स्पेन्सर, मल्कास्टर, पटनम** प्रभृति ने इसी तथ्य पर बल दिया कि इँगलैण्ड की भाषा—सर्जनात्मक साहित्य की भाषा—न तो फ्राँसीसी हो सकती है और न लैटिन। किसी भी देश की सर्जनात्मक ऊर्जा सहज अभिव्यक्ति के लिए स्वदेशी भूमिका की अपेक्षा करती है। शीर्ष कोटि के काव्य-बीज स्वदेश की सहज प्रशस्त एवं उर्वरा भूमि में ही अंकुरित एवं पल्लवित हो सकते हैं। मल्कास्टर सरीखे देशभक्त लेखकों ने भाषा-विषयक जिस नीति की घोषणा की, उसके परिणामस्वरूप अँगरेजी को अन्य यूरोपीय भाषाओं से नये-नये शब्द उपलब्ध हुए और आलोचनागत विश्लेषण एवं सैद्धान्तिक प्रतिपादनों के लिए अँगरेजी उपयुक्त माध्यम बनी। इसी प्रकार, भारतेन्दु-युग ने हिन्दी-आलोचना के आविर्भाव-काल मे भाषा की समस्या पर समधिक बल दिया और बार-बार इस बात की घोषणा की कि देश की सर्वतोमुखी उन्नति हिन्दी के विकास और प्रौढि के साथ सम्पृक्त है। 'सारसुधानिधि' के प्रथम अंक में भाषा को उन्नति का प्रधान आकर कहा गया है और बताया गया है कि यदि हम इसे आत्मा की दूती कहें, तो भी इसमें अत्युक्ति नहीं होगी। बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से 'साहित्य' शीर्षक निबन्ध में कहा गया है कि भाषा के अरसज्ञ आधुनिक शिक्षित मनुष्य भाषा का इतना अधिक

आदर करते हैं, जो अपनी मातृभाषा भी भूल जाते हैं।[१] इन महात्माओं की बोलचाल एक नये प्रकार की अत्यन्त अद्भुत बोली होती है, जिसे हम 'अँगरेजी-पारसी-मिश्रित चितकबरी' भाषा कह सकते है।[२]

अक्टूबर, १८८४ ई० मे **श्रीधर पाठक** ने एक गजल लिखी थी, जो इस प्रकार है :

'हिन्दी का अब तो कोई कदरदाँ रहा नहीं।
वाइस यही है उसका सुनवा जरा नहीं ॥१॥
कायम हैं जितने मुल्क में पढ़ते हैं फारसी।
हिन्दी का नाम लेना भी उनको रवा नहीं ॥२॥
शास्तर के रटनेवालों को हिन्दी से काम क्या।
भाषा की पोथी पढ़ने से बनना गधा नहीं ॥३॥
... ...
अंग्रेजी पढ़े बाबू को हिन्दी से क्या गरज।
इंगलिश के बरोबर तो किसी में मजा नहीं ॥६॥
सरकार में नहीं है जब इसकी कदर कहीं।
ऐ यारो हिन्दी का पढ़ना वजा नहीं ॥७॥[३]

उसी वर्ष 'भारतेन्दु' में 'हिन्दी' शीर्षक कितनी ही टिप्पणियाँ पढने को मिलती हैं।[४] एक टिप्पणी सरकार की आलोचना करती हुई पूछती है : 'सरकार कचहरियों में हिन्दी क्यों नहीं जारी करती ? सुना है कि सरकार हिन्दी को असभ्य भाषा समझती है। क्यों न हो ? जिसमें व्याकरण, काव्य कोश, न्याय, वेदान्त, साहित्य, सांख्य, पातंजल, वेद-उपवेद, पुराण, इतिहास, वैद्यक, ज्योतिष, चतुष्षष्टि कला आदि की पुस्तकें एक हजार वर्ष से भी प्राचीन हों, वह परम असभ्य है। जो हिन्दी आधे से अधिक भारतवर्ष भर में व्याप्त हो, जिसे दस बारह कोटि मनुष्य बोलते हों, वह महान् अप्रसभ्य है।[५] तद्युगीन पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे अनगिनत स्थल मिलेंगे, जहाँ लेखकों ने हिन्दी के प्रचार के लिए आग्रह किया है और सरकारी

---

१. सारसुधानिधि, १३ जनवरी, १८७९ ई०, पृ० ९।

२. उपरिवत्।

३. उपरिवत्, अक्टूबर, १८८४ ई०, जिल्द ८, नं० २, सं० १९४१।

४. भारतेन्दु पुस्तक १, अंक ए, १८ अगस्त, १८८३ ई०, पृ० ७४ :
"पुकारो हिन्दी ! हिन्दी ! हिन्दी ! बोलो प्रेम से (और) हिन्दी ! हिन्दी ! हिन्दी !
फिर जोर से, हिन्दी ! हिन्दी ! हिन्दी !
हिन्दी ! हिन्दी ! करते रहो जब लगि घट में प्राण।
कबहूँ तो दीनदयाल के भनक परेगी कान ॥"

५. भारतेन्दु, १० मई, १८८४ ई०, पुस्तक २, अंक २, पृ० २०।

नीति की आलोचना की है।[१] इसी प्रकार, उस युग की रचनाओं के अनुशीलन से इस बात का पता चलता है कि उनके रचयिता 'नई रोशनी के विष' से अपने पाठकों को यथासाध्य बचाने की चेष्टा करते थे और वे जानते थे कि 'हमारी हजारों वर्ष से प्रचलित श्रेणीबद्ध रीति-नीति इस अँगरेजी-शिक्षा के प्रभाव से उखड़ी जाती है।'[२] उन्हें समसामयिक नवयुवकों का कोट-बूट और चक्करदार टोपी पहनना और उससे ही अपनी शोभा समझना अप्रिय लगता था। वे नहीं चाहते थे कि लोग 'अपने देश की सनातन रीतों' को बुरा कहे, नाम के आगे 'मिस्टर' शब्द का लगाना प्रतिष्ठा का हेतु मानें, कमिटियों और सभाओं में अकड़-अकड़ कर लेक्चर पढ़ें, देश में बनी बढिया-से-बढ़िया चीजों को देख घिनायें और विदेशी चीजों के लिए एक का छह दाम देकर भी सम्पूर्ण फैशन की नाक उसी को जानें।'[३] 'श्रीमदंग्रेजदेव महा महा पुराण' का लेखक सूटजी को अपना प्रवक्ता बनाकर कहता है :[४]

प्रात नाम अंग्रेज उचारे। अच्छा भोजन तुरतहि पावे।
जो अंग्रेज मुख दर्शन करे। त्रिविध ताप ताके हरि हरे।
जो अंग्रेज करहि सम्बादा। ताके बेगहि मिटैं विषादा।
जो अंग्रेज पद धूलि परै। तुरतहि भवसागर को तरै।
जो अंग्रेज प्रसादहि पावै। सो बैकुण्ठ धाम को जावै।
जो अंग्रेज को डाली देवे। सो ट्रेजरी की लाली लेवे।
जो अंग्रेज की गाली खाय। कभी न किसमत खाली जाय।...

---

१. "हुआ कोई नहीं हिन्दी का मददगार कभी।
जबाँ उर्दू का अब रुतवा बड़ा इतना अफसोस।
वो पायेगी अदालत से भला फिटकार कभी॥
रहा है फैल उर्दू का यहाँ वह जोर औ शोर।
सुनेगी हिन्दी की फर्याद क्यों सरकार कभी॥
गये हैं भूल हिन्दू भी जबाँ अपनी को खास।
उर्दू करती है अदालत में हजारो गल्ती।
तो भी घटता वहाँ उसका जरा इतबार नहीं।...
—भारतेन्दु, पुस्तक २, अंक ६, ७, ८, सन् १८८४ ई०, पृ० १०७ (हिन्दी की हालत), पृ० १०८।

२. हिन्दी-प्रदीप, १ सितम्बर, १८७८ ई०, पृ० ८।

३. उपरिवत्, १ फरवरी, १८७९ ई०, पृ० १३।

४. भारतेन्दु, पुस्तक २, अंक ३, ८ जून, १८८४ ई०, पृ० ४६ से 'श्रीमदंग्रेजदेव महा-महापुराण' की कथा का पुनः आरम्भ, पृ० ४९।

हिन्दी में ऐसा व्यंग्य भारतेन्दु-युग में ही सम्भव था। ऐसा लगता है कि उस युग के साथ ही हिन्दी की यह सप्राण व्यंग्य-परम्परा लुप्त हो गई है।

भारतेन्दु-युगीन आलोचना के स्वरूप को अच्छी तरह विश्लेषित करने के पूर्व इस परिवेश और इसमें प्रवाहित होनेवाली विचारधाराओ का सम्यक् ज्ञान अपेक्षित है। ध्यातव्य है कि युग-विशेष की वैचारिक एवं दार्शनिक प्रवृत्तियाँ तथा आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्यालोचन को भी प्रभावित करती हैं। आलोचक अपने परिवेश से पूर्णतया पृथक् और आद्यन्त वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकता। अन्य मनुष्यों की तरह भी सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित और अपनी प्रतिक्रियाओं से परिचालित होता है। फ्रान्सीसी आलोचक **टेन** (TAINE) ने प्रत्येक कलाकृति को कलाकार के युग, जाति और परिवेश से प्रभावित कहा, जो सर्वथा समीचीन है। समीक्षा के क्षेत्र में पूर्ण वस्तुनिष्ठता विरल है।

भारतेन्दु-युग की उत्कट देशभक्ति और हिन्दी-भाषाप्रेम हिन्दी-आलोचना में भी जीवन्त अभिव्यंजना पा सका है और इस आलोचना के नीतिमूलक स्वर में प्रतिध्वनि है। इस युग की आलोचना का नैतिक होना उतना ही स्वाभाविक है, जितना उस सम्पूर्ण युग का प्रगाढ देशप्रेम से ओतप्रोत होना। देश में जब 'नई रोशनी का विष' व्याप्त हो रहा हो, जब 'बीबी उरदू' नाजनीन बन रही हो और हिन्दी 'करम का फुटहा' बन गई हो"[1] जब विलायत के जुलाहे देश के शोषण में अनवरत लगे हों और देशभाषा के अखबारों के एडीटर 'महापापी'[2] घोषित हो गये हों, तब देशभाषा में लिखनेवाले आलोचक अपने पाठकों की नीति और उपदेश से भरी हुई आलोचनाएँ देंगे ही। यही कारण है कि इस युग की परिचयात्मक अलोचनाएँ भी मूलत. उन्हीं बातों का उल्लेख करती है, जिनसे पाठकों को शिक्षा मिले। परिचय का केन्द्र शिक्षा बन जाती है, उपदेश हो जाता है। अपक्व एवं रोमाण्टिक प्रतिक्रियाओं के सहज उच्छलन-मात्र से भारतेन्दु-युग की समीक्षा का निर्माण नहीं होता। **श्रीराधाचरण गोस्वामी** ने लिखा था: "वंगभाषा में 'भारतमाता' और 'भारते यवन' यह दो रूपक हैं। 'भारतमाता' का 'भारत-जननी' के नाम से कुछ अंश 'हरिश्चन्द्रचन्द्रिका' और 'कविवचनसुधा' में प्रकाशित हो चुका है। 'भारते यवन' का अब मैंने अनुवाद किया है। अनुवाद के सुन्दर होने की मुझे नेक भी आशा नहीं है; क्योंकि अपनी बुद्धि का मुझे भली भाँति अनुभव है, पर इसके पढ़ने से देशवासियों को लज्जा होगी, यह मैं अवश्य कह सकता हूँ...।"[3] वंगभाषा में 'भारतमाता' और 'भारते यवन' का लिखा जाना युग की प्रवृत्तियों को देखते हुए,

१. हिन्दी-प्रदीप, सितम्बर, १८७९ ई०, पृ० ६।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्, १ मार्च, १८७८ ई०, पृ० २।

सहज स्वाभाविक घटना है। इसी प्रकार गोस्वामीजी द्वारा 'भारते यवन' का अनुवाद भी अत्यन्त स्वाभाविक दीखता है। उनकी शालीनता के मूल में भी देशभक्ति ही है और उनके इस भय से कि उनके अनुवाद से देशवासियों को लज्जा होगी, उनका देशप्रेम उद्भासित होता है। परन्तु, विज्ञापन और 'पुस्तक-स्वीकृति' या 'पुस्तक-स्वीकार' अलोचना की कोटि में परिगणित न होंगे। इनमें कुछ, ऐसे भी 'पुस्तक-स्वीकार' अवश्य मिलते है, जिनसे भारतेन्दु-युग की भाषागत मनोवृत्ति का उपयोगी परिचय मिलता है। उदाहरणार्थ, प्रस्तुत 'पुस्तक-स्वीकार' केवल विज्ञापन नही है : "हम अत्यन्त धन्यवादपूर्वक श्रीहृषीकेश भट्टाचार्य महोदय रचित कवितावली नामक पुस्तक स्वीकार करते है, इसमें १८ पृथक् २ विषयों पर भट्टाचार्य महाशय की कविता और पाण्डित्य का उदाहरण दिया गया है, इसका मूल्य केवल ४ आना है। सस्कृत, विशेष कर काव्य-रसिकों को यह ग्रन्थ बहुत ही मनोरंजक है। इसकी बहुत-सी कविता अँगरेजी-कविता से अनुवाद की गई है। हमको इस बात का विशेष हर्ष है, जो नूतन प्रणाली के संस्कृत विद्वानो ने इस बात की ओर मन दिया कि विदेशी भाषाओं मे जो कुछ चातुरी हो, उसका भी रसाकर्षण कर संस्कृत में कर लें...।"[१] इसमें 'मनोरंजक' 'काव्य-रसिक', 'नूतन प्रणाली', 'रसाकर्षण' आदि शब्द विशुद्ध साहित्यिक आलोचना के शब्द है। धीरे-धीरे इन्ही शब्दों से हिन्दी के उस आलोचना-प्रासाद का निर्माण होता है, जो हमारे देश की अनुपम विभूति है।

जनवरी, १८८० ई० में 'हिन्दी-प्रदीप' का 'नाटकाभिनय' शीर्षक 'विज्ञापन' द्रष्टव्य है : "कोटि धन्यवाद ईश्वर का है जिसकी प्रेरणा से प्रयाग आर्य नाट्य सभा के मेम्बरों के जी में फिर अभिनय करने का उत्साह हुआ। यह अभिनय गत मास की ६ दिसम्बर शनिवार को रेलवे थियेटर मे किया गया सयोगवश से अबकि बार जेतनी बात अभिनयोपयोगी है, वे सब आकर एकत्र हो गईं, जैसा दिल्लीवासी लाला श्रीनिवास दास के पाण्डित्य का प्रकाश रूप रणधीर और प्रेम मोहनी नाटक वैसा ही हमारे पात्र वर्ग भी अब खूब मँज गये हैं...यह नाटक जैसी उत्तम रीति पर बाँधा गया है इस विषय में हमें कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि प्रायः हमारे ग्राहकों में से उससे भलीभाँति परिचित हैं केवल इसमें अभिनय में इतना ज्ञातव्य है कि सुखवासी लाल की कुटिलता नाथूराम का मारवाड़ीपन और जीवन की स्वामिभक्ति का अभिनय बहुत ही उत्तम रीति पर किया गया है।"...[२] यदि उन सभी तत्त्वो की व्याख्या प्रस्तुत की गई होती, जो अभिनयोपयोगी थी, तो निस्सन्देह 'नाटकाभिनय' एक उच्च कोटि का नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी निबन्ध हुआ रहता। परन्तु, 'जेतनी बात' कही जानी चाहिए, उतनी बात यहाँ

१. हिन्दी-प्रदीप, १ जून, १९७९, ई० पृ० १६।

२. जनवरी १८८० ई०, जिल्द ३, संख्या ५, नाटकाभिनय, पृ० २।

नहीं कही गई, जिसके परिणामस्वरूप 'नाटकाभिनय' आलोचना के स्थान पर 'आलोचना करने का अभिनय' है, यथार्थ आलोचना नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि इस युग की पत्रिकाएँ केवल विज्ञापन और 'पुस्तक-स्वीकार' प्रकाशित कर आलोचना के दायित्व से पलायन करने का प्रयत्न करती है। वस्तुतः, जहाँ आलोचना की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, वहाँ भी बड़े ही सूक्ष्म आलोचनात्मक सूत्र बिखरे मिलते हैं। कभी-कभी सम्पादकों की दृष्टि अत्यन्त पैनी और आलोचनात्मक हो उठती है। 'हिन्दी-प्रदीप' में १ अप्रैल, १८८० ई० को एक 'प्राप्तग्रन्थ' (केशवराम भट्ट द्वारा प्रेषित 'शमशाद सौशन') के लिए धन्यवाद ज्ञापित किया गया है और कहा गया है : "हमारे चिर-स्नेह केशवराम भट्ट प्रेषित 'शमशाद सौशन' नामक नाटक हम बहुत धन्यवाद पूर्वक स्वीकार करते है। यह नाटक कबीर के इस दोहे को लक्ष्य कर लिखा गया है :

दुर्बल को न सताइए जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की साँस से सार भसम होइ जाय ।।

भाषा इसके जैसा कि ग्रन्थ के नाम ही से प्रकट होता है ठेठ उरदू नागरी अक्षरों मे है और उसमें उत्तम पात्रों की बोली सरल उरदू और नौकर आदि दीन पात्रों की भाषा पटने की या भोजपुर की पूरबी रखी गई है, छोटे २ हाकिम जैसे अत्याचार का बरताव हमलोगों के साथ करते है वह एक जॉइण्ट मजिस्ट्रेट रो साहब के नमूने से इसमें अच्छा दरसाया गया है और पात्र जो मुसलमान रखे गये है इसमें कदाचित ग्रन्थकर्त्ता का यह मतलब है कि जिसमें मुसलमानों को भी नाटक की रुचि बढ़े और अभिनय के द्वारा अपनी जाति की कुरीतों के शोधन में प्रवृत्त हों, जो हो नाटक यह उत्तम रीति पर बाँधा गया है मूल्य इसका एक रुपया और बिहार बन्धु छापाखाने में छपा है।"[१] इस परिचय में कितने ही सूक्ष्म सिद्धान्त निर्दिष्ट हो गये हैं। प्रथम तो लेखक ने नाटक के रूप-सौष्ठव और संघटन की ओर संकेत किया है और दिखाया है कि इसमे भावान्विति मिलती है। एक भाव को केन्द्र में रखकर इस नाटक की घटनाओं और दृश्यों का सर्जन हुआ है और इसमें पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग हुआ है। भाषा के औचित्य की ओर संकेत इसका दूसरा सिद्धान्त-प्रतिपादन है। समीक्षक का स्वर इस औचित्य के निर्वाह के प्रति स्वीकारात्मक है। तीसरा सिद्धान्त नाटक की नैतिकता से सम्बद्ध है। नाटक ऐसा हो, जो श्रोताओं और पाठकों की रुचि को प्रोद्दीप्त करे और जो कुरीतियों के शोधन में उन्हें प्रवृत्त करे।

द्विवेदी-युग में अधिकांश समीक्षक लोकहित को साहित्य का प्रयोजन मानते हैं और जिसे **आचार्य नगेन्द्र** ने प्रभाववादी समीक्षा की संज्ञा दी है, वैसी ही प्रभावमूलक

१. 'हिन्दी-प्रदीप', १ अप्रैल, १८८० ई०, जिल्द ३, सं० ८, पृ० १-२।

समीक्षा लिखते हैं। प्रभाववादी समीक्षकों का 'ध्येय विश्लेषण या अन्तःप्रवृत्तियों की गवेषणा नहीं होता। किसी ग्रन्थ अथवा कृति को पढकर इनके मन पर जैसा प्रभाव पड़ता है, उसको वैसा ही अंकित कर देना इनकी विशेषता है। यह आलोचना अपने मूल रूप में फैशनेबिल है और एक अत्यन्न संस्कृत रुचि और सूक्ष्म कोमल पकड़ की अपेक्षा करती है, तभी लेखक की धारणाएँ विश्वामयोग्य और क्रान्तिमान् हो सकती है, तभी उनका महत्त्व है। यह तो स्पष्ट ही है कि इस प्रकार की आलोचना अपने सुन्दरतम रूप में भी गहन, साग एवं क्रमबद्ध नही हो सकती, पाठक की उत्सुकता को जागरित करने के अतिरिक्त उसके ज्ञान में विशेष परिवृद्धि नहीं कर सकती, साथ ही इसमें निष्कपट मत-प्रदर्शन ही सब कुछ है, अतः ईमानदारी की भी बड़ी जरूरत है।'[१] भारतेन्दु-युग की परिचयात्मक समीक्षाएँ गहन और सांग न होकर तलोपरिक हैं और उनका लक्ष्य मत-प्रदर्शन ही अधिक दीखता है। परन्तु, साथ ही उनमें प्रभूत निष्कपटता भी मिलती है।

सन् १८७९ ई० में, 'सरसुधानिधि' में 'धातुशिक्षा' नामक पुस्तक की समालोचना न तो गम्भीर है और न तो सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से उपयोगी ही। इस समालोचना के अनुशीलन से इस तथ्य पर प्रकाश अवश्य पड़ता है कि समालोचना की दृष्टि से कला तभी उपयोगी होती है, जब वह शिक्षाप्रद हो। लेखक को इस बात से प्रसन्नता हुई है कि 'धातुशिक्षा' का उद्देश्य 'यह है कि स्त्रियाँ इसको पढ़कर अपनी रक्षा और अपनी सन्तान की रक्षा करने में समर्थ हों।'[२] 'धातुशिक्षा' के अनुवाद की गर्हणा भी इसकी भाषा को लोकहित की कसौटी पर परख कर की गई है और कहा गया है कि अनुवादक ने 'प्रसूति और धातु के प्रश्नोत्तर की रीति से और अति खुलासा भाषा में लिखकर ऐसा अश्लील कर दिया है कि स्त्रियों को तो क्या पुरुषों को भी पढते लज्जा आती है।' पाठक! देखिए इसके विषय सब कैसे उत्तम और उपकारी हैं, परन्तु लिखावट कैसी जघन्य अश्लील हुई है।...'[3]

कही-कही लेखकों की आलोचना बड़े ही तीखे और मर्मस्पर्शी व्यंग्य का रूप ले लेती है और वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन न होकर आत्मनिष्ठ प्रभावाभिव्यंजन बन जाती है। सन् १८८२ ई० में 'राजा शिवप्रसाद कौन हैं' शीर्षक एक निबन्ध में कहा गया है कि 'राजा साहब कन्नौज के राजा जयचन्द है।' राजा साहब मुर्शिदाबाद नाशकारी

---

१. डॉ० नगेन्द्र : 'विचार और अनुभूति', दिल्ली, सन् १९३४ ई०, पृ० ६१।

२. 'सारसुधानिधि', ४ अगस्त, १८७९ ई०, पृ० ३५३।

३. उपरिवत्।

अभिचन्द हैं। राजा साहब लंकाधिपति के भाई विभीषण हैं। राजा साहब इंगलिश मैन और पाइनीयर का सिविल मिलटरी गजट के जीव योग हैं ...राजा साहब हिन्दू-धर्म के नाश करने के लिए साक्षात् जैनमुनि है। राजा साहब हिन्दुस्तान की फूट के ताजे नमूने है।...विदेश क्या, राजा साहब यथार्थ ही शिव है और जैसे शिव के कण्ठ मे विष है, उसी प्रकार उनके कण्ठ मे विष है।... राजा साहब हिन्दुस्तान की उन्नति के प्रलय करने के लिए त्रिनेत्र, त्रिशूलधारी, महाकाल, विकराल, मुण्डमाल, सर्वांगपूरित व्याल, श्मशानवासी, अविनाशी शिव है..!' स्पष्ट है कि इस निबन्ध का लेखक उच्च कोटि का व्यंग्यकार तो है, परन्तु समीक्षक नहीं। उसकी भाषा में अपनी अस्वस्थ प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त करने की प्राणशक्ति तो है, पर ऐसी प्रतिक्रियाएँ निपट रूक्ष प्रतिक्रियाएँ ही कहीं जायेंगी, सत्समालोचना के लिए अनिवार्य सुचिन्तित विचार नहीं। वस्तुतः, तद्युगीन पत्रिकाओ मे 'भारतेन्दु' का स्वर सबसे अधिक व्यंग्य-प्रधान है और इसकें निबन्ध हिन्दी के प्रचार के लिए सबसे अधिक आग्रही। सन् १८८३ ई० के छठे अंक में कहा गया है कि 'हमलोग हिन्दू है', 'हमारी भाषा हिन्दी है', 'हमारे अक्षर देवनागरी है'[२], पर 'हिन्दी' शीर्षक टिप्पणी में कहा गया है कि 'सरकार कचहरियों में हिन्दी क्यो नही जारी करती ? सुना है कि सरकार हिन्दी को असभ्य भाषा समझती है, क्यों न हो, जिसमे व्याकरण, काव्य कोश, न्याय, वेदान्त, सांख्य, पातंजल, वेद-उपवेद, पुराण, इतिहास, वैद्यक, ज्योतिष, चतुष्षष्टि कला आदि की पुस्तकें एक हजार वर्ष से भी प्राचीन हो, वह परम असभ्य है। जो हिन्दी आधे से अधिक भारतवर्ष भर में व्याप्त हो, जिसे दस-बारह कोटि मनुष्य बोलते हों, वह महान् अप्रसभ्य है!!... वर्त्तमान रीति के अनुसार भी जिसमें सब विषय के दो-तीन हजार ग्रन्थ हों, चालीस से अधिक सम्बादपत्र छपते हों, प्रतिवर्ष सैकड़ों विद्यार्थी पास होते हों, वह असभ्यचूड़ामणि भाषा है !!... जिस भाषा में शब्दों का अक्षय भण्डार है...वह अस्पृश्य है अव्यवहार्य और असम्भाष्य है!!!"...[३] 'भारतेन्दु' में इस शीर्षक की अनेक टिप्पणियाँ मिलती है।

सन् १८८४ ई० में ही 'भारतेन्दु' में प्रकाशित 'सक्षिप्त समालोचना'[४] से कतिपय सिद्धान्त निष्कर्षित होते है। प्रस्तुत समालोचना का लेखक सर्वप्रथम 'यूरोपियन पतिव्रता और धर्मशीला स्त्रियों के जीवन-चरित्र' के लेखक **बाबू काशीनाथ खत्री** का परिचय देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेखक के मतानुसार कलाकृति के सम्यक्

---

१. भारतेन्दु, १० सितम्बर, १८८३ ई०, पृ० ८५।

२-३. उपरिवत्, १० मई, १८८४ ई०, पृ० २०।

४. भारतेन्दु, पु० २, अंक ९—१२, सं० १८८४-८५, पृ० १२९।

मूल्यांकन के लिए यह अपेक्षित है कि कृतिकार के सम्बन्ध में कुछ जानकारी हासिल की जाय। **सांव्यूम** ने ऐसी जानकारी को साहित्यालोचन के लिए वांछनीय घोषित किया है और कहा है कि साहित्यिक कृतियों की समुचित परख तभी सम्भव है, जब उनके रचयिताओं के जीवन से हम परिचित हो लें; क्योंकि प्रत्येक कलाकृति अपने रचयिता के जीवन से निबद्ध होती है। आधुनिक मनोविश्लेषण भी कला को अन्तश्चेतना की अभिव्यक्ति अथवा अवचेतन में दमित वासनाओं से प्रभावित मानता है, परन्तु जिस संक्षिप्त समालोचना की यहाँ चर्चा की जा रही है, उसमें लेखक के सम्बन्ध में कोई ऐसी बात नहीं कही गई है, जिससे उसकी कृति के वस्तुपरक मूल्यांकन में सहयोग मिले। वस्तुतः, समालोचक ने **बाबू काशीनाथ खत्री** की प्रशंसा के द्वारा हमारे दृष्टिकोण को पक्षपातपूर्ण बनाने की कोशिश की है। उसका लेखक-परिचय कोरी विरुदावलि है और इसी कारण आलोचनात्मक महत्त्व से रहित भी। साथ ही, यह भी ध्यातव्य हैं कि जिसे वह हिन्दी का गर्व कहता है, वह आज प्रायः विस्मृत हो चुका है। बाबू काशीनाथ खत्री की तुलना अँगरेजी के **मिल्टन** से की गई है, जो अत्यन्त हास्यास्पद है। कहाँ मिल्टन और कहाँ बाबू काशीनाथ खत्री! पर, इतना अवश्य है कि इस आलोचक के मानदण्ड भी नैतिक हैं और वह पुस्तक की प्रशंसा इस कारण करता है कि पुस्तक की भाषा परम सरल और बालिकाओं के लिए पठनीय है। आलोचक के सम्बन्ध मे जो बात सबसे अधिक उल्लेखनीय हे, वह यह हे कि वह बड़े ही निष्पक्ष भाव से अनुवादक द्वारा प्रयुक्त शीर्षक के जीवन-चरित्र शब्द पर आपत्ति करता है, वह कहता है कि 'दोषपक्ष में रस का जीवन-चरित्र नाम न होकर (चरित्र) नाम होना चाहिए था... दूसरे एक ही प्रकार के बहुत से चरित्र न लिखकर भिन्न-भिन्न प्रकार के थोड़े से ही चरित्र लिखते, तो बड़ा चमत्कार था, तृतीय कही-कहीं भाषा मे अशुद्धि मिलती है।' स्पष्ट है कि इस समालोचना का लेखक तटस्थ है और उसके अनुसार साहित्य की समीक्षा न तो गुणों की तालिका होती है और न दोषों की सूची। समालोचना गुण-दोष-विवेचन है और भावक नीर-क्षीरविवेकी होता है।

(ख) बीसवीं शती का आरम्भ :

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही जिस तेजी के साथ भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों मे परिवर्त्तन हुआ, उसी तीव्रता के साथ साहित्यिक क्षेत्र में भी क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए। वास्तव में, नई शती की विविध परिस्थितियों ने भारतीय जीवन में मानस-क्रान्ति उपस्थित की। फलस्वरूप, जन-मानस का क्षेत्र विस्तृत हो गया। आर्यसमाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि भारतीय संगठनों तथा जनवाद, बुद्धिवाद, मानवतावाद, स्वच्छन्दतावाद जैसी पश्चिमी लहरों ने

विचारो में युगान्तर उपस्थित किया। इन बदली हुई परिस्थितियों ने द्विवेदी-युग को जन्म दिया। डॉ० श्री कृष्णलाल के शब्दो में :

"इस परिवर्त्तन-युग के सबसे महान् युगप्रवर्त्तक पुरुष तथा नायक **महावीरप्रसाद द्विवेदी** थे। सन् १९०० से १९२५ ई० के बीच में पद्य-रचना अथवा गद्यशैली में ऐसा कोई भी साहित्यिक आन्दोलन नहीं, जिसपर द्विवेदीजी का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव न पड़ा हो।"[1]

अपने पूर्ववर्त्ती युग की साहित्यिक पृष्ठभूमि तथा समकालीन परिस्थितियों का अध्ययन करने के बाद द्विवेदीजी ने हिन्दी के स्वरूप-निर्धारण का बीड़ा उठाया था। उस समय तक हिन्दी-साहित्य पर पाश्चात्त्य साहित्य, विशेषत: अँगरेजी-साहित्य का प्रभाव पड़ने लगा था। अँगरेजी-साहित्य में जैसा स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन चल रहा था, उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण से हिन्दी के **श्रीधर पाठक** प्रभृति कवि उसको ग्रहण करने लगे थे। इसी प्रकार, हिन्दी के साथ उर्दू के साहित्य का सम्पर्क भी भापा-विवाद आदि के सन्दर्भ में बढा। इस कारण राष्ट्रीय जागरण, समाज-सुधार जैसी भावनाएँ दोनो में समान रूप से मिलती है। इस दृष्टि से **हाली**-कृत 'मुसद्दस' और **गुप्तजी** की 'भारत-भारती' का विषयसाम्य उल्लेखनीय है। बीसवीं शती के प्रथम चरण मे ही बँगला-कवि **श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर** को नोबेल-पुरस्कार मिला। इसका रोब उस समग्र के हिन्दी-साहित्य पर भी पड़ा और वंग-साहित्य के माध्यम से नवीन भावनाओं का हिन्दी में आगमन हुआ। यद्यपि भाषा और छन्द को लेकर स्वयं हिन्दी-साहित्य भी उस समय कई समस्याओं से जूझ रहा था, तथापि भाषा, छन्द और विषय को लेकर खड़ी-बोली-सम्बन्धी क्रान्ति के बीज **भारतेन्दु** के समय से ही अंकुरित हो उठे थे, परन्तु काव्य-सिंहासन के लिए व्रजभाषा और खड़ीबोली के कवियों में स्पर्द्धा लगी हुई थी। इस संघर्ष के निराकरण के रूप में द्विवेदीजी ने काव्य-भाषास्वरूप खड़ीबोली को ही स्थापित किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम खड़ीबोली में कविता का शुद्ध एवं टकसाली रूप प्रस्तुत किया। खड़ीबोली में उनकी पहली कविता 'बलीवर्द' है, जिसका प्रकाशन १६ अक्टूबर, १९०० ई० के 'वेंकटेश्वर-समाचार' में हुआ था :

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बेताज महाराज।
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना-दाना को मुहताज।
तुम्हें खण्ड कर देते हैं जो महा-निर्दयी जन-सिरताज।
धिक उनको, उनपर हँसता है बुरी तरह यह सकल समाज।[2]

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० ३१।

२. श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी : 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २७५।

भाषा की असीम शक्ति के प्रदर्शन और सटीक प्रयोग की जैसी पद्धति द्विवेदीजी ने अपनाई, उसी को उनके सम-सामयिक **मैथिलीशरण गुप्त**, **रामचरित उपाध्याय**, **हरिऔध**, **राय देवीप्रसाद पूर्ण**, **रूपनारायण पाण्डेय** आदि अन्य कवियों ने भी ग्रहण किया। द्विवेदी-युग की काव्यगत विशेषताओं के सन्दर्भ में **डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त** की निम्नांकित पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"जिस प्रकार इण्डियन नेशनल कॉगरेस में तिलक एवं गोखले के स्थान पर महात्मा गान्धी के आ जाने से उसकी कार्य-पद्धति में थोड़ा अन्तर आया, किन्तु उसका मूल लक्ष्य अपरिवर्त्तित रहा, ठीक उसी प्रकार साहित्य में महावीरप्रसाद द्विवेदी के आगमन ने भारतेन्दुयुगीन रचना-पद्धतियों एवं काव्यभाषा में परिवर्तन किया, किन्तु उसका मूल लक्ष्य वही रहा।"[1]

भारतेन्दु-युग में कविता के अन्तर्गत आदर्शवाद का जैसा बोलबाला था, द्विवेदी-युग में उसी को अधिक पल्लवित किया गया। उसका स्वरूप कुछ और निखर अवश्य गया। सच पूछा जाय, तो काव्यगत स्वरूपों और काव्यदृष्टियों की कसौटी पर सम्पूर्ण द्विवेदी-युग एक व्यापक प्रयोगशाला है। एक ओर नवजागरण के अनुरूप खड़ी-बोली मे नई छन्दोयोजना एवं शब्दयोजनाओं के प्रयत्न इसमें मिलते हैं और दूसरी ओर युगीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर अतीतोन्मुखी इतिवृत्तात्मकता का प्राचुर्य भी मिलता है। वस्तु-व्यंजना की दृष्टि से अपनी इन विशेषताओं से पूरी तरह मण्डित होने के पीछे द्विवेदीयुगीन विभिन्न स्थितियाँ ही थीं। **श्रीसच्चिदानन्द वात्स्यायन** ने लिखा है :

"द्विवेदी-युग की परिस्थितियाँ और समस्याएँ आरम्भिक युग से भिन्न थी। हिन्दी के प्रतिमानीकरण का कार्य अभी पूरा न हुआ था, पर खड़ीबोली की प्रतिष्ठापना के विषय में कोई द्विधा न रही थी। इसी प्रकार, यद्यपि भारतीयता के स्वरूप की कोई सामान्य और सर्वसम्मत अवधारणा अभी नहीं हो सकी थी, तथापि उसकी अस्ति के बारे में कहीं कोई सन्देह नहीं रह गया था।"[2]

इस कारण, द्विवेदी-युग के कवियों ने जिस जोश के साथ खड़ीबोली को अपनाया, उसी तन्मयता के साथ आदर्शवाद पर आश्रित अतीतोन्मुखी इतिवृत्तात्मकता को भी स्वीकार किया। पद्य की ही भाँति गद्य के क्षेत्र मे भी आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली की रूप-प्रतिष्ठा की। यह महत्त्वपूर्ण कार्य उस समय तक नहीं

१. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त : 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', पृ० ६३७।
२. श्रीसच्चिदानन्द वात्स्यायन : 'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', पृ० ५४।

हुआ था। द्विवेदीजी ने हिन्दी-गद्य को घिस-माँजकर उसे परिष्कृत किया। उनके भाषा-सुधार का आन्दोलन व्याकरण-विशुद्धता का आन्दोलन था। साथ ही, हिन्दी-परम्परा तथा गौरव के अनुकूल भाषा-शैलियों के समुचित विकास की दिशा में भी द्विवेदीजी सचेष्ट रहे। संस्कृत-भाषा की अलकार-योजना और वर्णन-कुशलता, अँगरेजी की सरलता और स्पष्टता, मराठी की गम्भीरता और रूढता, बँगला की कमनीयता, उर्दू-फारसी की गतिशीलता आदि शैलीगत विशेषताओं को द्विवेदीजी के निर्देशन में हिन्दी ने सावधानी के साथ आत्मसात् किया। अपने कठोर भाषानुशासन के कारण ही वे हिन्दी-गद्य को अपनी इच्छा के अनुरूप ढाल सके। उन्होंने अपने समय में प्रचलित हिन्दी की त्रुटियों का परिमार्जन किया और सामसामयिक लेखकों से परिष्कृत गद्य में लिखवाया। इस प्रकार, हिन्दी-गद्य और पद्य के क्षेत्रों में खड़ी बोली के सिहासनारूढ होने में द्विवेदीजी ने निजी प्रयास की चरमता तक श्रम किया। अपने युग की प्रत्येक साहित्यिक शाखा पर अपना अक्षुण्ण प्रभाव डालकर उन्होंने 'द्विवेदी-युग' आख्या को सार्थक किया है।

जब हिन्दी-कविता की भाषा के क्षेत्र में व्रजभाषा तथा खडीबोली का संघर्ष चरम सीमा पर पहुँच चुका था और विषय के क्षेत्र से रीतिकालीन रूढियाँ दूर जा चुकी थी, तब हिन्दी के साहित्य-जगत् मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का अवतरण हुआ। उस समय हिन्दी-गद्य विविध विधाओं की दृष्टि से विकास के पथ पर बढ़ा आ रहा था,पर भाषा की अराजकता व्यवधान बनकर सामने आ गई थी। इसी समय आचार्य द्विवेदीजी ने सन् १९०३ ई० में 'सरस्वती' मासिक का सम्पादन-कार्य सँभाला और उसी के माध्यम से हिन्दी-गद्य एवं पद्य की भाषा में व्याप्त अनेकरूपता को दूर करने का सफल प्रयास कर उन्होंने हिन्दी-साहित्य के विकास की दिशा निर्धारित की। बीसवीं शताब्दी के जिन प्रारम्भिक वर्षों में रचित हिन्दी-साहित्य पर उनका प्रभाव छाया रहा, उनकी सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अवस्था भी साहित्य को उसके विकास की ओर उन्मुख करती रही। इस प्रकार, द्विवेदी-युग भारतीय इतिहास का वह द्वार है, जिस स्थल से बीसवीं शती की आधुनिकता में प्रवेश कर भारत ने अपने-आपको देखा-परखा है। युगीन सन्दर्भो के आलोक में इस युग में रचित हिन्दी-साहित्य का महत्त्व निश्चय ही भास्वर है।

द्वितीय अध्याय

जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व

जीवनवृत्त :

हिन्दी के साहित्येतिहास में आधुनिक काल के द्वितीय उत्थान का नामकरण जिस युगप्रवर्त्तक महान् आत्मा के नाम पर हुआ, उनका पूरा नाम **महावीरप्रसाद द्विवेदी** था। उत्तरप्रदेश के रायबरेली जिले में एक बड़ा-सा लगभग ५०-६० घरों का गाँव मे है—दौलतपुर। इसी गाँव के निर्धन ब्राह्मण-परिवार में वैशाख शुक्ल ४, संवत् १९२१, तदनुसार ९ मई, १८६४ ई० की रात्रि में पिछले पहर एक बालक ने जन्म लिया। यही बालक आगे चलकर हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहास में युगनेता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। उस समय कौन जानता था कि दौलतपुर में जन्म लेनेवाला बालक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी बनकर हिन्दी के लेखकों का पथ-निर्देश करेगा।

द्विवेदीजी के गाँव में ब्राह्मण के बीच अध्ययन की प्रवृत्ति बड़ी व्यापक थी। स्वयं उनके पितामह **पं० हनुमन्त द्विवेदी** संस्कृत के बड़े प्रकाण्ड पण्डित थे। इनके तीन पुत्र हुए—**दुर्गाप्रसाद, रामसहाय और रामजन**। इनमें से **रामजन** का बचपन में ही देहावसान हो गया। पं० हनुमन्त द्विवेदी अपनी असामयिक मृत्यु के कारण बाकी दोनों पुत्रों को पूर्ण सुशिक्षित नहीं कर सके। इस कारण **दुर्गाप्रसाद** को जीविका के लिए बैसवाड़े में ही गौना के तालुकेदार के यहाँ कहानी सुनाने की नौकरी करनी पड़ी। **पं० रामसहायजी** का जीवनवृत्त हिन्दी के अध्येताओं के लिए विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि इन्हीं को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का पिता बनने का गौरव प्राप्त हुआ था। वे सेना में भरती हो गये थे। लेकिन, सन् १८५७ ई० के गदर में विद्रोही सिपाहियों के साथ वे भी भाग गये। इसी क्रम में एक बार सतलज नदी की धारा इन्हें काफी दूर तक बहा ले गई। सचेत होनेपर घास के डण्ठलों का रस चूसकर उन्होंने अपनी जान बचाई। बाद में साधु के वेश में किसी प्रकार माँगते-खाते वे दौलतपुर पहुँचे। दुबारा जीविका की तलाश में उन्हें बम्बई जाना पड़ा। वहाँ उन्होंने चिमनलाल और नरसिंहलाल जैसे सेठों के यहाँ नौकरी की। पूजा-पाठ में अटूट विश्वास रखनेवाले पं० रामसहाय का देहावसान सन् १८९६ ई० में हो गया।

उनकी कुल दो सन्तानें हुईं—एक तो आचार्य द्विवेदी और दूसरी उनकी बहन। पं० रामसहायजी को हनुमान्‌जी का इष्ट था,इस कारण उन्होंने बेटे का नाम 'महावीर-सहाय' रखा। बाद मे स्कूल के अध्यापक की गलती से प्रमाण-पत्र में 'महावीरप्रसाद' नाम 'महावीरसहाय' की जगह लिख दिया गया। यही नाम आगे चलकर स्थायी हो गया। अपनी शिक्षा-दीक्षा के प्रारम्भ के सम्बन्ध मे स्वय द्विवेदीजी ने लिखा है :

"मैं एक ऐसे देहाती का एकमात्र आत्मज हूँ, जिसका मासिक वेतन दस रु० था। अपने गाँव के देहाती मदरसे मे थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोड़ी-सी संस्कृत पढ़कर तेरह वर्ष की उम्र में छब्बीस मील दूर रायबरेली के जिला स्कूल में अँगरेजी पढ़ने गया। आटा, दाल घर से पीठ पर लादकर ले जाता था। दो आने महीने फीस देता था। दाल ही में आटे के पेड़े या टिकियाएँ पका करके पेटपूजा किया करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था। संस्कृत-भाषा उस समय स्कूल में वैसे ही अछूती समझी गई थी, जैसी मद्रास के नम्बूदरी ब्राह्मणों में वहाँ की शूद्र जाति समझी जाती है। विवश होकर अँगरेजी के साथ फारसी पढ़ता था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ काटा। फिर पुरबा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे। कौटुम्बिक दुरवस्था के कारण मैं इससे आगे न बढ़ सका। मेरी स्कूली शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गई।"[१] द्विवेदीजी की कुल शिक्षा-दीक्षा इतनी ही हुई। परन्तु, इस प्रसंग में उनकी कुशाग्रता और पढने की उद्दाम लालसा की प्रशंसा करनी पड़ेगी। काव्यकाल में ही उनके चाचा ने 'दुर्गासप्तशती', 'विष्णुसहस्रनाम', 'मुहूर्त्तचिन्तामणि', 'शीघ्रबोध' 'अमरकोश' आदि के कई अंश उन्हें कण्ठाग्र करा दिये थे। इसी घरेलू पढ़ाई की नींव पर उन्होंने अपने गाँव की पाठशाला में हिन्दी, उर्दू और गणित की प्रारम्भिक शिक्षा पाई। अँगरेजी का ज्ञान उन दिनों भारतीयों के लिए धीरे-धीरे कुछ सीमा तक आवश्यक एवं आकर्षक भी बनता जा रहा था। उन्हीं की शिक्षा पाने के लिए उन्हें रायबरेली के जिला स्कूल में पढ़ने के लिए तेरह मील पैदल जाना पड़ता था। उन दिनों की एक मार्मिक घटना का विवरण **डॉ० उदयभानु सिंह** ने इन शब्दों में दिया है :

"एक बार तो जाड़े की ऋतु में सारी रात पैदल चलकर पाँच बजे सबेरे घर पहुँचे। द्वार बन्द था, माँ चक्की पीस रही थी। बालक की पुकार सुनकर सप्रेम

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'मेरी जीवनरेखा', भाषा : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० १२।

दौड़ पड़ी। किवाड़ खोल दिये। श्रान्त सन्तप्त वत्स को अपने स्निग्ध आँचल की शीतल छाया में कसकर समेट लिया।''[१]

इस परिश्रम से उपलब्ध होनेवाली शिक्षा को द्विवेदीजी ने पूर्ण एकाग्रता के साथ ग्रहण किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें 'डबल प्रोमोशन' भी मिला। परन्तु, अव्यवस्थित जीवन और परिवार की आर्थिक दुरवस्था के कारण उन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। इस समय तक उनका विवाह हो चुका था।

पढ़ाई छोड़ देने के बाद द्विवेदीजी अपने पिता के पास बम्बई चले गये। यहाँ उन्होंने गुजराती, मराठी, संस्कृत और अँगरेजी का थोड़ा-बहुत अभ्यास किया। जहाँ वे रहते थे, वहाँ पड़ोस में रेलवे में काम करनेवाले कई लोग रहते थे। उन्हीं के सम्पर्क एवं कहने मे आकर द्विवेदीजी ने थोड़ी-सी टेलिग्राफी सीखी और रेलवे में नौकरी करने लगे। कुछ समय बाद उनकी बदली नागपुर हो गई। वहाँ उनका जी न लगा। उनके गाँव के कुछ लोग अजमेर के राजपुताना रेलवे के लोको सुपरिण्टेण्डेण्ट ऑफिस में क्लर्क थे। उन्हीं के सहारे वे अजमेर चले गये। वहाँ उन्हें पन्द्रह रुपये मासिक की नौकरी मिल गई। उन पन्द्रह रुपयों में से पाँच रुपये को अपनी माँ के पास भेजते थे, पाँच रुपयों से अपना मास-भर का खर्च चलाते थे और शेष पाँच रुपयो में एक गृहशिक्षक रखकर विद्याध्ययन करते थे। परन्तु, अजमेर में उनका जी न लगा और वे पुनः बम्बई लौट आये। इस बार टेलिग्राफी का और भी ज्ञान प्राप्त करके वे जी०आइ० पी० रेलवे में सिगनलर हो गये। उस समय वे केवल २० वर्ष के थे। तार बाबू के पद पर रहकर उन्होंने टिकट बाबू, मालबाबू, स्टेशनमास्टर, प्लेटियर आदि के काम सीखे। फलतः, उनकी पदोन्नति और स्थान-स्थान पर बदली भी होती रही। इण्डियन मिडलैण्ड रेलवे के खुलने पर उसके ट्राफिक मैनेजर **डब्ल्यू० बी० राइट** ने उन्हें झाँसी बुला लिया और टेलिग्राफ-इन्सपेक्टर बहाल किया। परन्तु, इस पद पर दौरे से ऊबकर उन्होंने ट्राफिक मैनेजर के ऑफिस में बदली करा ली। कुछ समय बाद उनकी पदोन्नति असिस्टेण्ट चीफ क्लर्क और फिर रेट्स के प्रधान निरीक्षक के रूप में हुई। जब आइ० एम्० रेलवे आइ० पी० रेलवे में मिला दी गई, तब तीसरी बार वे बम्बई कुछ दिन के लिए गये। लेकिन, जल्दी ही अनुकूल वातावरण न पाकर उन्होंने अपनी बदली झाँसी करवा ली। वहाँ के डिस्ट्रिक्ट ट्राफिक सुपरिण्टेण्डेण्ट के ऑफिस में चीफ क्लर्क रहे। इस पद पर रहने के पाँच वर्ष द्विवेदीजी ने बड़ी आत्मिक पीड़ा के बीच काटे। उन्हे दिन-रात काम करना पड़ता था। इसका कारण यह था कि उनके अँगरेज साहब सुरा-सुन्दरी के चक्कर में

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ३५।

पढ़कर अपना अधिकांश समय आराम से सोने मे अथवा क्लबों मे बिताया करते थे। द्विवेदीजी दिन-भर अपना काम करने के बाद रात मे साहब के पत्रों, तारों आदि के उत्तर दिया करते थे। इस शारीरिक एवं आत्मिक कष्ट को वे किसी भाँति सहते गये। परन्तु, साहब के अत्याचार का अन्त नहीं हुआ। इसके स्थान पर उसने द्विवेदीजी के माध्यम से औरों पर भी काम का अधिक भार डालना चाहा। उस समय की परिस्थितियों के बारे में स्वयं द्विवेदी जी ने लिखा है :

"मैं यदि किसी के अत्याचार को सह लूँगा, तो उससे मेरी सहनशीलता अवश्य सूचित होती है, पर उससे मुझे औरों पर अत्याचार करने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता। परन्तु, कुछ समयोत्तर बानक ऐसा बना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरों पर अत्याचार करना चाहा। हुक्म हुआ कि इतने कर्मचारियों को लेकर रोज सुबह आठ बजे दफ्तर आया करो और ठीक दस बजे मेरे कागज मेरी मेज पर मुझे रखे मिलें। मैंने कहा, मैं आऊँगा, पर औरों को आने के लिए लाचार नहीं करूँगा। उन्हें हुक्म देना हुजूर का काम है। बस, बात बढ़ी और विना किसी सोच-विचार के मैने इस्तीफा दे दिया। बाद को उसे वापस लेने के लिए इशारे ही नहीं, सिफारिशें तक की गईं। पर सब कुछ व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफा वापस लेना चाहिए, यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विषण्ण होकर कहा—'क्या थूककर भी उसे कोई चाटता है ?' मै बोला, 'नहीं ऐसा कभी नहीं होगा, तुम धन्य हो।'"[1]

इस तरह, द्विवेदीजी की रेलवे में की गई नोकरी का अन्त हुआ। वह सम्भवत: सन् १९०२ ई० की घटना है। रेलवे की सेवा में द्विवेदीजी ने जितने वर्ष विताये, उनकी अधिक विस्तृत एवं तथ्यपूर्ण जानकारी शोधकर्त्ताओं को नही मिल सकी। इस सम्पूर्ण विवरण का मुख्य आधार द्विवेदीजी का आत्मकथन ही है। रेलवे में काम करने की अवधि ने द्विवेदीजी के मस्तिष्क एवं चरित्र पर जो प्रभाव डाले हैं, उनका अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसी अवधि में द्विवेदीजी साहित्य-जगत में अपने प्रवेश की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे। नौकरी करते समय भी उन्होंने अपनी अधूरी शिक्षा को पूर्ण करने का प्रयत्न नहीं छोड़ा था। वे स्वयं अथवा शिक्षक रखकर हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अँगरेजी, मराठी और गुजराती के साहित्य का ज्ञान प्राप्त करते रहे। हरदोई, हुशंगाबाद, नागपुर, झाँसी आदि सभी जगहों पर उन्होंने अपना विद्याध्ययन जारी रखा। हुशंगाबाद में ही कचहरी के एक मूलाजिम **बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ** से पिंगल का ज्ञान प्राप्त किया। इस समय द्विवेदीजी व्रजभाषा और

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'मेरी जीवनरेखा', 'भाषा' (द्वि० स्मृ० अंक), पृ० १५।

अवधी में कविताएँ लिखकर अपने को महाकवि समझने लगे थे। परन्तु, झाँसी आने पर उन्हें जब खड़ी बोली के तुकान्तहीन काव्य का परिचय मिला, तब वे इस दिशा में उन्मुख हुए। वे धीरे-धीरे गद्य में समालोचनाएँ भी लिखने लगे। जब वे झाँसी में थे, तभी वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने उन्हें कोर्स की एक पुस्तक दिखलाई और उक्त 'तृतीय रीडर' के कुछ दोष बताये। जब द्विवेदीजी ने उक्त रीडर को स्वयं देखा, तब और भी कुछ दोष सामने आये। रीडर को इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस ने प्रकाशित किया था। उक्त अध्यापक महोदय के प्रयास से द्विवेदीजी की उस रीडर पर लिखी हुई समालोचना पुस्तकाकार होकर इण्डियन प्रेस से ही छपी। इस समालोचना के माध्यम से द्विवेदीजी का परिचय इण्डियन प्रेम से हुआ। जब इण्डियन प्रेस से सन् १९०० ई० में 'सरस्वती' मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ, तब द्विवेदीजी की कविताएँ एवं समालोचनाएँ भी उसमें छपने लगीं। अपनी इन्हीं साहित्यिक गतिविधियों के बीच उन्होंने रेलवे की नौकरी का परित्याग किया।

नौकरी छोड़ते समय द्विवेदीजी की मासिक आय डेढ़ सौ रुपयों की थी। उस समय लेख आदि भेजने के पारिश्रमिक-स्वरूप 'सरस्वती' की ओर से उन्हें जो तेईस रुपये मिलते थे, उन्हीं पर सन्तुष्ट जीवन बिताने का निश्चय उन्होंने किया। नौकरी छूट जाने के बाद कष्ट के उन दिनों में कई मित्रों ने अनेक प्रकार के प्रलोभन दिये। परन्तु, द्विवेदीजी ने किसी की भी सहायता नहीं ली। सन् १९०३ ई० में इण्डियन प्रेस के स्वामी **श्रीचिन्तामणि घोष** के आग्रह एवं तत्कालीन 'सरस्वती'-सम्पादक **बाबू श्यामसुन्दरदास** के समर्थन पर **आचार्य महावीरप्रसाद** द्विवेदी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का भार ग्रहण किया। उस समय उन्हें इण्डियन प्रेस की ओर से अधिक पैसे नहीं मिलते थे। परन्तु, जैसे-जैसे 'सरस्वती' का प्रचार बढ़ता गया, वैसे-वैसे उनकी आय भी बढ़ती गई। शीघ्र ही उनकी मासिक आय उतनी ही हो गई, जितनी रेलवे की नौकरी छोड़ते समय थी। उन्होंने पूरे प्राणपण से 'सरस्वती' का सम्पादन किया। यह कार्य वे सन् १९०४ ई० तक झाँसी से करते रहे। बाद में वे वहाँ से कानपुर चले गये। परिश्रम की अधिकता ने उनके स्वास्थ्य पर पर्याप्त बुरा प्रभाव डाला। इसी अस्वस्थता के कारण उन्हें सन् १९१० ई० में पूरे एक वर्ष की छुट्टी 'सरस्वती' से लेनी पड़ी। इसी वर्ष उनकी माँ का देहावसान भी हुआ। सत्रह वर्ष तक सम्पादक रहने के पश्चात् सन् १९२१ ई० में उन्होंने इस कार्य से अवकाश ग्रहण किया। अपने जीवन के शेष वर्ष द्विवेदीजी ने अपने गाँव दौलतपुर में ही बिताये। इस बीच कुछ समय तक वे ऑनरेरी मुंसिफ रहे और बाद में ग्राम-पंचायत के सरपंच-पद पर सुशोभित हुए। इन सबके बावजूद उनका निजी पारिवारिक जीवन सुखी नहीं था। माता-पिता के देहावसान के पश्चात् जब द्विवेदीजी की धर्मपत्नी

की अकालमृत्यु हुई, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ था। उनकी पत्नी विशेष सुन्दर नहीं थीं और हिस्टीरिया की मरीज थी, फिर भी उन्हे अपनी पत्नी से बड़ा प्रेम था। परन्तु, दुर्भाग्यवश उनके कोई सन्तान नहीं हुई। अपने परिवार का कोई उनकी आँखों के सामने नहीं रहा। दि० १२-८-३३ ई० को लिखे गये **श्रीकिशोरीदास वाजपेयी** के नाम एक पत्र में वे अपनी व्यथा अभिव्यक्त करते हैं :

"आपकी कौटुम्बिक व्यवस्था से मिलता-जुलता ही मेरा हाल है। अपना निज का कोई नहीं है। दूर-दूर की चिड़ियाँ जमी हुई हैं। खूब चुगती हैं। पुरस्कार-स्वरूप दिन-रात पीडित किये रहती है।"[१]

परिवार की इस अभावात्मक स्थिति से ऊबकर उन्होंने **श्रीकमलकिशोर त्रिपाठी** को अपना कल्पित भाँजा बनाया। सन् १९०७ ई० में ही उन्होंने अपनी वसीयत कर डाली थी। उन्होंने अपनी माँ, सरहज और पत्नी के पालन-पोषण के लिए अपनी आय का क्रमशः तीस, बीस और पचास प्रतिशत निर्धारित किया था। परन्तु, इन सबके कालकवलित हो जाने पर चल सम्पत्ति का सर्वांश दान कर उन्होंने **श्रीकमलकिशोर त्रिपाठी** को अपनी अचल सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया। अपने जीवन की सान्ध्य वेला में द्विवेदीजी शारीरिक दृष्टि से बड़े क्षीण एवं अशक्त हो गये थे। बुढ़ापा तथा जलोदर आदि रोगों के कारण अक्टूबर, १९३८ ई० तक उनका शरीर पर्याप्त कमजोर हो गया। अपनी उस समय की अवस्था का वर्णन उन्होंने रायबरेली के डॉक्टर **शंकरदत्त अवस्थी** के पास दिनांक २०-१०-३८ को लिखे गये अपने अन्तिम पत्र में किया है :

'आपका तारीख ४ का कार्ड आज अभी सुबह मिला। मेरी हालत अच्छी नहीं है। अगर कमलकिशोर एक-दो दिन बाद आयें, तो उनके साथ कृपा करके चले आइए।... दो हफ्ते से दलिया-तरकारी भी नहीं खा सका। एक भी ग्रास पेट में जाते ही कै हो जाती है। सुबह, दोपहर, शाम को जरा-सा दूध मुनक्के पड़ा हुआ ले लेता हूँ। वह भी बेमन। उसे भी देखते ही जी जलता है। जान पड़ता है, मुझे जलोदर हो रहा है। पहले दिन मैं ३-४ घूँट पानी पीता था। अब प्यास बहुत बढ़ गई है। पेट बेतरह फूला रहता है। बहुत भारीपन मालूम होता है। उठना-बैठना मुहाल है। चलना-फिरना बन्द है। पेट गड़गड़ाया करता है। पेशाब सुर्ख होता है। पाखाना ठीक-ठीक नहीं होता, लेटे रहने से कम, खड़े होने से तथा चलने-फिरने से पेट का भारीपन बढ़ जाता है। यहाँ के वैद्य कुछ नहीं कर सकते।'[२]

१-२. श्रीअमरबहादुर सिंह अमरेश : जीवन की सान्ध्य वेला में, 'भाषा' : द्वि० स्मृ० अंक, पृ० ६३।

जीवन के अन्तिम दिनों में द्विवेदीजी कैसा शारीरिक कष्ट भोग रहे थे, इसका सहज अनुमान इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है। सन् १९३८ ई० के १२ नवम्बर को द्विवेदीजी की हालत बिगड़ती देखकर **डॉ० शंकरदत्त** एवं **कमलकिशोर त्रिपाठी** आदि उन्हें रायबरेली ले आये। वहाँ डॉ० शकरदत्त के निवास-स्थान पर अनेक डॉक्टरों के परिश्रम के बावजूद द्विवेदीजी की हालत बिगड़ने लगी। सन् १९३८ ई० के २१ दिसम्बर को चार बजे के बाद लगभग पौने पाँच बजे उन्हें अन्तिम हिचकी आई और जो समय दैनिक जीवन मे प्रातः काल जगने का था, उसी समय वे सदा-सर्वदा के लिए सो गये। सुबह होने पर उनका शव दौलतपुर लाया गया। चारों ओर कुहराम मच गया, परन्तु सरस्वती के अनन्य साधक, हिन्दी के भीष्मपितामह, महान् पत्रकार **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी** की आत्मा अपना पिंजड़ा छोड़ चुकी थी।

व्यक्तित्व :

आचार्य द्विवेदीजी का व्यक्तित्व आचार्यत्व की गरिमा से भरा हुआ और विशद था। उनके गौर वर्ण, उन्नत ललाट, सिंह के समान बड़ी-बड़ी मूँछें, बैसवाड़ी मुखमण्डल तथा असाधारण रूप से बड़ी-बड़ी भौंहें देखने से चित्त में एक महान् पुरुष एवं तत्त्ववेत्ता के साक्षात्कार का अनुभव होता था। सुन्दर लम्बा डीलडौल, विशाल रोबदार चेहरा, प्रतिभा की रेखाओं से अंकित भव्य भाल और वेश-भूषा की सादगी के माध्यम से अपने व्यक्तित्व का जो प्रभाव द्विवेदीजी औरों पर डालते थे, उनका अपना एक विशेष आकर्षण होता था। **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** ने लिखा है :

"**पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी** का व्यक्तित्व बहुत विशाल एवं विशद था। सुविशाल शरीर में उनकी प्रभावी मुखमुद्रा, सिंह की-सी बड़ी तथा घनी मूँछे, उन्नत ललाट, नीचे घनी भौहे, तेजस्वी मर्मभेदी दृष्टिसम्पन्न दूर देश-विदेश के हिन्दी-सेवियों को पहचान कर ढूँढ़ निकालनेवाले नेत्र आदि उनके बाह्य व्यक्तित्व का निर्माण करते थे। प्रथम दर्शन से ही दर्शक उनके उस भव्य व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाता था।"[1]

उनकी मुखाकृति से ही गाम्भीर्य टपकता था। उनके रोबीले व्यक्तित्व का बड़ा ही सुन्दर चित्रण अपने एक लेख में **डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'** ने किया है। यह अवसर था द्विवेदीजी के काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा अभिनन्दित होने का और यहीं **डॉ० माधव** ने अपने जीवन में पहली और अन्तिम बार द्विवेदीजी के दर्शन किये। डॉ० माधव ने लिखा है :

"द्विवेदीजी का वह रोबीला व्यक्तित्व एक बार ही सभा पर छा गया। ऐसा व्यक्तित्व वह था ही। द्विवेदीजी हण्टिग कोट पहने हुए थे, जिसकी चारो जेबें बाहर

---

१. डॉ०शंकरदयाल चौऋषि : 'द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन', पृ० १४४।

उभरी और बटन बन्द थी। सिर पर कश्मीरी टोपी, आँखों पर निकिल फ्रेम का चश्मा, घुटनों से कुछ ही नीचे पहुँची धोती और पैरों में नागौरी जूते, हाथ में दमदार बेंत—अनामिका में एक बिना नग की सोने की सादी अँगूठी। द्विवेदीजी के चौड़े और उन्नत ललाट पर रेखाएँ उनकी कठोर तपश्चर्या और दृढ निश्चय के व्रत को व्यक्त करती थीं, तो उनकी घनी और नीचे पलकों तक को ढक लेनेवाली भौहें और उससे भी अधिक घनी और गहन-गम्भीर मूँछें उनके व्यक्तित्व के प्रति भयमिश्रित श्रद्धा, जिसे अँगरेजी में 'आव' (AWE) कहते है, उत्पन्न करती थीं। उनकी आँखों से निकलता प्रखर तेज देखनेवालों को चकमका देता था। कुल मिलाकर द्विवेदीजी का व्यक्तित्व बैसवाड़ी कम, मराठी अधिक लगता था। यदि द्विवेदीजी के सिर पर पेशवाई पगड़ी और मस्तक पर श्रीवैष्णवों का तिलक होता, तो **द्विवेदीजी** और **लोकमान्य तिलक** मे सहज ही अभेदता सिद्ध हो जाती।''[1]

प्रस्तुत विवरण में द्विवेदीजी के व्यक्तित्व की भव्यता के साथ ही उनके व्यक्तित्व की एक अन्य विशेषता सादगी उभरी है। अपनी वेश-भूपा और रहन-सहन में द्विवेदीजी पर्याप्त सादगी बरतते थे। रेलवे की नौकरी और सम्पादन के आरम्भिक काल में वे देशी कपड़े का कोट-पतलून पहनते थे। बाद में साधारण मोटा धोती-कुरता, चार-छह आने की मामूली टोपी और चमरौधा जूता, बस यही उनकी वेश-भूषा बन गई। यह वेश उनके शरीर पर शोभा भी पाता था। उनकी यह अतिशय सादी वेश-भूषा बहुधा लोगों को भ्रम में डाल देती थी। एक बार **श्रीकेशवप्रसाद मिश्र** द्विवेदीजी से मिलने गये। उस समय आचार्य महोदय एक अमौवे की बण्डी और पण्डिताऊ कनटोप पहने बैठे थे। मिश्रजी ने उन्हें कोई ग्रामीण समझकर उन्हीं से द्विवेदीजी से मिलने की इच्छा प्रकट की। **श्रीविश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक** को भी कुछ ऐसी ही भ्रान्ति हुई थी। जब वे द्विवेदीजी से मिलने के लिए गये, तब द्विवेदीजी पैर लटकाये एक चारपाई पर बैठे हुए थे। उनके शरीर पर बण्डी, घुटनों तक धोती और पैर में खडाऊँ था। कौशिकजी ने उन्हें न पहचान कर उन्हीं से उनका पता पूछा। ऐसी गलतफहमियाँ लोगों को द्विवेदीजी की सादी वेश-भूषा के कारण हुआ करती थीं।

वेश की ही भाँति द्विवेदीजी का आहार भी बड़ा सादा था। वे निरामिष भोजन किया करते थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में तो दूध, साग और मोटा दलिया ही उनका एकमात्र आहार था। प्रारम्भ में वे पान-तम्बाकू खाते थे, लेकिन बाद में उन्होंने इन दोनों को ही छोड़ दिया। पहले वे चाय बहुत पिया करते थे, बाद में चाय का स्थान दूध ने ले लिया। भोजन और पहनने की सामग्री की भाँति उनके घर में नित्यप्रति काम में आनेवाली वस्तुएँ भी सादगी का ही वातावरण प्रस्तुत करती थीं। कुल

---

१. 'आचार्य द्विवेदी' : सं० निर्मल तालवार, पृ० १३।

मिलाकर, यही कहा जा सकता है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व जितना ही भव्य और प्रभावशाली था, उनका रहन-सहन उतना ही सरल और सादगी से भरा था। इन्हीं का समुचित विकास उनकी विविध चारित्रिक विशेषताओं और स्वाभाविक लक्षणों के रूप में हुआ। गरीबी, कष्ट सहने की प्रवृत्ति, सादगी और ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न होने के गौरव ने द्विवेदीजी के स्वभाव को एक विशेष मोड़ दिया। इसी के फलस्वरूप युगनिर्माता के रूप में उनका व्यक्तित्व तत्कालीन एवं परवर्त्ती साहित्यिकों द्वारा पूजित हुआ।

स्वभाव एवं चारित्रिक विशेषताएँ :

अपनी स्वभावगत विशेषताओं के आलोक में जिस विशालहृदय महापुरुष का व्यक्तित्व आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने निर्मित किया, उसका पूरा प्रभाव उनके द्वारा रचित एवं निर्देशित साहित्य पर भी पड़ा है। द्विवेदीजी के व्यक्तित्व से सम्बद्ध उनकी धारणाओं, विचारों, अनुभूतियों, भावों, वृत्तियों-प्रवृत्तियों एवं अन्यान्य साहित्यकारों का प्रभाव उनके आचार-विचार, रहन-सहन, वेश-भूषा, जीवन-दर्शन एवं अन्ततोगत्वा उनकी भाषा-शैली पर स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। 'व्यक्तित्व ही शैली है' की उक्ति की सत्यता का प्रतिपादन उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र की विशेषताओं के गम्भीर अध्ययन तथा इन सबके, उनकी साहित्य-साधना पर पड़े प्रभावों के अनुशीलन द्वारा होता है। उनकी सम्पूर्ण जीवन-रेखा पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि बचपन से ही कष्ट सहन करने की प्रवृत्ति द्विवेदीजी में थी। रेलवे में काम करते समय पूरे उत्साह के साथ अपनी नौकरी करने, एवं साथ ही विद्याध्ययन भी जारी रखनेवाले द्विवेदीजी के चरित्र की अधिकांश प्रवृत्तियों का उदय उनके जीवन के प्रारम्भिक पच्चीस वर्षों में ही हुआ। **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** ने ठीक ही लिखा है :

"इस समय उनकी प्रतिभा का विलक्षण विकास और प्रकाश हुआ। कार्य की लगन, समय की पाबन्दी, कर्त्तव्य की तत्परता तथा सतत कठोर अध्यवसाय—ये सब उनके व्यक्तित्व के अग बन गये। यथार्थ में उनके इन्हीं गुणों ने, जिनका विकास उनकी रेलवे की नौकरी की अवधि में हुआ था, उन्हें हिन्दी-साहित्य का प्रथम आचार्य बनाया।"[1]

द्विवेदीजी के स्वभाव एवं चरित्र की ये विशेषताएँ उनके जीवन-पर्यन्त उनके साथ संलग्न रहीं। पत्नी के प्रति प्रेम, स्वाभिमान एवं निर्भयता, उग्रता, क्षमाशीलता,

---

१. डॉ० शंकरदयाल चौऋषि : 'द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन', पृ० १४०।

कोमलता,विनोदशीलता, कर्त्तव्यपरायणता, व्यवहारकुशलता, व्यवस्थाप्रियता, समयज्ञता, प्रतिभा की परख, संग्रहवृत्ति, अतिथि-सेवा, भावुकता, दानवीरता एवं ब्राह्मणत्व का गौरव आदि जिन प्रमुख स्वभावगत एवं चारित्रिक विशेषताओं का वे वहन करते थे, उनमें से प्रत्येक का उनके व्यक्तित्व-निर्माण एवं साहित्यिक उपलब्धियों के परिप्रेक्ष्य में अपना विशिष्ट स्थान है। अतएव, द्विवेदीजी के उक्त विशिष्ट चारित्रिक पहलुओं का अध्ययन उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के सम्पूर्ण अनुशीलन के सन्दर्भ में आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है।

(क) पत्नी के प्रति प्रेम :

अपने पारिवारिक जीवन में द्विवेदीजी बड़े ही दु:खी रहे। माता-पिता के कालकवलित हो जाने के बाद नि:सन्तान होने के कारण उनके स्नेह और प्रेम की सम्पूर्ण धारा पत्नी की ओर उन्मुख हुई। उनका विवाह बचपन में ही हो गया था। धर्मपत्नी कोई विशेष रूपवती नही थी, फिर भी द्विवेदीजी उनसे बहुत प्रेम करते थे। इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि धर्मपत्नी ने उन्हें कई बार कुकृत्य करने से रोककर सत्कर्म की ओर प्रेरित किया था। जब द्विवेदीजी ने रेलवे की नौकरी छोड़कर पुन: इस्तीफा वापस लेने की बात कही, तब उनकी पत्नी ने कहा था : 'भला थूककर भी कोई चाटता है ?' पत्नी की इसी बात ने उन्हें रेलवे की नौकरी की ओर से विमुख कर दिया और उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से हिन्दी-संसार में प्रवेश किया। तुलसीदासजी को जैसी धार्मिक अन्त: प्रेरणा उनकी स्त्री रत्ना ने दी थी, लगभग उसी प्रकार का परिवर्त्तनकारी कार्य आचार्यप्रवर द्विवेदीजी की पत्नी ने भी उनके जीवन में किया। यदि उस समय वे डेढ़ सौ रुपयों के मोह में फँस-कर नौकरी का इस्तीफा वापस मँगवा लेती, तो हिन्दी-साहित्य मात्र एक रेलवे-अफसर अथवा स्टेशन-मास्टर के पद के लिए अपना एक युगनिर्माता नेता खो बैठता। इस प्रकार, द्विवेदीजी की धर्मपत्नी ने जिस नि:स्पृहता के साथ अपने पति का अवदान हिन्दी-जगत् को दिया, जिसके लिए वह सर्वदा उनका आभारी रहेगा। यही नहीं, जब द्विवेदीजी ने साहित्य-रचना की दिशा में प्रयास शुरू किये, तब उनकी पत्नी ने ही उन्हें सस्ते और बाजारू साहित्य की रचना करने से रोका। द्विवेदीजी ने 'सुहागरात' नाम की एक पुस्तक लिखी थी। कामशास्त्र-विषयक यह पुस्तक जब उनकी स्त्री के हाथ लगी, तब उन्होंने इसकी रचना के लिए अपते पति को बहुत फटकारा। स्वयं द्विवेदीजी ने लिखा है :

"उसने मुझ पर वचन-विन्यास रूपी इतने कड़े कशाघात किये कि मैं तिलमिला उठा। उसने उन पुस्तकों की कॉपियों को आजन्म कारावास या कालापानी की सजा दे दी। वे उसके सन्दूक में बन्द हो गईं। उसके मरने पर ही उनका छुटकारा इस

'दायमुलहब्स' से हुआ। छूटने पर मैंने उन्हें एकान्तवास की आज्ञा दे दी है; क्योंकि सती की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझमें नहीं। इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पंक-पयोधि में डूबने से बचा लिया।"[1]

इस प्रकार, जिस आत्मीयता के साथ द्विवेदीजी की पत्नी ने अर्धांगिणी और सहधर्मिणी होने का दायित्व पूरा किया, उतनी ही सचाई और तन्मयता के साथ द्विवेदीजी ने भी उनके प्रति अपना अटूट स्नेह व्यक्त किया। एक बार द्विवेदीजी की स्त्री की एक सखी ने उनके द्वार पर पड़ी पूर्वजों द्वारा स्थापित महावीरजी की मूर्त्ति को दिखाकर कहा कि इसके लिए चबूतरा बन जाता, तो अच्छा होता। चबूतरा बनवाकर उनकी पत्नी ने 'महावीर' शब्द की श्लिष्टता का उपयोग करते हुए द्विवेदीजी से कहा कि मैंने तुम्हारा चबूतरा बनवा दिया है। इसपर द्विवेदीजी ने तत्काल उत्तर दिया कि तुमने मेरा चबूतरा बनवा दिया है, अब मैं तुम्हारा मन्दिर बनवाऊँगा। उस समय हँसी-मजाक के बीच निकली हुई इस बात को द्विवेदीजी ने पत्नी के देहावसान के बाद सत्य में परिवर्त्तित किया। उनकी पत्नी को आरम्भ से ही हिस्टीरिया का रोग था। इसी कारण द्विवेदीजी उन्हें अकेली गंगास्नान करने नहीं जाने देते थे। एक बार वे गाँव की कुछ अन्य औरतों के साथ गंगास्नान करने चली गईं। दुर्भाग्यवश गंगास्नान करते समय ही वे जलमग्न हो गईं। दूसरे दिन उनका शव पानी में लगभग एक कोस पर मिला। अपनी धर्मपत्नी के निधन से दुःखी द्विवेदीजी ने लोगों के लाख समझाने पर भी दूसरा विवाह नहीं किया। अपितु, उन्होने गाँव में अपने पत्नी-प्रेम के स्मारक-स्वरूप एक मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ कराया। इस स्मारक-मन्दिर में उन्होंने जयपुर से लक्ष्मी और सरस्वती की मूर्त्तियाँ मँगवाकर स्थापित करवाईं तथा इन दोनो के बीच उन्होने एक शिल्पी द्वारा लगभग सात-आठ मास मे एक हजार रुपया खर्च कर बनवाई गई अपनी पत्नी की मूर्त्ति स्थापित की। अपनी प्रियतमा स्त्री की मूर्त्ति के नीचे द्विवेदीजी ने स्वरचित निम्नांकित श्लोक अंकित करवा दिये है :

"नवषण्णवभूसंख्ये विक्रमादित्यवत्सरे।
शुक्रे कृष्णत्रयोदश्यामधिकाषाढमासि च॥
मोहमुग्धा गतज्ञाना भ्रमरोगनिपीडिता।
जह्नुजाया जले प्राप पञ्चत्वं या पतिव्रता॥

---

१. आचार्य म० प्र० द्वि० : 'मेरी जीवन-रेखा', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० १५।

निर्मापितमिदं तस्याः स्वपत्न्याः स्मृतिमन्दिरम् ।
व्यथितेन महावीरप्रसादेन द्विवेदिना ।।
पत्युर्गृहे यतः सासीत् साक्षाच्छ्रीरिव रूपिणी ।
पत्याप्येकादृता वाणी द्वितीया सैव सुव्रता ।।
एषा तत्प्रतिमा तस्मान्मध्यभागे तयोर्द्वयोः ।
लक्ष्मीसरस्वतीदेव्योः स्थापिता परमादरात् ।।

स्मृति-मन्दिर और धर्मपत्नी की मूर्त्ति बनाने के लिए उन्हें सब ओर से उपहास और तानों का पात्र बनना पड़ा । परन्तु, सच्चे पत्नीभक्त एवं आदर्श पति के रूप में द्विवेदीजी ने इन सबको सहा । पत्नी का वियोग उन्हें जीवन-भर सालता रहा ।

(ख) स्वाभिमान एवं निर्भयता :

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के चारित्रिक विकास का एक प्रधान आधार यह भी था कि वे निर्भय आचरण करते थे और आत्मगौरव उनके भीतर कूट-कूटकर भरा हुआ था । अपने निजी पारिवारिक एवं साहित्यिक जीवन में सर्वत्र उन्होने स्वाभिमान और निर्भयता का परिचय दिया है । वे स्पष्टवक्ता और बड़े ही आत्मसम्मानी पुरुष थे । आत्मगौरव की रक्षा के लिए ही उन्होने डेढ़ सौ रुपये की मासिक आय ठुकराकर 'सरस्वती' की तेईस रुपये मासिक वृत्ति स्वीकार कर ली । नागरी-प्रचारिणी सभा से एक बार जब उनका सैद्धान्तिक मतभेद हुआ, तब बहुत समय तक उन्होंने सभा-भवन में पैर नहीं रखे । अपने आत्मगौरव पर तनिक भी आँच वे सहन नहीं कर पाते थे । दबना द्विवेदीजी की प्रकृति मे नहीं था । जो कुछ भी वे कहते थे, उसपर दृढ़ रहना भी वे जानते थे । उन्होंने किसी के समक्ष कुछ पाने की आशा से कभी अपना सिर नहीं झुकाया । दो टूक बात कह देने की जो नीति उन्होंने अपना रखी थी, उसके कारण लोग उनसे अप्रसन्न भी हो जाया करते थे । उनकी निर्भीकता एवं आत्मसम्मान की भावना ने लोगो के मन में यह धारणा उत्पन्न कर दी थी कि उनमें अकड़ एवं अहम्मन्यता है । परन्तु, वास्तविकता ऐसी नही थीं । वे घमण्डी एवं अकड़वाले नहीं थे । वे सरल हृदय के थे, खुलकर वार करते थे । भीतर-ही-भीतर मीठी छुरी चलाना वे नहीं जानते थे और इसी स्वभाव के कारण वे किसी के आगे नहीं झुके । स्वाभिमान एवं निर्भयता के इन गुणों के कारण उनके व्यक्तित्व में एक स्वाभाविक उग्रता अवश्य उदित हो गयी थी । इसी कारण, जहाँ कहीं भी उन्हें अपना निजी गौरव

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ३६ पर उद्धृत ।

बाधित अथवा अपमानित प्रतीत होता था, वे आपे से बाहर हो जाते थे। जब वे अपने मुहबोले भाँजे **श्रीकमलकिशोर त्रिपाठी** की बरात में रेलयात्रा कर रहे थे, तब एक अँगरेज ने उनसे बड़े ही अपमानजनक शब्दों में द्वितीय श्रेणी का डिब्बा खाली करने को कहा। इसे द्विवेदीजी सहन नही कर सके। उन्होंने उक्त अँगरेज को अपने मिर्जापुरी डण्डे द्वारा उचित उत्तर दिया। उनके इस उग्र स्वभाव के प्रतीक-स्वरूप एक फरसा उनके कमरे में टँगा रहता था। **श्रीव्यंकटेशनारायण तिवारी** ने कदाचित् उसे ही देखकर द्विवेदीजी को 'वाक्शूर परशुराम'[1] कहा था। उनके स्वाभिमान एवं तज्जनित उग्रता के सन्दर्भ में उक्त प्रसंग की चर्चा की जा सकती है, जब द्विवेदीजी ने आवेश में आकर **श्री बी० एन्० शर्मा** पर मानहानि का दावा कर दिया था। वास्तव में, शर्माजी ने २४ सितम्बर, १९०८ ई० और १ अक्टूबर, १९०८ ई० के 'आर्यमित्र' में द्विवेदीजी के सिद्धान्तों की बड़ी तीखी भाषा में आलोचना की थी और द्विवेदीजी ने इस आक्षेप को सहन नहीं कर पाने पर लेखक-प्रकाशक पर बीस हजार रुपयों के दावे की कानूनी नोटिस दे दी। **रायदेवी प्रसाद 'पूर्ण'** उनके वकील थे। परन्तु, श्री बी० एन० शर्मा एवं 'आर्यमित्र' के प्रकाशकों ने द्विवेदीजी के साथ क्षमा माँगकर सन्धि कर ली। इसी भाँति, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, एवं **बाबू श्यामसुन्दरदास**, **श्रीबालमुकुन्द गुप्त** और अन्यान्य कई विद्वानो के साथ द्विवेदीजी का सैद्धान्तिक एवं साहित्यक विषयों को लेकर मतभेद था। इस मतभेद को उनके स्वाभिमान ने भी खूब बढ़ावा दिया था। परन्तु, इसके पीछे उनकी कोई बुरी एवं वैयक्तिक कटुता नही थी। वे साहित्य, भाषा और जीवन सभी को पवित्र एवं विकास-शील देखना चाहते थे। जहाँ कहीं उन्हें इसके विपरीत दृश्य दिखाई दिया, उन्होंने अंगुलि-निर्देश किया है। इसी को यदि कोई अकड़ और अहम्मन्यता की संज्ञा देता है, तो इस अकड़ और अहम्मन्यता की प्रत्येक युग के साहित्यसेवी में आवश्यकता मानी जानी चाहिए। यदि आचार्य द्विवेदीजी मे निर्भयता, आत्मगौरव और उग्रता की ये स्वभावगत विशेषताएँ न होती, तो वे अपने समसामयिक साहित्यकारों को डाँट-फटकार कर हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य को एक नया मोड़ देने में समर्थ नहीं होते।

(ग) क्षमाशीलता एव कोमलता :

द्विवेदीजी के स्वभाव में मिठास और तिक्तता, करुणा और कठोरता, दया और रोष तथा भावुकता और यथार्थ का एक अभूतपूर्व मेल था। वे जितने स्वाभिमानी और उग्र प्रकृति के थे, उतनी ही कोमलता तथा क्षमाशीलता भी उनमें थी। **पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र** ने द्विवेदीजी के व्यक्तित्व की इस विशदता एवं विषमता को सुन्दर शब्दों में विवेचित किया है :

---

१. 'सरस्वती', भाग ४०, संख्या २, पृ० २१५।

"द्विवेदीजी सचमुच 'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' चरित्रवाले लोकोत्तर पुरुष थे। उच्छृंखलता न उन्हें साहित्य में पसन्द थी और न जीवन में। वे दुष्टों के कट्टर शत्रु थे, बड़े निर्भीक और प्रभावशाली। कर्मक्षेत्र में वे बराबर वज्र रहे, पर क्षेत्र-त्याग के अनन्तर वे बड़े ही कोमल हो गये। ऐसा भासित होता है कि उनकी उग्रता आरोपित थी, वे जान-बूझकर अपने को कड़ा बनाये रखते थे, हृदय से बड़े कोमल थे। जिन द्विवेदीजी ने सम्पादन-काल में पुस्तकों की छोटी-छोटी त्रुटियों के लिए लेखकों और प्रकाशकों को लथेड़ा था, विश्राम ग्रहण करने पर उन्होंने मुक्त कण्ठ से सबकी प्रशंसा आरम्भ कर दी।"[1]

द्विवेदीजी की कोमलता एवं क्षमाशीलता भी अपने-आप में आदर्श थी। वे अपने मित्रों-शिष्यों को क्षमा करने में तनिक भी संकोच नही करते थे। 'अभ्युदय' के मैनेजर ने अपने 'निबन्ध-नवनीत' में द्विवेदीजी के निबन्ध 'प्रतापनारायण मिश्र का जीवन-चरित' संगृहीत कर लिया था और इसी प्रकार **बाबू भवानीप्रसाद** ने उनकी कुछ कविताएँ अपनी पुस्तक 'शिक्षा-सरोज' एवं 'आर्यभाषा-पाठावली' में उनकी अनुमति के बिना ही संगृहीत की थीं। द्विवेदीजी पहले तो उन दोनों सज्जनों पर बड़े क्रुद्ध हुए, पर बाद में क्षमा कर दिया। इसी प्रकार, वे श्री बी० एन्० शर्मा पर उनके सैद्धान्तिक आक्षेपों के कारण इतने अधिक कुपित हुए थे कि उन्होंने शर्माजी पर मानहानि का मुकदमा दायर कर दिया। परन्तु, जब श्री बी० एन्० शर्मा ने द्विवेदीजी से क्षमा माँगी, तब कोमलहृदय द्विवेदीजी अति शीघ्र पिघल गये। द्विवेदीजी का निजी क्रोध जिस शीघ्रता के साथ शान्त होता था, उसी प्रकार द्विवेदीजी औरों का क्रोध भी शान्त किया करते थे। उन्होंने अपने एक लेख में नागरी-प्रचारिणी सभा की आलोचना की थी, यद्यपि उन्हें सभा के आदर्शों और उद्देश्यों से पूर्ण सहानुभूति थी। इसपर सभी की ओर से **पं० केदारनाथ पाठक** उनके पास आ धमके और क्रुद्ध स्वर में बोले : 'आलोचना का हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा ?' द्विवेदीजी मुस्कराते हुए बोले : 'देवता, जरा ठहर जाओ, धीरज तो रखो।' और, वे अपने घर के भीतर से एक तश्तरी में मिठाई, एक लोटा जल और एक मोटी लाठी लेकर बाहर आये। फिर, वे सहज स्वर में पाठकजी से बोले : 'आप यात्रा से थक गये होंगे, हाथ-मुँह धोकर जल्दी से नाश्ता कर लें, सबल हो जायें। तब यह लाठी है और यह मेरा मस्तक है। मेरी आलोचना के बदले जी भरकर मुझे पीट लेना।' द्विवेदीजी से यह बातें सुनकर पाठकजी का न केवल क्रोध हिरन हो गया, अपितु वे द्विवेदीजी के भक्त हो गये। इसी प्रकार के अनेकानेक प्रसंग द्विवेदीजी के जीवन से

---

१. विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'हिन्दी का सामयिक साहित्य', पृ० २५।

उदाहृत किये जा सकते हैं, जिनसे उनकी कोमलता और क्षमाशीलता प्रदर्शित होती है। **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** ने द्विवेदीजी की इन चारित्रिक विशेषताओं के सम्बन्ध में लिखा है :

"वे गम्भीर तथा शान्त थे, किन्तु उदास और शुष्क नहीं। व्यस्तता तथा नियमितता के प्रति कठोर आग्रह ने जहाँ उन्हें गम्भीर तथा शान्त बना दिया था, वहीं जीवन के प्रति सरसता एवं तरलता ने उदासी और शुष्कता से उन्हें रहित कर दिया था। उनके कठोर अनुशासन, दृढ़ कार्यपरायणता तथा सतत तत्परता की लौहकाया में सहृदयता, दया तथा सेवाभाव की आत्मा पूर्णतः सुरक्षित थी। इस महादुर्धर्ष व्यक्तित्व के दुर्ग में उनके हृदय की कोमल वृत्तियाँ निश्चित ही स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता से पुष्पित तथा फलित होकर लहलहा उठी। वज्रादपि कठोरता तथा कुसुमादपि सुकुमारता इस महान युगनायक के व्यक्तित्व के साधारणतः दो रूप हैं।"[1] **डॉ० रामसकल राय शर्मा** ने भी लिखा है :

"वे हृदय से कोमल, किन्तु कर्त्तव्य के प्रति जागरूक थे। उनकी दृढता को देखकर हम उन्हें नारियल के फल की उपमा दे सकते है, जिसकी कठोर जटा के भीतर हमें मीठी गिरी और स्वादिष्ट जल पीने को मिलता है।"[2]

(घ) भावुकता :

द्विवेदीजी सरलता, सहानुभूति, करुणा और भावुकता के अवतार थे। वस्तुतः, वे बड़े सरल एवं भावुक थे। सामान्यतः, सन्तानहीनता और पत्नी-वियोग से लोगों का व्यवहार नीरस हो जाया करता है और उनके हृदय मे उदासीनता, कटुता एवं नैराश्य का वास हो जाता है। परन्तु, द्विवेदीजी ने विषपायी शिव की भाँति अपने जीवन के सभी अभावों को पी डाला था। इसी कारण उनके हृदय पर संगीत और रुदन का इतना अधिक प्रभाव पड़ता था कि कभी-कभी वे उसी में खो जाते थे। यह तन्मयता उनकी अतिशय भावुकता की देन थी। उनकी भावुकता के सम्बन्ध में इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि जब कभी वे ग्रामीण स्त्रियों के मुख से 'बिछुड़ गई जोड़ी, मोरे रामा....' आदि गीत सुनते थे, तब वे आत्मविभोर हो जाया करते थे। उन ग्रामीण कुलशीला गृहिणियों की तो बात ही अलग है, एक बार किसी उत्सव में नर्त्तकी वेश्या के मुँह से 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' सुनकर वे उसी की भावुकता में डूब गये थे। अपनी इस भावुकता के कारण वे सभी परिचितों

---

१. डॉ० शंकरदयाल चौऋषि : 'द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन, पृ० १४६।

२. डॉ० रामसकल राय शर्मा : 'द्विवेदी-युग का हिन्दी-काव्य', पृ० ५०।

के लिए कभी नहीं भूलनेवाले व्यक्ति बन गये हैं। **श्रीवृन्दावनलाल वर्मा** ने उनकी भावुकता का एक संस्मरण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :

"सन् १९२२ ई० के लगभग जब **विद्यार्थीजी (श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी)** पर रायबरेली में दफा ५०० का मुकदमा चला, मै भी पैरवी के लिए जाया करता था। एक दिन देखें, तो द्विवेदीजी कानपुर स्टेशन पर गाड़ी चलने के पहले आ गये। विद्यार्थीजी साथ थे। उन्हे द्विवेदीजी बहुत प्यार करते थे। मुझसे कहा : भैया वर्माजी, गणेशजी की पैरवी अच्छी तरह करना—आगे कुछ न कह सके। गला भर आया और आँखें छलक आई ।"[१]

आँखों के सजल हो जाने के अनेकानेक प्रसंग द्विवेदीजी के जीवनवृत्त में मिलते हैं। सम्बन्धियों के स्मरण-मात्र से उनकी आँखें भर जाती थी। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जन्मस्थान दौलतपुर के स्मरण से द्विवेदीजी कितने भावविह्वल हो गये थे, इसका विवरण **श्रीअमरबहादुर सिंह अमरेश** ने किया है :

"...जीने के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हो रहे थे। डॉक्टर शंकरदत्तजी ने दुःखी मन से द्विवेदीजी से पूछा : 'क्या आप दौलतपुर जाना चाहते हैं ?' यह प्रश्न सुनते ही आचार्यजी के नयन छलछला उठे। शरीर मे रोमाच-सा हुआ। कुछ चेतना जगी। उन्होंने अपने शरीर की सम्पूर्ण पीड़ा समेटकर बहुत दृढ़ शब्दों मे उत्तर दिया : 'दौलतपुर में क्या धरा है, जो वहाँ जाऊँ। जो होना है, वह अब यहीं होगा। यह मेरे प्रस्थान का समय है।' उनके इस उत्तर से सभी का अन्तस् डोल उठा।"[२]

इस प्रकार, अपनी करुणा एवं भावुकता के द्वारा द्विवेदीजी ने अपने हृदय की कोमलता एवं सहृदयता को प्रत्येक अवसर पर अभिव्यक्ति प्रदान की थी।

(ङ) विनोदशीलता :

द्विवेदीजी के व्यक्तित्व एवं लेखनी से जिस गाम्भीर्य का बोध होता है, उसका अपना विशिष्ट परिवेशगत औचित्य है। उनकी मुखाकृति से ही विदित होता है कि उनमें गम्भीरता थी। परन्तु, इस गम्भीरता के पीछे उनका सरल एवं निष्कपट विनोदी मन अधिक समय तक छिपा नहीं रहता था। हास्य-विनोद में रुचि रखने की उनकी जो स्वभावगत विशिष्टता थी, उसका प्रकाशन उन्होंने कई अवसरों पर किया था। एक बार किसी ने उनसे कहा कि पण्डितजी, आज आपका चित्र लिया जायगा। इसपर द्विवेदीजी ने सविनोद कहा— 'भाई, सच। मैं तो देहात का रहनेवाला हूँ। अगर, मुझे मालूम होता, तो कम-से-कम एक कोट का इन्तजाम कर लेता।' इसी प्रकार,

---

१. श्रीवृन्दावनलाल वर्मा : 'सस्मरण', भाषा : द्विवेदी-स्मृति-अक, पृ० १८।

२. श्रीअमरबहादुर सिंह अमरेश : 'जीवन की सान्ध्य वेला में', उपरिवत्, पृ० ६४।

एक बार उन्होंने हिन्दी के ख्यातिप्राप्त कवि एवं तत्कालीन 'प्रताप' के सम्पादक **श्रीबालकृष्ण शर्मा नवीन** की शृंगार-रस से ओतप्रोत कविताओं पर विनोदपूर्ण कटाक्ष किया था। उन्होंने नवीनजी से हँसी-हँसी में पूछ डाला : 'काहे हो बालकृष्ण, ई तुम्हार सजनी-सखी-सलानी-प्राण को आय ? तुम्हार कविता मां इनका बड़ा जिकर रहत ह ?' नवीनजी यह उक्ति सुनकर झेंप गये थे। व्यवहार की ही भाँति लेखन में भी उन्होंने हास्य-व्यंग्य को यथावसर अपनाया है। उनकी ६८वीं वर्षगाँठ के अवसर पर कुछ लोगों ने ६७ वीं वर्षगाँठ को ही मनाया। इसपर द्विवेदीजी ने लिखा :

"किसी-किसी ने ९वी मई, १९३२ ई० को सरसठवी ही वर्षगाँठ मनाई है। जान पड़ता है कि इन सज्जनों के हृदय मे मेरे विषय के वात्सल्यभाव की मात्रा कुछ अधिक है। इसी से उन्होंने मेरी उम्र एक वर्ष कम बता दी है। कौन माता-पिता या गुरुजन ऐसा होगा, जो अपने स्नेहभाजन की उम्र कम बतलाकर उसकी जीवनावधि को और भी आगे बढा देने की चेष्टा न करेगा ?"[१]

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की ऐसी विनोदपूर्ण उक्ति को पढकर किसके होठों पर हँसी की रेखा नहीं फूट पड़ेगी। अतः, स्पष्ट है कि उनके व्यक्तितत्व का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उनकी विनोदशीलता भी थी।

(च) विनम्रता और शालीनता :

द्विवेदीजी को कई महानुभावों ने रूक्ष और कठोर प्रकृति का बतलाया है। परन्तु, उनके परिचितों-शिष्यों आदि को यह सर्वदा अनुभव रहा है कि कभी-कभी उनका विनय-प्रदर्शन अपनी सीमा को भी पार कर जाता था। वस्तुतः, द्विवेदीजी बड़े ही शालीन और विनयशील पुरुष थे। अपने ख्यात आत्मचरित में उनकी यह विनम्रता लेखनी के माध्यम से भी फूट निकली है :

"मुझे आचार्य की पदवी मिली है। क्यों मिली है, मालूम नहीं। कब, किसने दी है, यह भी मुझे मालूम नहीं। मालूम सिर्फ इतना ही है कि बहुधा इस पदवी से विभूषित किया जाता हूँ। यह लक्षण तो मुझपर घटित होता है नहीं; क्योंकि मैंने कभी किसी को इक्का एक भी नही पढ़ाया। शंकराचार्य, मध्वाचार्य, सांख्याचार्य आदि के सदृश किसी आचार्य के चरण-रजकण की बराबरी मैं नहीं कर सकता। बनारस के संस्कृत-कालिज या किसी विश्वविद्यालय में भी मैंने कभी कदम नहीं रखा। फिर, इस पदवी

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : कृतज्ञता-ज्ञापन, 'भारत', द्वि० २२-५-३२ ई०।

का मुस्तहक कैसे हो गया ? विचार करने पर मेरी समझ में इसका एकमात्र कारण मुझपर कृपा करनेवाले सज्जनो का अनुग्रह ही जान पड़ता है।"[१]

हिन्दी के साहित्येतिहास में युग-निर्माण की क्षमता रखनेवाले आचार्य की इन पंक्तियों से उनकी विनम्रता ही झलकती है। अपनी शालीनता के कारण मान एवं सम्मान की उन्होंने परवाह नहीं की। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने उन्हें कई बार अधिवेशनों की अध्यक्षता करने के लिए आमन्त्रित किया, परन्तु अपनी सहज विनय-शीलता के कारण अपने-आपको उक्त पद के लिए अयोग्य मानकर द्विवेदीजी ने सदैव अस्वस्थता आदि का बहाना बनाकर सम्मेलन के आमन्त्रण को टाला। सम्मेलन की ओर से द्विवेदीजी के अभिनन्दनार्थ प्रयाग में 'द्विवेदी-मेला' आयोजित करने का विचार किया गया, तब भी आचार्य महोदय ने इस मेले का विरोध किया था। लेकिन, मेला आयोजित हुआ। और, दिनांक ४-५-६ मई, १९३३ ई० को **पं० मदनमोहन मालवीय** के द्वारा उद्घाटित मेला **डॉ० गंगानाथ झा** की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। भरी सभा में डॉ० झा ने द्विवेदीजी को अपना गुरु स्वीकार किया और उनका चरणस्पर्श करने झुक पड़े। द्विवेदीजी संकोचवश तेजी से कुर्सी छोड़कर उठ गये। उस समय द्विवेदीजी ने कहा था : 'भाइयो, जिस समय डॉ० गंगानाथ झा मेरी ओर बढ़े, मैंने सोचा, यदि पृथ्वी फट जाती और मैं उसमें समा जाता, तो अच्छा होता।'[२] अपने भाषण में द्विवेदीजी ने 'द्विवेदी-मेला' के आयोजन का कारण अपने इन विनम्र शब्दों में अभिव्यक्त किया :

"आपने कहा होगा—बूढा है, कुलद्रुम है, आधि-व्याधियों से व्यथित है, निःसहाय है, सुत, दार और बन्धु-बान्धवों से रहित होने के कारण निराश्रय है। लाओ, इसे अपना आश्रित बना लें। अपने प्रेम, अपनी दया और अपनी सहानुभूति के सूचक इस मेले के साथ मेरे नाम का योग करके इसे कुछ सान्त्वना देने का प्रयत्न करें, जिससे इसे मालूम होने लगे कि मेरी भी हितचन्तना करनेवाले और शान्तिदान का सन्देश सुनानेवाले सज्जन मौजूद हैं।"[३] द्विवेदीजी अपनी शालीनता और ऋजुता के लिए चाहे जो भी कहें, परन्तु उक्त द्विवेदी-मेला हिन्दी-संसार की, आचार्यप्रवर की सेवा में अर्पित एक पुष्पांजलि-मात्र था। द्विवेदीजी का तो स्वभाव ही मान-सम्मान से अनासक्त रहने का था। अपने विनय के कारण वे जीवन-भर लक्ष्मी के वरदान से वंचित रहे।

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'मेरी जीवन-रेखा', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० ११।

२. 'सरस्वती', भाग ४०, संख्या २, पृ० १६४।

३. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'मेले के अवसर पर दिया भाषण', पृ० ९।

(छ) कर्त्तव्यपरायणता :

अदम्य उत्साह, साहस, लगन और निष्ठा के साथ द्विवेदीजी ने प्रत्येक कार्य को अपनाया और कर्मक्षेत्र में विभिन्न बाधाओं को झेलकर, विभिन्न शिलाओं को हटाकर उन्होंने अपना मार्ग चौरस किया। प्रारम्भिक जीवन से 'सरस्वती' के सम्पादन तक उन्हें विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। परन्तु, अपनी ईमानदारी और अटूट कर्त्तव्यपरायणता के कारण वे प्रत्येक संग्राम में विजयी हुए। जब द्विवेदीजी ने रेलवे की नौकरी प्रारम्भ की थी, तब उन्होंने अपने कुछ आदर्श बनाये थे। उन्होंने स्वयं लिखा है :

"... मैंने अपने लिए चार सिद्धान्त या आदर्श निश्चित किये। यथा : १. वक्त की पाबन्दी करना, २. रिश्वत न लेना, ३. अपना काम ईमानदारी से करना और ४. ज्ञानवृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना।'[१] काम करने की लगन और निष्ठा के कारण ही रेलवे मे उनकी शीघ्रता से पदोन्नति होती गई। यही मूल सिद्धान्त उन्होंने साहित्य-सेवा करते हुए भी अपना रखे थे। 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य करते समय भी द्विवेदीजी ने तत्कालीन एवं परवर्त्ती सम्पादकों के समक्ष कर्त्तव्यपरायणता का उच्च आदर्श रखा। इसी कारण, 'सरस्वती' को भी लोकप्रियता मिली और द्विवेदीजी सारे हिन्दी-प्रेमियों के लिए पूज्य बन गये। इस कर्त्तव्य के पीछे उन्होंने अपने शरीर की अस्वस्थता की परवाह नही की, परन्तु उनके काम में कभी ढीलापन नहीं आया।

(ज) समयज्ञता :

द्विवेदीजी को काम की ईमानदारी जिस सीमा तक प्रिय थी, उसी सीमा तक वे समय के महत्त्व को भी पहचानते थे। बचपन से ही वक्त की पाबन्दी उनके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण गुण बनकर घुल-मिल गई थी। रेलवे की नौकरी करते समय उनकी समयज्ञता से उनके अफसर बड़े प्रसन्न रहते थे। जब द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथों में लिया, तब 'सरस्वती' के समय पर प्रकाशित हो जाने का पूरा भार उन्होंने अपने सिर पर ले लिया। उन्होंने स्वयं लिखा है :

'प्रेस की मशीन टूट जाय, तो उसका जिम्मेदार मैं नही। पर कॉपी समय पर न पहुँचे, तो उसका जिम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम कर किया। चाहे पूरा-का-पूरा अंक मुझे ही क्यों न लिखना पड़ा हो, कॉपी

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'मेरी जीवन-रेखा', 'भाषा : द्वि० स्मृ० अंक, पृ० १२।

समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहाँतक किया कि कम-से-कम छ: महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रखी। सोचा कि यदि मैं महीनों बीमार पड़ जाऊँ, तो क्या हो ?''[१]

अपनी पत्रिका के अंक को समय की इस पाबन्दी के साथ परिश्रम-सहित निकलवानेवाले सम्पादक अब कहाँ हैं ? उनके इन्ही गुणों पर रीझकर इण्डियन प्रेस के मालिक **श्रीचिन्तामणि घोष** ने कहा था : 'हिन्दुस्तानी सम्पादकों मे मैंने वक्त की पाबन्दी और कर्त्तव्यपालन के विषय मे दृढप्रतिज्ञ दो ही आदमी देखे है, एक तो **रामानन्द बाबू (श्रीरामानन्द चटर्जी)** और दूसरे आप।' सरस्वती की ही भाँति अपने जीवन-क्रम को भी एक बँधे हुए समय में चलाने की आदत द्विवेदीजी की थी। उनकी दिनचर्या निश्चित थी। सुबह उठने; लिखने, भोजन करने, टहलने, लोगों से मिलने आदि सबका समय निश्चित था। एक बार एक आइ० सी० एस्० महोदय को उनसे मिलने के लिए आधे घण्टे तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी; क्योंकि द्विवेदीजी का मिलने का समय नही हुआ था। द्विवेदीजी वादे के बड़े पक्के और समय के पूरे पाबन्द थे। यदि कभी उनके मुँह से निकल गया कि आपके घर अमुक दिन अमुक समय पर आऊँगा, तो विघ्न-समूह के होते हुए भी वचन पालन करते थे। समयज्ञता के इन्हीं गुणों के कारण उन्हे अपने पूरे जीवन मे कभी संयम अथवा दृढता की कमी नहीं महसूस हुई।

(झ) न्यायप्रियता :

अपने वैयक्तिक जीवन एवं साहित्यिक क्षेत्र में द्विवेदीजी पूर्ण-रूप से पक्षपात-रहित व्यवहार करते थे। लेखक उनके लिए परिचित हों अथवा अपरिचित, सबकी रचनाओं में वे समान भाव से काट-छाँट करते थे। इसी भाँति, दोष देखने पर वे अपने अतिप्रिय शिष्यों एवं मित्रों को भी डाँटने से बाज नहीं आते थे। इसी पक्षपात-हीनता के साथ उन्होंने 'सरस्वती' में नये-पुराने सभी लेखकों को स्थान दिया। न्यायप्रियता का उनका यह गुण 'सरस्वती' के सम्पादन से अवकाश लेने पर और भी पल्लवित हुआ। अपने गाँव दौलतपुर जाने पर कुछ समय तक वे ऑनरेरी मजिस्ट्रेट रहे और उसके बाद ग्राम-पंचायत के सरपंच रहे। इन पदों पर रहते हुए उन्होंने न्याय में सदा निष्पक्ष-भावना से काम लिया। उनकी कठोर न्यायप्रियता से अनेक लोग असन्तुष्ट हुए, किन्तु द्विवेदीजी ने इसकी कुछ भी परवाह नहीं की। वे न्याय पर डटे रहे।

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'मेरी जीवन-रेखा', 'भाषा' : द्वि० स्मृ० अंक, पृ० १५-१६।

न्याय की रक्षा के लिए यदि किसी अकिंचन को आर्थिक दण्ड दिया, तो करुणा के वशीभूत होकर उन्होंने उसका जुरमाना अपने पास से भी चुकाया था। सम्पादक, ऑनरेरी मुंसिफ और सरपंच के पदों पर रहते समय उन्हें न जाने कितने प्रलोभन दिये गये। परन्तु, उन सबको ठुकराकर द्विवेदीजी ने सचाई और न्याय की रक्षा की। सम्पादन-काल में अपने हानि-लाभ की परवाह न करके उन्होंने सदा ही 'सरस्वती' के स्वामी और पाठकों का ध्यान रखा। इसी प्रकार, 'न्यायाधीश' के पद से उन्होंने पाप और पुण्य को निष्पक्ष भाव से न्याय की तुला पर तौला। इस न्यायप्रियता ने द्विवेदीजी के व्यक्तित्व के उत्कर्ष को एक अतिरिक्त आधार दिया।

(ञ) व्यवहारकुशलता एवं अतिथि-सेवा :

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अपने निष्कपट व्यवहार, सरल एवं सरस प्रेम तथा सहृदयता के कारण औरों के लिए ईर्ष्या करने योग्य आचरणवाले पुरुष थे। जीवन-भर उन्होंने अपने सभी परिचितों-सम्बन्धियों के साथ यथायोग्य कुशल व्यवहार किया और अपने आचरण से सबको मोहित रखा। द्विवेदीजी शिष्टाचार के पूरे पालक थे। जब कोई उनके पास जाता, तब अपनी डिबिया से दो पान उसे देते और बातचीत समाप्त होने पर फिर दो पान देते, जो इस बात का संकेत होता था कि अब आप जाइए। उनके शिष्टाचार में किसी प्रकार का आडम्बर नहीं था। वे सही अर्थों में शिष्ट आचार के समर्थक थे। बातचीत के क्रम में वे अपने सरल एवं सहृदय स्वभाव की छाप बातचीत करनेवाले के मन पर छोड़ देते थे।

व्यावहारिक कुशलता के बीच द्विवेदीजी के आचरण की एक विशिष्टता उनकी अतिथि-सेवा थी। जिन्हें उनका अतिथि बनने का गौरव प्राप्त हुआ, वे इस सत्य से भली भाँति परिचित थे कि अपने प्रत्येक अतिथि की सेवा वे आत्मविस्मृत होकर किया करते थे। एक बार कानपुर में **श्रीकेशवप्रसाद मिश्र** उनके घर रात में ठहरे। जब वे सोकर उठे,तब देखा कि द्विवेदीजीस्वयं लोटे में जल लेकर खड़े हैं। मिश्रजी लज्जित हो गये। इसपर द्विवेदीजी ने कहा कि वाह, तुम तो मेरे अतिथि हो। उनके अतिथि-सत्कार का एक ऐसा ही संस्मरण **पं० सीताराम चतुर्वेदी** ने लिखा है : "एक बार मैं रायबरेली के कवि-सम्मेलन में गया। विचार हुआ कि दौलतपुर जाकर दर्शन कर आया जाय। मै पहुँचा, तो दिन ढल रहा था, देखते ही उठ खड़े हुए और अत्यन्त आत्मीयतापूर्ण स्नेह से पूछा : 'अरे, यह अकस्मात् विना पूर्व सूचना दिये कहाँ से ?' मैंने कहा कि 'मन्दिर में सूचना देकर थोड़े ही कोई जाता है ?' बड़े गद्‌गद हुए। जलपान की व्यवस्था करने लगे। मैंने बहुत आग्रह किया कि उपचार न कीजिए। उन्होंने कहा कि 'उपचार नहीं है, यह आतिथ्याचार है।' वे मेरे दुरभ्यास से परिचित थे कि मैं कहीं खाता-पीता नहीं हूँ।

इसलिए झट बोले : 'मैं सब जानता हूँ, और फिर एक पनसेरी लोटे में ईख का रस दूध मिलाकर ले आये ।''[1] द्विवेदीजी के आतिथ्य एवं शिष्टाचार की भूरि-भूरि प्रशंसा **पं० देवीदत्त शुक्ल, डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र, हरिभाऊ उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, लक्ष्मीधर वाजपेयी, चिन्तामणि घोष** आदि सभी ने की है। अपनी व्यवहार-कुशलता तथा अतिथि-सत्कार के कारण वे अपने परिचितों के बीच एक आदर्श-स्वरूप थे ।

(ट) व्यवस्थाप्रियता :

द्विवेदीजी स्वभाव से ही व्यवस्थाप्रिय थे । वे सिद्धान्त और शुद्धता के पक्षपाती थे। प्रत्येक कार्य में वे व्यवस्था, नियमितता, अनुशासन और स्पष्टता की अपेक्षा रखते थे । वे स्वयं औरों के साथ इन्हीं के अनुकूल आचरण करते थे और औरों से भी ऐसी ही नियमितता एवं सुव्यवस्था की आशा करते थे । उन्होंने वाणी के स्थान पर कर्म को अपने आदर्शों के प्रचार का माध्यम बनाया । मार्ग में गोबर, काँच, काँटा आदि पड़ा देखकर वे उन्हें रास्ते से हटा देते थे । यह देखकर अन्य लोगों को भी ऐसे सत्कर्मों की प्रेरणा मिलती थी । अपने घर में भी द्विवेदीजी बड़ा व्यवस्थित और नियमबद्ध जीवन बिताते थे । उनके घर में प्रत्येक वस्तु ठिकाने से उचित स्थान पर रखी जाती थी । अपनी पुस्तकों की सफाई वे स्वयं करते थे। पुस्तकें उन्हें प्राणों से अधिक प्रिय थीं । यदि वे किसी को उन्हें पढ़ने के लिए देते थे, तो पूरी हिदायत के साथ कि उनमें कहीं कोई दाग, स्याही अथवा गन्दगी न लगने पाये । व्यवस्था और नियमितता-सम्बन्धी द्विवेदीजी की कठोरता इस सीमा तक थी कि एक बार उनकी पत्नी ने थाली में रखे गये पदार्थों का नियमित क्रम भंग कर दिया, तब उन्हें भर्त्सना सुननी पड़ी थी। इस प्रकार, द्विवेदीजी की व्यवस्थाप्रियता और सनियम जीवन बिताने की चारित्रिक विशेषताएँ जीवन-भर उनके साथ संलग्न रहीं । इस प्रकार, वस्तुतः, वे साहित्य और जीवन प्रत्येक क्षेत्र में एक सुव्यवस्था चाहते थे । इसी सुव्यवस्था को लाने के लिए उन्होंने पहले अपने रहन-सहन को व्यवस्थित किया, फिर अपने साहित्य में व्यवस्था को सर्वोपरि महत्त्व दिया । इन्हीं कारणों से वे हिन्दी के साहित्यिक विकास को एक व्यवस्थित मोड़ दे सके । अतएव, आचार्य द्विवेदीजी की व्यवस्थाप्रियता का भी अपना एक साहित्यिक महत्त्व है ।

(ठ) प्रतिभा की परख :

द्विवेदीजी स्वयं बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे । इसी कारण, उन्होंने जिस शीघ्रता से रेलवे-विभाग के विभिन्न कार्यों की जानकारी हासिल कर ली थी, उसी प्रतिभा के

---

१. 'आचार्य द्विवेदीजी' : सं० निर्मल तालवार, पृ० ३० ।

साथ उन्होंने न केवल हिन्दी की विविध विधाओं में लेखनी दौड़ाई, अपितु साहित्यिक इतिहास में अपना युगान्तरकारी मानदण्ड भी स्थापित किया। जिस भाँति उनकी प्रतिभा प्रखर थी, उसी भाँति औरों की प्रतिभा को परखने की अन्तर्दृष्टि भी उनमें थी। उनमें साहित्यकारों की प्रतिभा को परखने की विलक्षण शक्ति थी। वे लेखकों की प्रारम्भिक रचनाएँ देखकर ही उनके भविष्य के बारे में आश्वस्त हो जाया करते थे और होनहार साहित्यसेवियों को हर सम्भव प्रोत्साहन देते थे। अपने अनुरोध, प्रेरणा और प्रोत्साहन द्वारा वे लेखकों की प्रतिभा को जगाने का कार्य करते थे। उनका यह कार्य अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। **आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी** ने लिखा है :

"द्विवेदीजी के ही उद्योग और प्रोत्साहन का परिणाम है कि **श्रीमैथिलीशरण गुप्त** ऐसे भारतप्रसिद्ध कवि, **बाबू गोपालशरण सिंह** ऐसे सत्कवि और **पं० रामचरित उपाध्याय** ऐसे पण्डित कवि हिन्दी में दिखाई पड़े।"[१] द्विवेदीजी के प्रोत्साहन एवं अनुरोध पर हिन्दी-साहित्य के सेवियों की जो सेना तैयार हुई, उसकी सूची बहुत लम्बी है। इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी लेखकों की प्रतिभा भली भाँति परखते थे। इसी गुणग्राहकता को वे अपने जीवन में भी अमल में लाते थे। अपने उदार और उन्नत विचारों के कारण द्विवेदीजी ने गुणदोष-सम्बन्धी निजी विवेक सर्वदा परिष्कृत बनाये रखा। और, इसी गुणग्राहकता के आधार पर वे व्यक्तियों या संस्थाओं की समीक्षा-प्रशंसा करते रहे।

(ङ) संग्रहवृत्ति :

द्विवेदीजी की संग्रह-भावना भी सराहनीय थी। वे सभी पुराने कागजों, लिफाफों, पैकेटों की डोरियों, अखबार की कतरनों आदि को सँभालकर रखते थे और अवसर आने पर उनका उपयोग करते थे। **आचार्य शिवपूजन सहाय** ने लिखा है :

"बण्डलों के अन्दर कागजों का सिलसिला देखकर आचार्य द्विवेदी के अपूर्व संग्रहानुराग पर बड़ा ही आश्चर्य होता है। चिट्ठियों के लिफाफे, रजिस्ट्री और तार की रसीदें, अखबारों के रैपर और कटिंग सब सुरक्षित रखे हैं।"[२]

वास्तव में, उनके जैसा संग्रही सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् में दूसरा नहीं दृष्टिगोचर होता है। **डॉ० उदयभानु सिंह** ने भी लिखा है :

"काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित 'सरस्वती' के स्वीकृत और अस्वीकृत लेखों की हस्तलिखित प्रतियाँ, उनकी निजी रचनाओं की हस्तलिखित प्रतियाँ,

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी', पृ० १।

२. आचार्य शिवपूजन सहाय : 'शिवपूजन-रचनावली', भाग ४, पृ० १८१।

पत्र-पत्रिकाओं की कतरनें, कला-भवन और कार्यालय में तीस हजार पत्र, सैकड़ों पत्रिकाओं की फुटकल प्रतियाँ, दस आलमारी पुस्तकें, दौलतपुर में रक्षित पत्र, कतरने, न्याय-सम्बन्धी कागज-पत्र नक्शे, चित्र, हस्तलिखित रचनाएँ आदि एक महान् पुरुष की संग्रह-भावना की साक्षी है।''[२]

निष्कर्षतः, द्विवेदीजी की यह संग्रहवृत्ति भी परवर्त्ती शोधकर्त्ताओ के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हुई हैं।

(ढ) दानवीरता :

द्विवेदीजी अपने पास कागज-पत्रों का संग्रह करते थे, परन्तु अपने पास के धन का खुले हाथों से दान करते थे। वे अपने आय-व्यय के पैसे-पैसे का हिसाब रखते थे। बाहर से आनेवाले पत्रो, अखबारों आदि के लिफाफों और सादे कागजों का वे मितव्ययिता के साथ उपयोग करते थे। परन्तु, इतनी मितव्ययिता के साथ पूरा परिश्रम करके जिस धन का उन्होंने अर्जन किया, उसका अधिकांश उन्होने दान कर दिया। अपनी गाढ़ी कमाई के ६४०० रु० उन्होंने काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय को दान कर दिये। अपने दौलतपुर के निवासकाल मे उन्होंने गाँव के गरीबो की लड़कियों के विवाह में, निर्धनों की विपन्नावस्था में एवं विधवाओं के संकट में सदैव सहायता की। परोपकार में ही उन्हें आनन्द मिलता था।

(ण) धार्मिक आचरण :

द्विवेदीजी ईश्वर में अटल विश्वास रखते थे, परन्तु उन्होंने अपने को कभी धार्मिक बन्धनों में नही जकड़ा। वस्तुतः, वे आडम्बर अथवा दिखावा पसन्द नहीं करते थे। इसी कारण बाह्य दृष्टि से देखनेवाले आसपास के लोग उन्हें प्रायः नास्तिक समझते थे। वे नियमित रूप से पूजा-पाठ, सन्ध्या-वन्दन आदि कुछ भी नहीं करते थे। परन्तु, कर्मकाण्ड का वे पूरी तरह पालन करते थे। शुभकार्य को सगुन या घड़ी विचार कर करते थे। विवाह आदि की परम्परित रीतियों का वे पालन करते थे। श्रीमद्भागवत और रामायण में भी श्रद्धा रखते थे। फिर भी, धार्मिक बन्धन उन्हें जकड़ नहीं सके। आडम्बरहीन ईश्वर-भक्ति करनेवाले द्विवेदीजी यह कभी नहीं भूलते थे कि वे उच्च ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हैं। उग्रता, कठोरता, समयज्ञता, व्यवस्थाप्रियता, न्यायप्रियता आदि उनकी कई चारित्रिक विशेषताओं का उनके व्यक्तित्व में विकास ब्राह्मणोचित शैली में ही हुआ। द्विवेदीजी के हृदय में अपनी जाति की वजह से कुछ दुर्बलताएँ भी थीं। उन्होंने सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज (काशी) में

---

२. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ५५।

एक छात्रवृत्ति चलाई थी और यह शर्त रखी थी कि उनकी छात्रवृत्तियाँ काव्यकुब्ज ब्राह्मण छात्र को ही दी जायँ। ब्राह्मणों के विरुद्ध कुछ भी सुनने पर वे आपे से बाहर हो जाते थे। इस प्रकार, धार्मिक दिशा में आडम्बरहीनता के पक्षधर होते हुए भी द्विवेदीजी ब्राह्मणत्व के गौरव का आजीवन वहन करते रहे।

(त) ग्रामसुधार :

अपनी साहित्यिक उपलब्धियों तथा आचार्यत्व की गरिमा से द्विवेदीजी ने परवर्त्ती साहित्य-चिन्तकों की आँखें इतनी चौंधिया दी हैं कि लोगों को उनके व्यक्तित्व के अन्य किसी पक्ष का भान नहीं हो पाता है। उनके विशाल व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है—ग्रामसुधार। 'सरस्वती' से अवकाश पाने के बाद द्विवेदीजी अपने गाँव दौलतपुर में रहने लगे, तब से सरपंच के रूप मे किये गये उनके कार्य भारतीय पंचायतों के इतिहास में ग्राम-विकास की दृष्टि से बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। अपने गाँव की सफाई के लिए उन्होंने वहाँ एक भंगी को लाकर बसाया। गाँव में अस्पताल, डाकघर, मवेशीखाना आदि उन्होंने बनवाये। आमों के कई बाग भी उन्होंने लगवाये। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि अशिक्षित ग्रामवासियों को शिक्षित करके ही भारत का विकास हो सकता है। उन्होंने इस दिशा में प्रयास भी किये। वे सरपंच के नाते बहुत ही लोकप्रिय हुए थे; क्योंकि वे न्यायप्रिय तथा ग्रामसुधारक थे। उनका मृत्यु-दिवस, २१ दिसम्बर, १९३८ ई०, जिस भाँति हिन्दी-साहित्य के लिए महान् शोक का दिवस है, उसी भाँति वह दिन पंचायतों तथा ग्रामसुधार के इतिहास में भी वज्रपात का दिन है :

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की इन विविध चारित्रिक एवं स्वभावगत विशेषताओं के समक्ष उनका बाह्य विशाल व्यक्तित्व सूक्ष्म-सा लगने लगता है और सुरसा-विजेता महावीर जैसा उनका अन्तर्व्यक्तित्व विराट् हो जाता है। **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** ने लिखा है : "अन्तर्व्यक्तित्व उनका सूक्ष्म होते हुए भी स्थूल तथा गहन था। नियमबद्धता, नियमितता और अनुशासन ने उनके जीवन को अत्यन्त कठोर, संयमशील और कर्मठ बना दिया था। सत्याग्रह, प्रतिभा और गहन अध्ययन ने उनके स्वाभिमान को जागरित कर दिया था। महावीर की-सी सेवा-भावना, लगन, अगाध शक्ति, साहस, निरभिमानता, दृढ़ता आदि गुण उन्हें अपनी पैतृक धरोहर तथा इष्टदेव के प्रसाद के रूप में प्राप्त थे। सीधा, सरल, स्पष्ट तथा स्वाभाविक व्यवहार उन्हें प्रिय था, इसके विपरीत टेढ़े और आडम्बरपूर्ण जीवन से घृणा थी। शिष्टाचार, विनम्रता, धैर्य और सादगी की वे प्रतिमूर्त्ति थे। सत्यनिष्ठा और गुणग्राहकता उनके जीवन की टेक थी। दान देना उनकी बान थी तथा आत्माभिमान थी उनकी शान। निर्भयता और

स्पष्टवादिता उनके रक्त का स्वभाव था। परिश्रम करना ही उनका प्रमुख व्यसन था।''[१]

इन्हीं विशेषताओं से भरा-पूरा द्विवेदीजी का व्यक्तित्व ही हिन्दी-भाषा और साहित्य को एक नया मोड़ देनेवाला तथा आचार्य-परम्परा का सूत्रपातकर्त्ता हो सकता था। निश्चय ही, द्विवेदीजी के विशाल एवं महान् व्यक्तित्व का समुचित प्रभाव उनके निजी एवं तत्कालीन साहित्य पर पड़ा। **श्रीकृष्णाचार्य** ने ठीक ही लिखा है : "यह सम्भवत: सर्वमान्य सत्य है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी की कृतियों से बढ़कर उनका व्यक्तित्व है। निस्सन्देह, कृतित्व और व्यक्तित्व की सम्पूर्णता विरल होती है। इटालियन कलाकार **माइकेलेंजलो**, इंगलिश दार्शनिक **फ्रांसिस बेकन**,जर्मन कवि **गेटे**,फ्रेंच **वाल्टेयर** और रूसी **ताल्सताय** ऐसे व्यक्तित्व थे, जिनका जीवन साधारण था और कृतियाँ प्रतिभा-किरण से पूरित। इनकी जीवनी की थाह लगती है, न कि कृतियों की। और, ऐसे भी लोग हैं, जैसे **कोपाटकिन, गान्धी, जवाहरलाल नेहरू**, इनको समझकर भी हठात् मुँह से यह निकलपड़ता है—ऐसे भी मनुष्य इस संसार में हुए थे,जो हमलोगों की तरह ही थे,किन्तु अपने जीवन-क्रम में कितने विशिष्ट, कितने विश्वासनिष्ठ। द्विवेदीजी का व्यक्तित्व कुछ ऐसे ही तत्त्वों से बना था।''[२]

अतएव, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व एवं चरित्र की विशिष्टताओं को उनकी साहित्यिक उपलब्धियों के विशेष सन्दर्भ में रखकर महत्त्व देना ही होगा। इस दृष्टि से अनुशीलन करने पर द्विवेदीजी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की महानता और भी अधिक खुलकर सामने आती है। वे प्रत्येक दृष्टि से हिन्दी के भीष्मपितामह प्रतीत होते हैं।

---

१. डॉ० शंकरदयाल चौऋषि : 'द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन', पृ० १४६।

२. 'आचार्य द्विवेदी' : सं० निर्मल तालवार, पृ० ५६-५७।

तृतीय अध्याय

द्विवेदीजी का सम्पूर्ण साहित्य

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक लेखक और आचार्य के रूप में सर्वप्रतिष्ठित है। ऐसे ही मस्तिष्क की भगीरथ-शक्ति से संसार में नवीन विचारधाराओं को प्रवाहित करनेवाले महापुरुषों के सम्बन्ध में **गोस्वामी तुलसीदास** ने 'ते नरवर थोड़े जग माही' की सम्भावना प्रकट की है। आचार्य द्विवेदी ने कई वर्षों के सतत परिश्रम से खड़ी बोली के गद्य और पद्य की एक सच्ची व्यवस्था की और दोनों प्रणालियों द्वारा पूर्व और पश्चिम की पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी ज्ञान-सम्पत्ति हिन्दी-संसार को मुक्त हाथों से वितरित की। हिन्दी-भाषा और साहित्य की सेवा में निमग्न उनके अनेक रूप मिलते है। भाषा-शिक्षक, लेखक, सम्पादक, हिन्दी-भाषा-प्रचारक, भाषा-परिष्कारक, निबन्धकार, आलोचक, कवि, इतिहासकार आदि अनेक स्वरूपों में इस अनेकविध कर्म-पंखुड़ियों से युक्त महापुरुष के पारिजात को राष्ट्रभाषा के विशाल उद्यान में हम आज भी सौरभ बिखेरते हुए, प्रेरक एवं उत्साहवर्द्धक शक्ति के रूप में अनुभव कर सकते हैं। द्विवेदीजी को हम हिन्दी के अव्यवस्थित उद्यान की सुचारु व्यवस्था करनेवाले कुशल माली के रूप में ग्रहण कर सकते है। जंगली उपवन का मनचाहा विस्तार और प्राकृतिक रूप कितना ही मनोरम क्यों न हो, पर सुव्यवस्थित रमणीय उद्यान का प्रभाव सुसंस्कृत सभ्य नागरिक जनों पर कुछ और ही पड़ता है। और, यही कार्य आचार्य द्विवेदीजी ने नागरजनों के लिए हिन्दी का परिष्कार करके किया। **श्रीपदुमलाल पन्नालाल बख्शी** ने लिखा है :

"यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदीजी ने क्या किया, तो मैं उसे समग्र आधुनिक साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्ही की सेवा का फल है। कुछ लेखक ऐसे होते हैं, जिनकी रचना पर ही महत्ता निर्भर रहती है। कुछ ऐसे होते हैं, जिनकी महत्ता उनकी रचनाओं से नही जानी जा सकती। द्विवेदीजी की साहित्य-सेवा उनकी रचनाओं से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव समग्र साहित्य पर पड़ा है। मेघ की तरह उन्होंने विश्व से ज्ञानराशि संचित कर और उसे फिर बरसाकर समग्र साहित्योद्यान को हरा-भरा कर दिया। वर्त्तमान साहित्य उन्हीं की साधना का सुफल है।"[1]

---

१. 'आचार्य द्विवेदी' : सं० निर्मल तालवार, पृ० ११।

साहित्य की विविध विधाओं में द्विवेदीजी की प्रतिभा के अलग-अलग उन्मेष के दर्शन होते है। उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने कई क्षेत्रों में प्रवेश किया। इसका सहज ही अनुमान उनकी साहित्यिक उपलब्धियों की सूची द्वारा लगाया जा सकता है।

आचार्य द्विवेदीजी की रचनाओं की सबसे प्राचीन सूची 'हंस' (वर्ष ३, संख्या ८, मई, १९३३ ई०) में आचार्य **शिवपूजन सहाय** ने प्रस्तुत किया था। उन्होंने लिखा है :

"मैं शुरू से ही द्विवेदीजी की लिखी हुई सब पुस्तकों की नामावली तैयार कर रहा था। वह दिन-दिन नामावली बढ़ती गई। उसके संशोधन में **(देवीदत्त शुक्ल)** वर्त्तमान (सन् १९३३ ई०) सरस्वती-सम्पादक ने बड़ी सहायता दी। .... पं० **यज्ञदत्त शुक्ल** ने भी द्विवेदीजी की पुस्तकों की सूची बनाई थी।.... वह द्विवेदीजी के सम्बन्धी हैं। इसलिए, उनकी बनाई हुई सूची विशेष प्रामाणिक हो सकती है। सरस्वती-सम्पादक शुक्लजी के अनुरोध से उन्होंने अपनी सूची मुझे दे देने की कृपा की। मैंने अपनी और उनकी सूची एक करके द्विवेदीजी की सेवा में भेज दी। उसमें द्विवेदीजी ने यत्र-तत्र संशोधन-मात्र कर दिया।"[१]

इन कठिनाइयों और प्रक्रियाओं से गुजरने के बाद उन्होंने जो सूची प्रस्तुत की, वह इस प्रकार है :

पद्य :

१. देवीस्तुति
२. विनयविनोद
३. महिम्नःस्तोत्र
४. गंगालहरी
५. स्नेहमाला
६. विहार-वाटिका
७. काव्यमंजूषा
८. कविता-कलाप (कविता-संग्रह)
९. कुमारसम्भवसार
१०. सुमन (काव्यमंजूषा का नया संस्करण)
११. अमृतलहरी।

गद्य :

१. भामिनीविलास
२. बेकनविचार-रत्नावली
३. हिन्दी-कालिदास की समालोचना
४. अतीत स्मृति
५. हिन्दी-शिक्षावली के तृतीय भाग की समालोचना
६. स्वाधीनता
७. शिक्षा
८. सम्पत्तिशास्त्र
९. नाट्यशास्त्र
१०. हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति
११. हिन्दी-महाभारत
१२. रघुवंश

---

२. आचार्य शिवपूजन सहाय : 'शिवपूजन-रचनावली', भाग ४, पृ० १८०।

१३. मेघदूत
१४. किरातार्जुनीय
१५. नैषधचरितचर्चा
१६. विक्रमांकदेवचरितचर्चा
१७. कवि कालिदास
१८. आलोचनांजलि
१९. आख्यायिका-सप्तक
२०. कोविद-कीर्त्तन
२१. विदेशी विज्ञान
२२. जलचिकित्सा
२३. प्राचीन युद्ध
२४. चरितचर्या
२५. पुरावृत्त
२६. लोअर प्राइमरी रीडर
२७. अपर प्राइमरी रीडर
२८. शिक्षा-सरोज (रीडर, पाँच भाग)
२९. बालबोध या वर्णबोध (प्राइमर)
३०. जिला कानपुर का भूगोल
३१. कुमारसम्भव
३२. आध्यात्मिकी
३३. औद्योगिकी
३४. रसज्ञरंजन
३५. कालिदास
३६. वैचित्र्य-चित्रण
३७. विज्ञानवार्त्ता
३८. चरित्र-चित्रण
३९. विज्ञविनोद
४०. समालोचना-समुच्चय
४१. वाग्विलास
४२. साहित्य-सन्दर्भ
४३. वनिता-विलास
४४. महिलामोद
४५. अद्भुत आलाप
४६. सुकवि-संकीर्त्तन
४७. प्राचीन कवि और पण्डित
४८. संकलन
४९. विचार-विमर्श
५०. पुरातत्त्व-प्रसंग
५१. साहित्यालय
५२. लेखांजलि
५३. साहित्य-सीकर
५४. दृश्यदर्शन
५५. अवध के किसानों की बरबादी
५६. कानपुर के साहित्य-सम्मेलन का स्वागत-भाषण।
५७. आत्मनिवेदन (काशी के अभिनन्दनोत्सव में दिया गया भाषण)

इस सूची को प्रस्तुत करने के पश्चात् इन पुस्तकों के सम्बन्ध में **आचार्य शिवजी** ने कतिपय सूचनाएँ भी दी हैं। यथा : "पद्य की पुस्तकों में नं० १ से ६ तक बहुत पुरानी है। नं० १ सन् १८९२ ई० में और नं० २ सन् १८९९ ई० में छपी थी। गद्य की पुस्तकों में भी नं० १ से ५ तक बहुत पुरानी हैं। नं० ६ और ७ अँगरेजी से अनूदित प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। नं० ११ और १२ अनूदित होने पर भी मौलिक के समान आनन्दप्रद हैं। यही बात नं० १३ से १७ तक की पुस्तकों के बारे में भी कही जा सकती है। द्विवेदीजी की अनूदित पुस्तकें भी शुद्ध मौलिक प्रतीत होती हैं।

नं० ७ से ३२ तक की पुस्तकें सम्भवतः इण्डियन प्रेस, प्रयाग से निकली हैं। नं० ६ का प्रकाशन हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय (बम्बई) है। नं० ३३, ३४ और ३५ जबलपुर के राष्ट्रीय मन्दिर से तथा नं० ३८ और ३९ हिन्दी प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित है। नं० ४० के प्रकाशक है रामनारायण लाल, इलाहाबाद और नं० ४१ के हैं **वैदेहीशरण**, हिन्दी-पुस्तक-भण्डार, लहेरियासराय (बिहार)। नं० ३२ से ४७ तक का प्रकाशन लखनऊ के गंगा पुस्तकमाला-कार्यालय द्वारा हुआ है। नं० ४८ और ४९ काशी के भारती-भण्डार ने प्रकाशित किया है। नं० ५० चिरगाँव, झाँसी के साहित्य-सदन से, नं० ५१ पटना के खड्गविलास प्रेस से, नं० ५२ कलकत्ता की हिन्दी-पुस्तक एजेन्सी से, नं० ५३ प्रयाग के तरुण भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय से प्रकाशित है, नं० ५४ मतवाला मण्डल (कलकत्ता) से और नं० ५५ काशी के ज्ञानमण्डल-कार्यालय से प्रकाशित हैं। नं० १४ से २६ और नं० ३२ से ५४ तक की पुस्तकों में अधिकतर सरस्वती में प्रकाशित लेखों और सम्पादकीय नोटों का ही संग्रह है। कुछ लेख अन्य पत्रिकाओं के भी हैं। फिर भी, मेरा खयाल है कि द्विवेदीजी के बहुत छोटे-छोटे लेख अब भी पुस्तकाकार में संगृहीत नही हुए हैं। मैंने मोटे तौर पर हिसाब लगाकर देखा है कि २५-३० वर्षो के अन्दर आचार्य महोदय ने २०,००० पृष्ठों से भी अधिक लिखा है।"[१]

आचार्य शिवपूजन सहाय द्वारा प्रस्तुत सूची में द्विवेदीजी की सभी अप्रकाशित एवं अनेक प्रकाशित रचनाओं को सम्मिलित नही किया गया है। इसके साथ ही इस सूची में रचनाओं के प्रकाशन-काल एवं प्रकाशकों की पूरी तथा प्रामाणिक जानकारी भी नहीं दी गई है। अतएव, इस सूची को सर्वगुणसम्पन्न एवं अन्तिम नही माना जा सकता। इसकी प्रामाणिकता केवल इस बात में है कि इसमें परिगणित सभी कृतियाँ द्विवेदीजी द्वारा लिखी हुई ही हैं। आचार्य द्विवेदीजी की रचनाओं की दूसरी सूची **डॉ० प्रेमनारायण टण्डन**[२] ने प्रस्तुत की है। उन्होंने जिस सूची को प्रस्तुत किया है, उसमें **आचार्य शिवपूजन सहाय** की सूची से परे और भिन्न नामवाली पुस्तको की अतिरिक्त सूचना है :

१. देवीस्तुतिशतक
२. ऋतुतरंगिणी
३. वैज्ञानिक कोष
४. विदेशी विद्वान्
५. बालबोध या वर्णबोध
६. चरितचित्रण
७. साहित्यालाप
८. वक्तृत्व-कला
९. वेणीसंहार नाटक
१०. स्पेंसर की ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसाएँ

१. आचार्य शिवपूजन सहाय : 'शिवपूजन-रचनावली', खण्ड ४, पृ० १८१-१८२।
२. डॉ० प्रेमनारायण टण्डन : 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० १४।

डॉ० उदयभानु सिंह के अनुसार, "इस सूची के भी कुछ दोष समालोच्य हैं। लेखक ने द्विवेदीजी की किसी भी अप्रकाशित रचना का उल्लेख नहीं किया है। द्विवेदीजी की अनेक रचनाएँ छोड़ दी गई हैं। कहीं-कहीं रचना का नाम भी गलत दिया गया है, यथा 'वक्तृत्व-कला' और 'कालिदास' इन दोनों के मुखपृष्ठ पर क्रमशः 'भाषण' और 'कालिदास और उनकी कविता' नाम दिये हुए हैं। 'स्पेंसर की ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसाएँ' के अनुवादक द्विवेदीजी नहीं हैं। उनके लेखक लाला कन्नोमल हैं।"[1] इसके अतिरिक्त, **डॉ० टण्डन** ने भी प्रकाशन-वर्ष और प्रकाशक का उल्लेख नहीं किया है। अतएव, यह सूची भी पूर्ण तथा प्रामाणिक नहीं है। काशी-नागरी-प्रचारणी सभा, 'रूपाभ', 'साहित्य-सन्देश' आदि में भी द्विवेदीजी की कृतियों की जो सूचियाँ उपलब्ध हैं, उनकी भी यही स्थिति है। **डॉ० उदयभानु सिंह**[2] ने अपने शोध-प्रबन्ध में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कुल ८१ पुस्तकों की, उनके प्रकाशन-वर्ष एवं प्रकाशक की सूचना देते हुए, सूची प्रस्तुत की है। उनकी सूची में द्विवेदीजी की सभी प्रकाशित एवं अप्रकाशित कृतियों का विवरण है। **डॉ० सिंह** द्वारा प्रस्तुत सूची में ग्रन्थपुटीयता के सभी गुण नहीं है। किसी भी रचना के प्रामाणिक साक्ष्य के लिए, प्रकाशक, प्रकाशन-वर्ष और आकार-विवरण का विस्तृत उल्लेख होना आवश्यक है। इस दृष्टि से 'भाषा' के द्विवेदी-स्मृति-अंक[3] में प्रकाशित तथा **श्रीकृष्णाचार्य**[4] द्वारा प्रस्तुत सूचियाँ अपनी ग्रन्थपुटीय विशेषताओं के कारण सर्वांगपूर्ण है। उन्हीं के आधार पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के समग्र कृतित्व का अध्ययन यहाँ किया गया है।

आचार्य द्विवेदीजी का मौलिक काव्य-कृतियाँ :

१. **देवीस्तुतिशतक :** संस्कृत में प्रचलित स्तुतिप्रधान शतकों की शैली में द्विवेदीजी ने इस शतक की रचना सन् १८९२ ई० में की थी। जूही (कानपुर) में स्वयं ग्रन्थकार ने ही इसका प्रकाशन किया था। संस्कृत के गणात्मक छन्द वसन्ततिलका में लिखे गये इस शतक में देवी चण्डी की पद्यात्मक स्तुति की गई है। इस कृति की प्रतियाँ अब अनुपलब्धप्राय हैं। इस कारण अन्य जानकारी अन्धकार में है।

२. **नागरी :** सन् १९०० ई० में वेदविद्या-प्रचारिणी सभा, जयपुर द्वारा प्रकाशित यह लघु पुस्तिका नागरी-विषयक चार कविताओं का संग्रह है। २३ पृष्ठों की यह पुस्तिका १८ सें० के आकार की है।

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ८८।

२. उपरिवत्, पृ० ७८—८५।

३. 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति अंक, पृ० २४५—२६८।

४. 'आचार्य द्विवेदी' : सं० निर्मल तालवार, पृ० २३९—२४८।

सूची के आधार पर ही **डॉ० रामसकल राय शर्मा**[1] ने भी इन तीनों पुस्तकों का अस्तित्व आँख मूँदकर स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार, आचार्य द्विवेदीजी की मौलिक काव्य-कृतियों के रूप में पूर्वविवृत छह रचनाओं की ही गणना की जा सकती है।

आचार्य द्विवेदीजी का अनूदित काव्य-कृतियाँ :

१. **विनयविनोद** : भर्तृहरि-कृत 'वैराग्यशतक' के कुछ दोहों का पद्यात्मक अनुवाद इस पुस्तक के रूप में हुआ है। 'विनयविनोद' का प्रकाशन सन् १८८९ ई० में हुआ था। व्रजभाषा में लिखित इस दोहा-संग्रह को कवि की कला का प्राथमिक उन्मेष माना जा सकता है।

२. **विहार-वाटिका** : संस्कृत के कवि जयदेव के ख्यात ग्रन्थ 'गीतगोविन्द' का भावानुवाद, संक्षिप्त रूप में व्रजभाषा के छन्दों में, 'विहार-वाटिका' में हुआ है। इसका प्रकाशन सन् १८९० ई० में हुआ था।

३. **स्नेहमाला** : भर्तृहरि-विरचित 'श्रृंगारशतक' के श्लोकों का व्रजभाषा में अनुवाद कर द्विवेदीजी ने इसे 'स्नेहमाला' का रूप दिया था। इसका प्रकाशन सन् १८९० ई० में हुआ था।

४. **ऋतुतरंगिणी** : महाकवि कालिदास-कृत 'ऋतुसंहार' की छाया लेकर खड़ी बोली में रचे गये छन्दों का इसमें संकलन है। १७ सें० आकार में, आर्यावर्त्त प्रेस (कलकत्ता) में प्रकाशित इस पुस्तक का प्रकाशन-वर्ष १८९१ ई० है।

५. **गंगालहरी** : प्रस्तुत पुस्तक पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा रचित संस्कृत 'गंगालहरी' का व्रजभाषा में, सवैया वृत्त के अन्तर्गत अनुवाद है। इसका प्रकाशन सन् १८९१ ई० में हुआ था।

६. **श्रीमहिम्नःस्तोत्रम्** : पुष्पदन्त-विरचित इसी नाम की पुस्तक का पद्यात्मक अनुवाद द्विवेदीजी ने सन् १८८५ ई० में सम्पन्न कर दिया था, परन्तु इसका प्रकाशन सन् १८९१ ई० में हुआ। **डॉ० रामसकल राय शर्मा**[2] ने इसका प्रकाशन-वर्ष सन् १८९० ई० माना है। परन्तु, अन्य विद्वानों ने इसे सन् १८९१ ई० में ही प्रकाशित माना है।

७. **कुमारसम्भवसार** : महाकवि कालिदास के ख्यात महाकाव्य 'कुमारसम्भवम्' के प्रथम पाँच सर्गों का भावार्थबोधक अनुवाद इस रूप में किया गया है। काशी-

---

१. डॉ० रामसकलराय शर्मा : 'द्विवेदी युग का हिन्दी-काव्य', पृ० ५८।

२. उपरिवत्, पृ० ५७।

सूची के आधार पर ही **डॉ० रामसकल राय शर्मा**[1] ने भी इन तीनों पुस्तकों का अस्तित्व आँख मूँदकर स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार, आचार्य द्विवेदीजी की मौलिक काव्य-कृतियों के रूप में पूर्वविवृत छह रचनाओं की ही गणना की जा सकती है।

आचार्य द्विवेदीजी का अनूदित काव्य-कृतियाँ :

१. **विनयविनोद** : भर्तृहरि-कृत 'वैराग्यशतक' के कुछ दोहों का पद्यात्मक अनुवाद इस पुस्तक के रूप में हुआ है। 'विनयविनोद' का प्रकाशन सन् १८८९ ई० में हुआ था। व्रजभाषा में लिखित इस दोहा-संग्रह को कवि की कला का प्राथमिक उन्मेष माना जा सकता है।

२. **विहार-वाटिका** : संस्कृत के कवि जयदेव के ख्यात ग्रन्थ 'गीतगोविन्द' का भावानुवाद, संक्षिप्त रूप में व्रजभाषा के छन्दों में, 'विहार-वाटिका' में हुआ है। इसका प्रकाशन सन् १८९० ई० में हुआ था।

३. **स्नेहमाला** : भर्तृहरि-विरचित 'शृंगारशतक' के श्लोकों का व्रजभाषा में अनुवाद कर द्विवेदीजी ने इसे 'स्नेहमाला' का रूप दिया था। इसका प्रकाशन सन् १८६० ई० में हुआ था।

४. **ऋतुतरंगिणी** : महाकवि कालिदास-कृत 'ऋतुसंहार' की छाया लेकर खड़ी बोली में रचे गये छन्दों का इसमें संकलन है। १७ सें० आकार में, आर्यावर्त्त प्रेस (कलकत्ता) में प्रकाशित इस पुस्तक का प्रकाशन-वर्ष १८९१ ई० है।

५. **गंगालहरी** : प्रस्तुत पुस्तक पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा रचित संस्कृत 'गंगालहरी' का व्रजभाषा में, सवैया वृत्त के अन्तर्गत अनुवाद है। इसका प्रकाशन सन् १८६१ ई० में हुआ था।

६. **श्रीमहिम्नःस्तोत्रम्** : पुष्पदन्त-विरचित इसी नाम की पुस्तक का पद्यात्मक अनुवाद द्विवेदीजी ने सन् १८८५ ई० में सम्पन्न कर दिया था, परन्तु इसका प्रकाशन सन् १८९१ ई० में हुआ। **डॉ० रामसकल राय शर्मा**[2] ने इसका प्रकाशन-वर्ष सन् १८९० ई० माना है। परन्तु, अन्य विद्वानों ने इसे सन् १८९१ ई० में ही प्रकाशित माना है।

७. **कुमारसम्भवसार** : महाकवि कालिदास के ख्यात महाकाव्य 'कुमारसम्भवम्' के प्रथम पाँच सर्गों का भावार्थबोधक अनुवाद इस रूप में किया गया है। काशी-

---

१. डॉ० रामसकलराय शर्मा : 'द्विवेदी युग का हिन्दी-काव्य', पृ० ५८।

२. उपरिवत्, पृ० ५७।

नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा सन् १९०२ ई० में प्रकाशित १३४ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १७ सें० है।

इस प्रकार, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी की कुल सात अनूदित काव्य-कृतियाँ उपलब्ध हैं।

आचार्य द्विवेदीजी का मौलिक गद्य-पुस्तकें :

१. **नैषधचरितचर्चा** : नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) द्वारा सन् १८९९ ई० में प्रकाशित एवं हरिप्रकाश यन्त्रालय, वाराणसी में मुद्रित इस पुस्तक में श्रीहर्ष-लिखित **'नैषधीयचरितम्'** नामक संस्कृत-काव्य की परिचयात्मक आलोचना है। कुल ७२ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार २० सें० है।

२. **हिन्दी-कालिदास की समालोचना** : **लाला सीताराम** ने 'कुमारसम्भवभाषा' 'मेघदूतभाषा' और 'रघुवंशभाषा' नाम की तीन पुस्तकें लिखी थीं। प्रस्तुत समालोचना उन्हीं तीन पुस्तकों के ऊपर लिखी हुई है। इस १५८ पृष्ठों की पुस्तक को कानपुर के मर्चेण्ट प्रेस से सन् १९०१ ई० में प्रकाशित किया था। इसका मूल आकार २२.५ सें० है।

३. **हिन्दी-वैज्ञानिक कोष** : **डॉ० उदयभानु सिंह**[1] ने इस पुस्तक का नाम **'वैज्ञानिक कोष'** दिया है, परन्तु परवर्त्ती **श्रीकृष्णाचार्य** आदि विद्वानों ने इसे **'हिन्दी-वैज्ञानिक कोष'** ही माना है। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा जब इस कोष का प्रकाशन सन् १९०६ ई० मे हुआ, तब इसके सम्पादक के रूप में मात्र **श्रीश्यामसुन्दरदास** का नाम छपा। इसी कारण द्विवेदीजी के साथ इनका मतभेद भी हुआ। वस्तुतः, इस कोष का बहुत सारा कार्य द्विवेदीजी ने ही किया था और इस कोष का प्रथम मुद्रण स्वतन्त्र रूप से उन्होंने सन् १९०१ ई० में ही कराया था। **बाबू श्यामसुन्दरदास** द्वारा सम्पादित इस कोष में भी इस बात का स्पष्ट संकेत है कि पृ० २४३ से २५८ तक दार्शनिक परिभाषाओं का सम्पादन द्विवेदीजी द्वारा किया हुआ है।

४. **विक्रमांकदेवचरितचर्चा** : संस्कृत-कवि द्वारा विरचित **'विक्रमांकदेवचरितम्'** की परिचयात्मक आलोचना १८ सें० आकार में छपी थी। इसका प्रकाशन इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा सन् १९०७ ई० में हुआ था।

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ८३।
२. 'आचार्य द्विवेदी' : सं० निर्मल तालवार, पृ० २४०।

५. हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति : इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा सन् १९०० ई० में ही प्रस्तुत पुस्तक का भी प्रकाशन हुआ था। १६ सें० आकार में ९६ पृष्ठों की इस पुस्तक में हिन्दी-भाषा का प्रारम्भिक व्याकरण-विषयक विवेचन है।

६. सम्पत्तिशास्त्र : अँगरेजी, मराठी, बँगला आदि की कुछ पुस्तकों से सहायता लेकर द्विवेदीजी ने सम्पत्ति के स्वरूप, विनिमय, वितरण, बैंकिंग, उपभोग आदि से सम्बद्ध कतिपय निबन्ध लिखे थे, जो सबसे पहले 'सरस्वती' में तथा 'आरा-नागरी-प्रचारिणी सभा-पत्रिका' में छपे। इन्हीं निबन्धों को व्यवस्थित पुस्तकाकार देकर 'सम्पत्ति-शास्त्र' के नाम से इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ने सन् १९०८ ई० में प्रकाशित किया। इस पुस्तक की भूमिका सन् १९०७ ई० में लिखी गई थी। ३६६ पृष्ठों की २५ सें० आकार में छपी अर्थशास्त्र की यह सचित्र पुस्तक अपने समय में इस विषय की अकेली थी।

७. कालिदास की निरंकुशता : महाकवि कालिदास के ऊपर लिखी गई यह समालोचना सन् १९११ ई० में इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस द्वारा प्रकाशित हुई थी। १६ सें० आकार में छपी ८८ पृष्ठों की इस पुस्तक का आलोचना की दृष्टि से महत्त्व है।

८. नाट्यशास्त्र : नाटकों के सम्बन्ध में लिखा गया द्विवेदीजी का यह ग्रन्थ इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा सन् १९११ ई० में प्रकाशित किया गया। परन्तु, इसका लेखन सन् १९०३ ई० में ही समाप्त हो गया था। ५९ पृष्ठों की यह पुस्तक २१ सें० आकार में छपी है।

९. प्राचीन कवि और पण्डित : जूही (कानपुर)-स्थित कमर्शियल प्रेस द्वारा इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९१८ ई० में हुआ था। यह पुस्तक मूलतः 'सरस्वती' में प्रकाशित आठ प्राचीन विद्वानों के सम्बन्ध में लिखे गये लेखों का संग्रह है।

१०. वनिता-विलास : जूही (कानपुर) के कमर्शियल प्रेस द्वारा ही ८४ पृष्ठों इस पुस्तक का भी प्रकाशन सन् १९१९ ई० में हुआ था। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में देश-विदेश की ख्यातिलब्ध नारियों के विभिन्न जीवनचरित प्रकाशित किये थे। उन्हीं में से १२ लेखों का संग्रह इस १८ सें० आकार में छपी पुस्तक में हुआ है।

११. कालिदास : राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर (जबलपुर) से प्रकाशित इस पुस्तक में कालिदास-सन्बन्धी ९ लेख हैं। २३५ पृष्ठों की १८ सें० आकार में छपी इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९२० ई० में हुआ था।

१२. कालिदास और उनकी कविता : सन् १९२० ई० में ही राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर (जबलपुर) द्वारा इस पुस्तक का भी प्रकाशन हुआ था। इसमें 'सरस्वती' में प्रकाशित कतिपय लेख संगृहीत हैं।

१३. **रसज्ञरंजन** : 'सरस्वती' में पूर्वप्रकाशित विविध साहित्यिक लेखों के इस संग्रह का प्रकाशन इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा सन् १९२० ई० में हुआ था। इस निबन्ध-संग्रह का दूसरा निबन्ध **श्रीविद्यानाथ** उर्फ **श्रीकामताप्रसाद गुरु** का लिखा हुआ है।

१४. **औद्योगिकी** : राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर (जबलपुर) से सन् १९२१ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में ११२ पृष्ठ हैं। इसका प्रकाशन-काल **डॉ० उदयभानु सिंह**[१] ने सन् १९२० ई० माना है। परन्तु, वस्तुतः इसकी मात्र भूमिका ही सन् १९२० ई० में लिखी गई थी। अस्तु, इस १८ सें० आकार में छपी इस पुस्तक का प्रकाशन-वर्ष १९२१ ई० ही माना जाना चाहिए।

१५. **श्रीहिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्वागतकारिणी समिति के अध्यक्ष पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का वक्तव्य** : ७७ पृष्ठों के १८ सें० आकार में छपे इस भाषण का प्रकाशन स्वागत-समिति, कानपुर की ओर से हुआ था। यह वक्तव्य सन् १९२३ ई० के ३० मार्च को दिया गया था, इसके प्रकाशन का भी यही काल है। इस भाषण का मुद्रण कानपुर के कमर्शियल प्रेस में हुआ था।

१६. **अतीत-स्मृति** : मानस मुक्ता-कार्यालय (मुरादाबाद) के **श्रीरामकिशोर शुक्ल** द्वारा प्रकाशित एवं सरस्वती प्रेस (काशी) में मुद्रित इस पुस्तक में 'सरस्वती' में प्रकाशित सांस्कृतिक-ऐतिहासिक लेखों का संग्रह है। २५१ पृष्ठों की १८ सें० आकार मे छपी इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९२४ ई० मे हुआ था।

१७. **सुकवि-संकीर्त्तन** : **माइकेल मधुसूदन दत्त, दुर्गाप्रसाद, श्रीनवीनचन्द्र** आदि पर द्विवेदीजी के लिखे हुए निबन्धों का प्रकाशन इस पुस्तक के रूप में लखनऊ के गंगा पुस्तकमाला-कार्यालय द्वारा सन् १९२४ ई० में हुआ। **डॉ० उदयभानु सिंह**[२] ने इसका प्रकाशन-वर्ष सन् १९२२ ई० लिखा है। परन्तु, वस्तुतः इसकी भूमिका ही अक्टूबर, १९२२ ई० में लिखी गई थी। इसी कारण. **श्रीकृष्णाचार्य**[३] प्रभृति ने १६९ पृष्ठों की १८ सें० आकार में छपी इस पुस्तक का प्रकाशन-वर्ष सन् १९२४ ई० ही माना है।

१८. **अद्भुत आलाप** : लखनऊ के गंगा पुस्तकमाला-कार्यालय द्वारा सन् १९२४ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का संग्रह है। १५६ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १८ सें० है।

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ८४।

२: उपरिवत्।

३. 'आचार्य द्विवेदी' : सं० निर्मल तालवार, पृ० २४२।

१९. **महिला-मोद** : 'सरस्वती' में प्रकाशित महिलापयोगी दस लेखों का संग्रह ६७ पृष्ठों की, १८ सें० आकार में छपी इस सचित्र पुस्तक में हुआ है। इसका प्रकाशन गंगा पुस्तकमाला-कार्यालय (लखनऊ) द्वारा सन् १९२५ ई० में हुआ था।

२०. **आख्यायिका-सप्तक** : इस पुस्तक में बँगला, अँगरेजी और संस्कृत से सामग्री लेकर लिखे गये सात निबन्धों का संकलन हुआ था। इण्डियन प्रेस (प्रयाग) द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक का आकार १८ सें० है एवं इसकी पृष्ठ-संख्या ६९ है। 'आख्यायिका-सप्तक' का प्रकाशन-वर्ष सन् १९२७ ई० है।

२१. **आध्यात्मिकी** : 'सरस्वती' में प्रकाशित धर्म एवं दर्शन-विषयक लेखों के इस संकलन को इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) ने सन् १९२७ ई० में प्रकाशित किया था। **डॉ० उदयभानु सिंह**[1] ने इसका प्रकाशन-वर्ष सन् १९२६ ई० माना है। १८ सें० आकार में छपी इस पुस्तक की पृष्ठ-संख्या २०३ है।

२२. **कोविद-कीर्त्तन** : 'सरस्वती' में प्रकाशित बारह विद्वानों का जीवनचरित इस पुस्तक में संकलित किया गया है। इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) द्वारा २०३ पृष्ठों की, १८ सें० आकार में मुद्रित एवं प्रकाशित इस पुस्तक का प्रकाशन-वर्ष सन् १९२७ ई० है।

२३. **विदेशी विद्वान्** : इस पुस्तक में 'सरस्वती' में प्रकाशित विद्वानों के संक्षिप्त जीवनचरितों का संग्रह है। इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस ने इसका प्रकाशन सन् १९२७ ई० में किया था। १२९ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १८ सें० है।

२४. **आलोचनांजलि** : इलाहाबाद के इण्डियन प्रेस द्वारा सन् १९२८ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में 'सरस्वती' के कतिमय पूर्व-प्रकाशित लेखों का संग्रह हुआ है। १२४ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १८ सें० है।

२५. **दृश्य-दर्शन** : 'सरस्वती' में प्रकाशित कुछ लेखों का प्रकाशन सन् १९२८ ई० में इस पुस्तक के रूप में सुलभ ग्रन्थ-प्रचारक मण्डल (कलकत्ता) ने किया था। १३३ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १८ सें० है।

२६. **लेखांजलि** : सन् १९२८ ई० में ही प्रस्तुत पुस्तक को भी हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी (कलकत्ता) ने प्रकाशित किया। 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों के इस संग्रह में १६७ पृष्ठ हैं और आकार १८ सें० है। सामाजिक विषयों पर लिखे गये इन लेखों की संख्या १९ है।

२७. **वैचित्र्य-चित्रण** : हिन्दी के ख्यात उपन्यासकार **प्रेमचन्द** द्वारा सम्पादित इस पुस्तक का प्रकाशन लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस द्वारा सन् १९२८ ई० में हुआ था।

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ८४।

डॉ० उदयभानु सिंह[1] ने इसका प्रकाशन-वर्ष सन् १९२६ ई०. लिखा है। इस पुस्तक में 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों को क्रमशः नराध्याय, वानराध्याय, जलचराध्याय, स्थलचराध्याय, उद्भिज्जाध्याय, प्रकीर्णकाध्याय जैसे छह अध्यायों में विभाजित कर प्रस्तुत किया गया है।

२८. **साहित्य-सन्दर्भ** : गंगा पुस्तकमाला-कार्यालय (लखनऊ) द्वारा सन् १९२८ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक का प्रकाशन-वर्ष **डॉ० उदयभानु सिंह**[2] ने सन् १९२४ ई० माना है। इस पुस्तक में **आचार्य द्विवेदीजी** द्वारा लिखे गये और 'सरस्वती' में पूर्व-प्रकाशित लेखों के साथ-साथ अन्य चार विद्वानों द्वारा लिखे गये लेख भी है। लेखों की कुल संख्या २० है। २७४ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १८ सें० है।

२९. **पुरावृत्त** : इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) द्वारा सन् १९२८ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में 'सरस्वती' में छपे इतिहास-सम्बन्धी १२ लेख संगृहित है। डॉ० उदयभानु सिंह ने इसका प्रकाशन-वर्ष सन् १९२७ ई० माना है।[3] कुल १५४ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकर १८ सें० है।

३०. **पुरातत्त्व-प्रसंग** : साहित्य-सदन (चिरगाँव) से प्रकाशित इस पुस्तक में १७१ पृष्ठ हैं तथा इसका आकार १७ सें० है। इसमें 'सरम्वती' में प्रकाशित पुरातत्त्व-सम्बन्धी १३ निबन्ध संकलित है। इस पुस्तक का प्रकाशन-वर्ष सन् १९२९ ई० है।

३१. **प्राचीन चिह्न** : 'सरस्वती' मे प्रकाशित एलोरा, साँची, खजुराहो आदि से सम्बद्ध निबन्धों का प्रस्तुत पुस्तक के रूप में प्रकाशन इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) द्वारा सन् १९२९ ई० में हुआ था। १२३ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १८ सें० है।

३२. **साहित्यालाप** : खड्गविलास प्रेस (पटना) द्वारा सन् १९२९ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में 'सरम्वती' में प्रकाशित हिन्दी-भाषा और लिपिविषयक १८ लेख संकलित हैं। इस संग्रह में कुछ अन्य लेखकों के लेख भी संगृहीत है। डॉ० उदयभानु सिंह[4] ने इस पुस्तक का प्रकाशन-वर्ष सन् १९२६ ई० माना है। कुल ३५२ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १८ सें० है।

३३. **चरित-चर्चा** : इस पुस्तक का प्रकाशन साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) द्वारा सन् १९३० ई० में हुआ था। 'सरस्वती' में प्रकाशित जीवनचरितों के इस संग्रह का प्रकाशन-वर्ष डॉ० उदयभानु सिंह[5] के अनुसार सन् १९२७ ई० है। १६३ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १८ सें० है।

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उसका युग', पृ० ८४।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्, पृ० ८५।
४. उपरिवत्, पृ० ८४।
५. उपरिवत्, पृ० ८५।

३४. **वाग्विलास** : हिन्दी-पुस्तकभण्डार (लहेरियासराय) द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में कुल २८८ पृष्ठों के अन्तर्गत भाषा, व्याकरण, लिपि, समालोचना आदि पर १४ निबन्ध संकलित हैं। इसका प्रकाशन-वर्ष सन् १९३० ई० है। पुस्तक का आकार १७ सें० है।

३५. **विज्ञानवार्त्ता** : सन् १९३० ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले, 'सरस्वती' में प्रकाशित निबन्धों का संकलन है। इसे लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस ने १८ सें० आकार में प्रकाशित किया है। इसकी पृष्ठ-संख्या २३३ है।

३६. **समालोचना-समुच्चय** : इलाहाबाद के प्रकाशक **रामनारायण लाल** द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में अनेक विषयों पर आधृत २७ निबन्ध संकलित हैं। इसका प्रकाशन १८ सें० आकार में, २३६ पृष्ठों में, सन् १९३० ई० में हुआ था। डॉ० उदयभानु सिंह[1] ने इसका प्रकाशन-वर्ष सन् १९२८ ई० माना है।

३७. **साहित्य-सीकर** : सन् १९३० ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में 'सरस्वती' में छपे २१ निबन्धों का संकलन है। तरुण भारत-ग्रन्थावली (इलाहाबाद) द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में १४१ पृष्ठ है तथा इसका आकार १८ सें० है।

३८. **विचार-विमर्श** : 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों और टिप्पणियों के संकलन के रूप में प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९३१ ई० में भारती भण्डार (वाराणसी) ने किया था। इस पुस्तक में ५५५ पृष्ठ हैं तथा इसका आकार १८ सें० है।

३९. **संकलन** : भारती-भण्डार (वाराणसी) द्वारा सन् १९३१ ई० में ही प्रस्तुत पुस्तक का भी प्रकाशन हुआ था। यह भी 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों का ही संग्रह है। इस पुस्तक में १०९ पृष्ठ हैं और इसका आकार १८ सें० है।

४०. **चरित्र-चित्रण** : १ हिन्दी प्रेस (इलाहाबाद) से प्रकाशित इस पुस्तक में 'सरस्वती' में प्रकाशित जीवनी-साहित्य का संकलन हुआ है। इसका प्रकाशन सन् १९३४ ई० में हुआ था। १४६ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १८ सें० है।

४१. **प्रबन्ध-पुष्पांजलि** : सन् १९३५ ई० में साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक में ११ लेख संकलित हैं। इनमें से चार लेख उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव-सम्बन्धी हैं। १४० पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १७ सें० का है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की जिन मौलिक गद्य-कृतियों की सूची यहाँ दी गई है, उनमें से कई का उल्लेख **डॉ० उदयभानु सिंह** की ख्यात सूची में नहीं मिलता है। 'प्राचीन कवि और 'पण्डित', 'कालिदास', 'आख्यायिका-सप्तक' 'चरित्र-चित्रण', 'प्रबन्ध-पुष्पांजलि' जैसी पुस्तकों का उल्लेख उनकी सूची में

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० ८५।

नही है। परन्तु, उल्लिखित ४१ रचनाओं के अतिरिक्त कतिपय अन्य पुस्तकों को उन्होने अपनी सूची में स्थान दिया है, यथा :

१. हिन्दी-शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना (सन् १८९९ ई०)
२. हिन्दी की पहली किताब (सन् १९११ ई०)
३. लोअर प्राइमरी रीडर (सन् १९११ ई०)
४. अपर प्राइमरी रीडर (सन् १९११ ई०)
५. शिक्षा-सरोज (सन् १९११ ई०)
६. बालबोध या वर्णबोध (सन् १९११ ई०)
७. जिला कानपुर का भूगोल (सन् १९११ ई०)
८. अवध के किसानों की बरबादी (सन् १९११ ई०)
९. लेखांजलि (सन् १९२८ ई०)
१०. आत्मनिवेदन (सन् १९३३ ई० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा में दिया गया भाषण)
११. भाषण (प्रयाग में, सन् १९३३ ई० में आयोजित द्विवेदी-मेले में दिया गया भाषण)[1]

इन ग्यारह रचनाओं में अधिकांश केवल बालोपयोगी पुस्तकें, रीडरें और भाषण हैं। 'लेखांजलि', 'सरस्वती' में प्रकाशित द्विवेदीजी के निबन्धों का एक संकलन है। इसके प्रकाशक आदि का पता नहीं चलता है। इस प्रकार, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की मौलिक गद्यकृतियों की सूची मे ४१ प्रारम्भिक कृतियों के साथ-साथ इन ११ पुस्तकों को भी परिगणित किया जा सकता है।

आचार्य द्विवेदीजी का अनूदित गद्य-पुस्तकें :

१. **भामिनी-विलास** : संस्कृत-कवि पण्डितराज जगन्नाथ की पुस्तक 'भामिनी-विलास' का समूल अनुवाद द्विवेदीजी ने इस पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया है। खेमराज कृष्णदास (बम्बई) द्वारा प्रकाशित ५० पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार ६७ सें० है। इसका प्रकाशन सन् १८९६ ई० में हुआ था।

२. **अमृतलहरी** : यह पुस्तक पण्डितराज जगन्नाथ-रचित 'यमुनास्तोत्र' का समूल भावानुवाद है। इसका प्रकाशन सन् १८९६ ई० में हुआ था। 'अमृतलहरी' में द्विवेदीजी की प्रारम्भिक भाषा का स्पष्ट रूप दृष्टिगत होता है।

३. **बेकन-विचार-रत्नावली** : खेमराज कृष्णदास (बम्बई) द्वारा सन् १९०१ ई० में प्रकाशित प्रस्तुत पुस्तक में अँगरेजी के ख्यात निबन्धकार **फ्रांसिस बेकन** के ३६ निबन्धों का अनुवाद-संग्रह किया गया है। बेकन के निबन्धों के साथ संस्कृत के सुभाषित श्लोकों की एकवाक्यता दिखाने के लिए प्रत्येक निबन्ध के शीर्ष पर एक या दो श्लोक भी उद्धृत कर दिये गये हैं। ६६८ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार २० सें० है।

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ८३—८५

४. **शिक्षा** : प्रसिद्ध अँगरेज तत्त्ववेत्ता **हर्बर्ट स्पेंसर** की ख्यात 'एडुकेशन' नामक पुस्तक के अनुवाद-स्वरूप प्रस्तुत कृति का प्रकाशन हुआ है। इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) द्वारा सन् १९०६ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में ३५८ पृष्ठ हैं तथा इसका आकार २४ सें० है।

५. **जलचिकित्सा** : जर्मन-लेखक **लुई कोने** की मूल जर्मन-पुस्तक के अँगरेजी-अनुवाद का हिन्दी-अनुवाद द्विवेदीजी ने इस पुस्तक में प्रस्तुत किया है। इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक का प्रकाशन-वर्ष सन् १९०७ ई० है।

६. **स्वाधीनता** : **जॉन स्टुअर्ट मिल** की मूल पुस्तक 'जॉन लिबर्टी' के अनुवाद-स्वरूप इस पुस्तक का प्रकाशन हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर (बम्बई) द्वारा सन् १९०७ ई० में किया गया है। इस पुस्तक की भूमिका सन् १९०५ ई० में ही लिखी गई थी। भूमिका में मूल लेखक की जीवनी भी सम्मिलित है। २२ पृष्ठों के इस अनुवाद-पुस्तक का आकार १८ सें० है।

७. **महाभारत मूल आख्यान** : **डॉ० उदयभानु सिंह**[1] ने अपनी सूची में इस पुस्तक को 'हिन्दी-महाभारत' की संज्ञा दी है। यह **श्रीसुरेन्द्रनाथ ठाकुर** की बँगला-पुस्तक 'महाभारत' से स्वच्छन्दतापूर्वक किया हुआ अनुवाद है। इसकी भूमिका सन् १९०८ ई० में ही लिखी गई थी। डॉ० उदयभानु सिंह[2] ने भी इसका प्रकाशन-वर्ष सन् १९०८ ई० ही लिखा है। परन्तु, इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) द्वारा २४ से० आकार में छपी ५०२ पृष्ठों की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् १९१० ई० में हुआ था।

८. **रघुवंश** : महाकवि कालिदास के इस संस्कृत-महाकाव्य का गद्यात्मक अनुवाद द्विवेदीजी ने किया था। इस भावार्थबोधक अनुवाद का प्रकाशन इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) ने सन् १९१३ ई० में किया था। १६० पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार २१ सें० है।

९. **वेणीसंहार** : नारायणभट्ट-रचित संस्कृत-नाटक 'वेणीसंहार' का एक आख्यायिका के रूप में किया हुआ प्रस्तुत भावार्थबोधक अनुवाद जूही (कानपुर) के कमर्शियल प्रेस द्वारा सन् १९१२ ई० में प्रकाशित किया गया था।

१०. **कुमारसम्भव** : महाकवि कालिदास के संस्कृत-महाकाव्य 'कुमारसम्भव' का गद्यात्मक अनुवाद इस पुस्तक के रूप में इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) द्वारा सन् १९१७ ई० में प्रकाशित किया गया है। इस पुस्तक की भूमिका सन् १९१५ ई० में लिखी गई थी, इस आधार पर डॉ० उदयभानु सिंह[3] ने इसका प्रकाशन-वर्ष

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ८०।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्।

सन् १९१५ ई०. मान लिया है। १७३ पृष्ठों की इस पुस्तक का आकार १७ सें० है।

११. मेघदूत : महाकवि कालिदास के ख्यात संस्कृत-खण्डकाव्य 'मेघदूत' का हिन्दी-गद्य में किया गया भावार्थबोधक अनुवाद इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) द्वारा सन् १९१७ ई० में प्रकाशित हुआ था। ४७ पृष्ठों के इस अनुवाद का आकार १८ सें० है।

१२. किरातार्जुनीय : महाकवि भारवि-रचित संस्कृत के ख्यात महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' का भावार्थबोधक अनुवाद द्विवेदीजी ने किया था। इण्डियन प्रेस (इलाहाबाद) द्वारा सन् १९१७ ई० में उक्त अनुवाद का प्रकाशन कुल ३८० पृष्ठों की प्रस्तुत पुस्तक के रूप में १८ सें० आकार में हुआ।

संस्कृत, अँगरेजी और बँगला की इन्हीं १२ पुस्तकों की गणना आचार्य द्विवेदीजी के अनूदित गद्य-साहित्य के रूप में होती है। इन कृतियों से अनुवादक की भाषा-शैली का निदर्शन होने के साथ-ही-साथ उसकी परिष्कृत रुचि का भी परिचय मिलता है। द्विवेदीजी द्वारा किये गये ये अनुवाद मनोरंजक भी हैं और ज्ञानप्रद भी।

आचार्य द्विवेदीजी की अन्य लोगों द्वारा सम्पादित कृतियाँ :

द्विवेदीजी की कतिपय रचनाएँ उनकी मृत्यु के बाद अप्रकाशित रह गईं। उन्ही में से कुछ को विभिन्न सज्जनों ने सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इस प्रसंग मे अधोलिखित दो पुस्तकों की चर्चा अपेक्षित है :

१. संचयन : श्रीप्रभात शास्त्री द्वारा सम्पादित १४५ पृष्ठों की इस पुस्तक में विभिन्न विषयों पर साहित्य-सम्बन्धी द्विवेदीजी के लेखों का संकलन हुआ है। इलाहाबाद के साहित्यकार-संघ द्वारा सन् १९४९ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक का आकार १८ सें० है।

२. द्विवेदी-पत्रावली : आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के विविध पत्रों का यह संकलन **बैजनाथ सिंह विनोद** ने सम्पादित किया है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ (वाराणसी) द्वारा सन् १९५४ ई० में हुआ है। इस पुस्तक की भूमिका **श्रीमैथिलीशरण गुप्त** ने लिखी है। २२६ पृष्ठों के इस ग्रन्थ का आकार १८ सें० है।

इन दोनों पुस्तकों का भी आचार्य द्विवेदीजी के कृतित्व में अपना विशेष महत्त्व है। विशेष रूप से इनके पत्रों का तो ऐतिहासिक महत्त्व है। अब भी नागरी-प्रचारिणी सभा (वाराणसी) में द्विवेदीजी के १८०१ पत्र प्रकाशन की प्रतीक्षा में सुरक्षित पड़े हुए हैं।

द्विवेदीजी की अप्रकाशित कृतियाँ :

'सरस्वती'-सम्पादक होने के नाते **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** की लगभग सारी रचनाएँ पुस्तकाकार धारण कर चुकी हैं, फिर भी उनकी तीन पुस्तकें

अप्रकाशित रह गई हैं। इन तीनों पुस्तकों का विस्तृत अध्ययन एवं विवेचन डॉ० उदयभानु सिंह[1] ने किया है। वस्तुतः, इन कृतियों की खोज का श्रेय भी उन्हीं को है।

१. **कौटिल्य-कुठार** : प्रस्तुत ग्रन्थ पाण्डुलिपि के रूप में नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) के कला-भवन में संगृहीत है। द्विवेदीजी के स्वभाव की उग्रता और भाषा-शैली की ओजस्विता का यह एक उत्तम उदाहरण है। इस कृति में नागरी-प्रचारिणी सभा एवं **बाबू श्यामसुन्दरदास** की तीव्र आलोचनाएँ की गई है। प्रस्तुत पुस्तक तीन खण्डों में विभक्त है : सभा की सभ्यता, वक्तव्य और परिशिष्ट। नागरी-प्रचारिणी सभा के साथ द्विवेदीजी का जो सैद्धान्तिक मतभेद चला करता था, उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप 'कौटिल्य-कुठार' का प्रणयन द्विवेदीजी ने किया था। परन्तु, उन्होंने इसे प्रकाशित करना उचित नहीं समझा।

२. **सोहागरात** : अपनी तरुणावस्था में द्विवेदीजी ने इस रसीली पुस्तक को लिखा था। उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि यह अँगरेजी के कवि 'बायरन'-रचित 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद है। यह पहले-पहल पति के घर आई हुई एक बाला स्त्री का उसकी सखी को लिखा गया पत्र है। इसके पचास पद्यों में नवविवाहिता सखी ने अपनी अविवाहिता सखी कलावती के प्रति सोहागरात में की गई छह बार रति का प्रस्तावना-सहित पूरे विस्तार से वर्णन किया है। यह रचना पर्याप्त मात्रा मे अश्लील है और इसके प्रकाशित होने पर निश्चय ही द्विवेदीजी का व्यक्तित्व कलुषित हो जाता। इस साहित्यिक अवनति से बचने के लिए द्विवेदीजी अपनी पत्नी के आभारी हैं; क्योंकि उन्होंने ही 'सोहागरात' को अपने सन्दूक में बन्द कर अपने पति को ऐसी रचना की ओर प्रवृत्त होने पर फटकारा था। द्विवेदीजी ने स्वयं लिखा है :

> '....इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पंक-पयोधि में डूबने से बचा लिया। आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें, तो बड़ी कृपा हो।'[2]

इसी अश्लीलता एवं पत्नी की इच्छा के कारण द्विवेदीजी ने 'सोहागरात' को प्रकाशित नहीं किया। आज भी यह पुस्तक उनके दौलतपुर-स्थित मकान में पड़ी हुई है।

३. **तरुणोपदेश** : तरुणों को स्वास्थ्य, संयम आदि के साथ-साथ ब्रह्मचर्य-पालन का उपदेश देने के लिए प्रस्तुत कृति की रचना द्विवेदीजी ने सन् १८९४ ई० में की थी।

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ८८।

२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'मेरी जीवन-रेखा', 'भाषा' : द्वि० स्मृ० अंक, पृ० १५।

परन्तु, अश्लील और रसीली मानकर उन्होंने इसे भी अप्रकाशित ही रखा। २१० पृष्ठों की इस हस्तलिखित पुस्तक का चार अधिकरणों में विभाजन है। 'सामान्याधिकरण' के सात परिच्छेदों में तारुण्य, पुरुषों में क्या-क्या स्त्रियों को प्रिय होता है, विवाहकाल, दाम्पत्य-संगम, इच्छानुकूल पुत्र अथवा कन्योत्पादन, अपत्य-प्रतिबन्ध और सन्तान न होने के कारण; 'वीर्याधिकरण' में तीन परिच्छेदों के अन्तर्गत वीर्य-वर्णन, ब्रह्मचर्य की हानियाँ, अतिप्रसंग की हानियाँ; 'अनिष्टविद्याधिकरण' के चार परिच्छेदों मे निषिद्ध मैथुन, हस्तमैथुन, वेश्यागमन-निषेध तथा मद्यप्राशन और 'रोगाधिकरण' के चार परिच्छेदो में अनिच्छित वीर्यपात, मूत्राघात, उपदंश एवं नपुसंकत्व का विवेचन किया गया है। इस प्रकार, तरुण-समाज के लिए उपयोगी कामकला-विषयक सारी जानकारी इस पुस्तक में बोधगम्य भाषा में प्रतिपादित हुई है। हालाँकि, इसमें अश्लीलता कहीं भी नहीं है। भारत के प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों तथा यूरोपीय चिन्तकों के मतों का समन्वय भी द्विवेदीजी ने अपनी इस पुस्तक में किया है।

द्विवेदीजी की उपर्युक्त तीन अप्रकाशित रचनाओं के अतिरिक्त अन्य किसी कृति का पता अभी तक नहीं लगा है। अतएव, कहा जा सकता है कि उनके द्वारा लिखा गया अधिकांश साहित्य अब प्रकाश में आ गया है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की सम्पूर्ण साहित्यिक सम्पदा की सूची को देखते हुए हम उनकी महान् लेखन-शक्ति और प्रतिभा का लोहा माने बिना नहीं रह सकते। उन्होंने साहित्य एवं साहित्येतर विषयों पर विविध विधाओं में समान गति से लेखनी चलाई और हिन्दी-भाषा के स्वरूप को परिष्कृत एवं स्थिर करने में अपना अभूतपूर्व योगदान किया। संख्या में विपुल होती हुई भी द्विवेदीजी की रचनाएँ, अपने कलापक्ष एवं साहित्यिक गौरव की दृष्टि से विशेष महत्त्व की नहीं है, इस बात को कई विद्वानों ने अनेक प्रकार से दुहराया है। **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने लिखा है :

"यह बात निर्विवाद है कि उस युग की साहित्यिक साधनाओं की अग्रगति को दृष्टि में रखकर विचार करने पर द्विवेदीजी की वक्तव्य वस्तु प्रथम श्रेणी का नहीं ठहरती। उसमे प्रचीन और नवीन, प्राच्य और पाश्चात्त्य, साहित्य और विज्ञान सब कुछ है, पर सभी 'सेकेण्ड हैण्ड' और अनुसंकलित।"[1]

यद्यपि गुण का महत्त्व संख्या से अधिक होता है, तथापि द्विवेदीजी ने जितनी बड़ी संख्या में साहित्य-रचना की है, उस अनुपात में लिख डालना ही एक बड़े साहस की बात है। कविता निबन्ध, समालोचना आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने प्रयास किये हैं। परन्तु, किसी भी क्षेत्र में उन्हें युग का सर्वश्रेष्ठ लेखक होने का गौरव नहीं मिल सका है।

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'विचार और वितर्क', पृ० ७९।

वे स्वयं रससिद्ध कवि नहीं थे, उनकी अधिकांश पद्यकृतियाँ कविता की सीमा में नहीं आतीं। **शुक्लजी** की दृष्टि में वह केवल पद्य-रचना की प्रणाली के प्रवर्त्तक हैं[1] यह दशा गद्य की भी है। यदि द्विवेदीजी की गद्यरचनाएँ देखी जायँ, तो बहुत ही निराश होना पड़ेगा। उनकी कृतियों में कई अनुवाद हैं, कुछ दूसरों की रचनाओं के सरल विश्लेषण हैं, कुछ सामान्य आलोचनात्मक निबन्ध हैं और शेष विविध विषयों पर आश्रित निबन्ध। परन्तु, उनकी रचनाओं में जो वर्णनशैली का एक अद्भुत प्रवाह है, हृदय को आकृष्ट और विमुग्ध करनेवाली जो कला है, वह औरों की सचेतन कला और संगीतपूर्ण भाषा से अधिक प्रभावपूर्ण और सुन्दर है। और, यही द्विवेदीजी की साहित्यिक उपलब्धियों का विशेष माधुर्य है। भाषा-शैली की सरलता एवं प्रभावोत्पादक शक्ति के बल पर ही वे हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहास में अपना युगप्रवर्त्तक व्यक्तित्व निर्मित कर सके। उनकी इस साहित्यिक महत्ता का प्रतिपादन **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** ने इन शब्दों में किया है :

"...सरस्वती के अनन्य उपासक इस महावीर ने अपनी सतत साधना के द्वारा कुछ वर्षों में वह कार्य कर दिखाया, जो किसी भी अन्य भाषा के इतिहास में बेमिसाल और बेजोड़ है। उन्होंने उस समय पुकारी जानेवाली 'स्टुपिड' हिन्दी को संस्कृत एवं परिष्कृत करने का बीड़ा उठाया और महात्मा तुलसीदास की सार्वभौम चुनौती 'मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलिहिं विरंचि सम' स्वीकार कर अपने उद्देश्य में सफल हुए। मूर्ख हृदय को संस्कृत करने में जहाँ सरस्वती के स्वामी ब्रह्माजी असफल होते हैं,वहाँ सरस्वती के सेवक ने अपनी एकनिष्ठ सतत सेवा से सफलता प्राप्त कर ली। वे निस्सन्देह, हिन्दी के प्रथम आचार्य हुए, जिन्होंने भाषा को अनुशासित एवं व्यवस्थित करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। उन्होंने न केवल साहित्य का निर्माण किया, वरन् साहित्यकारों का भी सर्जन किया।"[2]

विश्व-साहित्य में साहित्यकारों की पर्याप्त संख्या है। परन्तु, जो भाषा की सुदृढ नींव पर पथ का निर्माण करते हैं, समर्थ यात्रियों को उस पथ पर परिचालित करते हैं एवं हृदय को कठोर बनाकर सुन्दर, किन्तु हानिकारक झाड़ी को इस यात्रापथ से अलग करते हैं, ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के रूप में हिन्दी-संसार को एक ऐसा ही साहित्यकार मिला था। उनकी कल्पना व्यक्ति नहीं, एक संस्था के रूप में की जा सकती है। जिस यान्त्रिक गति और शक्ति से

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० १०३।

२. डॉ० शंकरदयाल चौऋषि : 'द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन', पृ० ४५३।

उन्होंने अपना कार्य किया, उसकी चर्चा करके आश्चर्य होता है। **डॉ० गंगाप्रसाद विमल** ने लिखा है :

"आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी एक 'मिशनरी' थे और वे अपने उस 'मिशन' के यन्त्र थे, जिसके अनुसार उनके द्वारा हिन्दी का एक आधुनिक साहित्यिक व्यक्तित्व बनता है।"[1]

अतएव, हिन्दी के उन्नायक एवं मार्गदर्शक के रूप में हम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्यक उपलब्धियों के अप्रतिम महत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकते।

---

१. डॉ० गंगाप्रसाद विमल : 'द्विवेदीजी की काव्यसृष्टि', 'भाषा' : द्विवेदी स्मृति-अंक, पृ० ८८।

चतुर्थ अध्याय

आचार्य द्विवेदीजी की सम्पादन-कला एवं भाषा-सुधार

सामान्यतः 'सम्पादक' शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता है, जो दूसरों द्वारा भेजी गई लिखित सामग्री में आवश्यक काट-छाँट कर उसे प्रकाशनार्थ पुस्तक, पत्र या पत्रिका के रूप में संयोजित करता है। परन्तु सम्पादक के कार्य की यहीं इति नहीं हो जाती है। अपनी व्यापक पृष्ठभूमि तथा महान् उद्देश्यों के आलोक में सम्पादक केवल एक आदर्श संग्राहक नहीं रह जाता है। कुछ लोगों की यह धारणा है कि सम्पादक की स्थिति उस माली के समान है, जो जगह-जगह से फूलों को चुनकर उनका एक सजा हुआ गुलदस्ता पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। दैनिक 'आज' के यशस्वी सम्पादक **बाबूराव विष्णु पराड़कर** ने 'सम्पादक' की कल्पना एक मेमार अथवा मिस्त्री के रूप में की है :

"ईंट, पत्थर, चूना, लोहा-लक्कड़ सबका एक ढेर और उन्हीं पदार्थों से बनाया हुआ एक मन्दिर, इनमें अन्तर है। ईंट बनानेवाले, संगतराश, लुहार, बढई सबने अपनी-अपनी कला दिखा दी, पर वह ढेर-का-ढेर ही रह गया—मन्दिर न हो सका। यह काम मेमार का है।"[१]

इसी तरह, विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न विषयों एवं विधाओं पर लिखी हुई रचनाओं का सुन्दर संयोजन सम्पादक करता है। कहानी, कविता, समीक्षा, नाटक, जीवनचरित तथा अन्य विषयों पर आश्रित सामग्री को सुचारु रूप देने के साथ ही प्रत्येक रचना को व्याकरण-सम्मत, कलात्मक और प्रभावपूर्ण बना देना सम्पादक का ही कार्य है। कुल मिलाकर, एक सम्पादक कला का निर्माता भी है, निर्माण का प्रेरक भी है और निर्मित कला को प्रभावशाली बनाता है। अपने इस साधारण-से प्रतीत होनेवाले कार्य की पृष्ठभूमि में सम्पादक अपने समसामयिक समाज एवं साहित्य की गतिविधियों तथा प्रवृत्तियों का नियमन करता है। **श्रीबाँकेविहारी भटनागर** ने लिखा है :

"अच्छी भाषा और अच्छे साहित्य के माध्यम से अच्छे समाज के विकास में सम्पादक का बहुत बड़ा हाथ होता है और वह यह कहकर अपने उत्तरदायित्व से

---

१. श्रीबाबूराव विष्णु पराड़कर : 'सम्पादक आचार्य द्विवेदी', 'साहित्य-सन्देश', द्विवेदी-अंक।

मुक्त नहीं हो सकता कि उसका कार्य साहित्य के उपवन से पुष्पों को एकत्र कर केवल एक स्थान पर अथवा एक पात्र में रख भर देना है। फूल सुन्दर हैं या असुन्दर, उनकी गन्ध मानव-समाज के लिए कल्याणकर है अथवा अहितकर और बस फूल वास्तविक हैं या कृत्रिम—यह सब देखना भी सम्पादक का कार्य है और यदि इसे वह सम्पन्न नहीं कर पाता, तो निस्सन्देह वह एक असफल तथा अधूरा सम्पादक है।''[१]

इस प्रकार, समर्थ सम्पादक एक सुधारक भी होता है। भाषा, साहित्य एवं समाज में फैली कुरीतियों को दूर करने का प्रयास वह अपनी पत्रकारिता के द्वारा करता है। इस कारण पत्रकारिता का कार्य एक महान् कार्य समझा जाना चाहिए। **श्रीभारतीय** ने ठीक ही लिखा है :

''विदेश के उन्नतिशील देशों मे पत्रकार का व्यवसाय एक महत्त्वपूर्ण व्यवसाय समझा जाता है, जिसमें केवल परिश्रमशील, उत्तरदायित्व को समझनेवाले लोग ही प्रवेश पाते हैं। जहाँ के पत्रकारों पर देश की बड़ी-से-बड़ी समस्याओं को सुझाने का भार रहता है, यदि वहाँ 'पत्रकार' एक उत्तरदायित्वपूर्ण उपाधि समझी जाय, तो इसे आश्चर्य न समझिए।''[२]

पत्रकारिता के इस गौरवपूर्ण शीर्ष तक पहुँचनेवाले सम्पादक का निर्भीक एवं दृढव्रती होना आवश्यक है। वह समाज एवं साहित्य की जड़ता की समीक्षा करता है और विकास के मार्ग को प्रशस्त बनाता है। इस क्रम में निर्भयता ही उसकी सत्यवाणी का मुख्य बल होती है। **श्रीअनन्तगोपाल शेवड़े** के शब्दों में :

''श्रेष्ठ और सुयोग्य सम्पादक समाज का नेता होता है। वह बहती हुई बयार के अनुसार अपने मत नहीं बनाता, प्रेयस् के पीछे नहीं भागता, बल्कि स्वतन्त्र बुद्धि और स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर निर्भीकतापूर्वक अपनी राय देता है और सदा श्रेयस् की ही उपासना करता है।.... वह निर्भीक होता है, सार्वजनिक हित का आग्रही होता है, किन्तु वह उच्छृंखल नहीं होता, उसकी स्पष्टवादिता के पीछे लोकहित तथा सार्वजनिक कल्याण की गहरी भावना होती है।''[३]

इन सारी विशिष्टताओं के सन्दर्भ में जिस विराट् सम्पादक-व्यक्तित्व का आभास मिलता है, वह उसके द्वारा समाज और साहित्य के लिए किये गये कार्यों के

---

१. डॉ० हरिवंश राय बच्चन : 'पत्रकारिता के गौरव : बाँकेविहारी भटनागर,' पृ० १०७।

२. श्रीभारतीय : 'लेखनी उठाने के पूर्व', पृ० १७६-१८०।

३. डॉ० हरिवंशराय बच्चन : 'पत्रकारिता के गौरव : बाँकेविहारी भटनागर,' पृ० ४३।

आलोक में ही संघटित होता है। सम्पादक न केवल साहित्य का चिन्तक एवं विधाता होता है, अपितु उसके द्वारा समस्त समाज की विविध प्रवृत्तियों का समुचित परिष्कार भी होता है। सम्पादक के ऐसे ही महान् एवं आदर्श उदाहरण के रूप में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की चर्चा की जा सकती है। वे हिन्दी के प्रथम सम्पादकाचार्य थे।

बीसवीं शती के प्रारम्भ के पूर्व जब आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी झाँसी में रेलवे की नौकरी कर रहे थे, तभी से तत्कालीन प्रकाशित होनेवाली हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं में उन्होंने लेख आदि भेजना प्रारम्भ किया था। उनके भेजे गये वे सारे निबन्ध यत्र-तत्र पत्रिकाओं में स्थान पाते गये। उस समय साहित्यिक वातावरण इतना अधिक विस्तृत नही हो पाया था कि आज की तरह लेखक को स्थापित होने के लिए अथक संघर्ष और अविराम परिश्रम-वृत्ति को निमन्त्रण देना पड़े। द्विवेदीजी की प्रतिभा भी इस वातावरण मे चारों ओर अपनी सुगन्ध फैलाने लगी। उन्ही दिनों एक प्रतिभा-सम्पन्न आयुप्राप्त लेखक **लाला सीताराम** ने महाकवि कालिदास की शकुन्तला की आलोचना तथा तत्सम्बन्धी साहित्य पर एक बृहत् ग्रन्थ का प्रकाशन कराया। संयोगवश वह पुस्तक द्विवेदीजी की आँखों के सामने से गुजरी और उक्त पुस्तक की न्यूनताओं के आधार पर उसकी कटु आलोचना 'सरस्वती' मासिक में प्रकाशित होने के लिए भेज दी। जब द्विवेदीजी के नाम से उक्त आलोचना छपी, तब कुछ लोगों ने उनके पास सहमति एवं असहमति-भरे पत्र भेजे। अन्ततोगत्वा आचार्य द्विवेदी की समीक्षोचित निर्भीकता ने 'सरस्वती' के संचालक **बाबू चिन्तामणि घोष** को झकझोरा और घोष बाबू ने उन्हें 'सरस्वती' के प्रधान सम्पादक का पद ग्रहण करने का निमन्त्रण दे डाला। इसी के फलस्वरूप, सन् १९०३ ई० में वे 'सरस्वती' के सम्पादक बने और उस समय से सन् १९२० ई० तक उनका 'सरस्वती'-सम्पादन-कार्य न केवल जीविकोपार्जन का निमित्त बना, प्रत्युत उनके लिए यह अवधि साहित्य के हर पहलू पर जमकर लिखने-सोचने की सर्वोत्तम कला प्रमाणित हुई। लगभग १८ वर्ष तक सम्पादन-कार्य करने पश्चात् सन् १९३० ई० तक भी बुढ़ापे में वे कुछ-न-कुछ साहित्य-सेवा करते रहे। इस प्रकार, द्विवेदीजी ने लगभग ४० वर्षों से अधिक समय तक साहित्य-सर्जन किया। इस दीर्घकालावधि में उनका 'सरस्वती'-सम्पादन-काल सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि कई आलोचकों एवं इतिहास-लेखकों ने केवल उनके 'सरस्वती'-सम्पादनकाल को ही द्विवेदी-युग की संज्ञा दी है। इस सन्दर्भ में **श्रीमार्कण्डेय उपाध्याय** की अधोलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

'आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के माध्यम से जो कार्य किया, वह हिन्दी-साहित्य की बहुत बड़ी उपलब्धि है। जिस आस्था और विश्वास के साथ १८:

वर्षों तक वे 'सरस्वती' का सम्पादन करते रहे, वह उनके धैर्य, आत्मविश्वास, कर्त्तव्यनिष्ठा और ईमानदारी का सबसे बड़ा सबूत है। विश्व-साहित्य के इतिहास में ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे, जब एक व्यक्ति अकेले एक पत्रिका के माध्यम से इतनी लम्बी अवधि तक पूरे साहित्य पर छाया हुआ हो और शासन करता रहा हो।'[१]

जिस समय आचार्य द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्यभार सँभाला, उस समय तक हिन्दी-पत्रकारिता का स्वरूप बड़ा ही बिखरा हुआ-सा था। 'सरस्वती' के पहले हिन्दी में साहित्यिक पत्रिका का सर्वथा अभाव था और जो एक-आध ऐसी पत्रिकाएँ थीं, उनके साहित्यक स्तर एवं आदर्श के सम्बन्ध में मतवैभिन्न्य व्याप्त था। इसी कारण, उस समय तक हिन्दी-पत्रिकाओं के ग्राहकों-पाठकों की भी कमी थी। इसलिए, द्विवेदीजी ने जब सम्पादन-कार्य प्रारम्भ किया, तब उनके सामने सबसे पहली समस्या हिन्दीभाषी जनता मे पत्र-पत्रिकाओं के प्रति रुचि जागरित करने की आई। इसके लिए उन्होने 'सरस्वती' को यथासम्भव रोचक एव आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया और अपने अथक परिश्रम द्वारा हिन्दी का पाठक-वर्ग निर्मित किया। पाठकों की ही भाँति हिन्दी-जगत् मे विभिन्न विषयों पर लिखनेवाले सुयोग्य लेखकों की भी कमी थी। अच्छी रचनाओं की भी कमी थी। इसी कारण उस समय तक न तो हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में किसी आदर्श सुनियोजित पत्र का उदय हुआ था और न पत्रकारिता की कोई समर्थ वाणी ही मुखरित हुई थी। **डॉ० उदयभानु सिंह** ने लिखा है :

"तत्कालीन दुर्विदग्ध मायावी सम्पादक अपने को देशोपकारव्रती, नानाकला-कौशलविद्, निःशेषशास्त्रदीक्षित, समस्तभाषापण्डित और सकलकलाविशारद समझते थे। अपने पत्र में बेसिर-पैर की बातें करते, रुपया एेंठने के लिए अनेक प्रकार के वंचक विधान रचते, अपनी दोषराशि को तृणवत् और दूसरों की नन्ही-नन्ही-सी त्रुटि को सुमेरु समझकर अलेख्य लेखों द्वारा अपना और पाठकों का अकारण समय नष्ट करते थे।"[२]

उस समय की सम्पादन-कला के बारे में डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश' ने लिखा है :

"उस समय सम्पादन-कला का कोई आदर्श स्थिर नहीं था। बड़े और प्रसिद्ध व्यक्ति के त्रुटिपूर्ण लेख भी छपते थे और छोटे लोगों के विद्वत्तापूर्ण लेखों की भी उपेक्षा होती थी : आलोचनार्थ आये ग्रन्थों का नाममात्र छाप दिया जाता था।

---

१. श्रीमार्कण्डेय उपाध्याय : 'सरस्वती-पत्रिका और द्विवेदीजी की सम्पादकीय नीति', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० १२६।

२. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० १६२।

लेखों के प्रतिपाद्य विषय का सम्पादन करना तो दूर, उनकी भाषा तक को नहीं सुधारा जाता था। समय की पाबन्दी पर तो किसी का ध्यान ही नहीं था।"[1]

कुल मिलाकर, जिस समय आचार्य द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य स्वीकार किया, उस समय उनके समक्ष हिन्दी-पत्रकारिता की निम्नांकित न्यूनताओं को समाप्त करने की समस्या थी :

(क) अच्छे लेखकों का अभाव।
(ख) बड़ी संख्या में हिन्दी-पाठकों की कमी ।
(ग) खड़ीबोली हिन्दी-गद्य के व्यावहारिक एवं व्याकरण-सम्मत रूप का अभाव ।
(घ) अँगरेजी, बँगला, मराठी, संस्कृत आदि के साहित्य की उत्कृष्ट उपलब्धियों के साथ हिन्दी-जगत् का अपरिचय।
(ङ) विदेशों में होनेवाली ज्ञान-विज्ञान के नूतन शोधों एवं परिवर्त्तनों के प्रति हिन्दीभाषी जनता का अज्ञान ।
(च) हिन्दी में प्रकाशित होनेवाले अस्वरूप साहित्य का प्रसार एवं उत्कृष्ट रचनाओं की कमी ।

उपर्युक्त त्रुटियों एवं अभावों से हिन्दी-पत्रकारिता उस समय व्याप्त थी। ऐसे ही समय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्यभार ग्रहण किया।

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदित 'सरस्वती' का प्रकाशन इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद द्वारा सन् १९०० ई० में प्रारम्भ हुआ था। इसके सम्पादक-मण्डल में पाँच व्यक्ति थे—**कार्त्तिकप्रसाद खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, जगन्नाथ रत्नाकर, बाबू श्यामसुन्दरदास एवं राधाकृष्णदास**। इस नवप्रकाशित पत्रिका के प्रथम अंक की भूमिका में ही 'सरस्वती' के उद्देश्य और रूपरेखा का उल्लेख इन पंक्तियों में किया गया :

"...और, इस पत्रिका में कौन-कौन-से विषय रहेंगे, यह केवल इसी से अनुमान करना चाहिए कि इसका नाम 'सरस्वती' है। इनमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास, चम्पू, इतिहास, जीवनचरित, पत्र, हास्य, परिहास, कौतुक पुरावृत्त, विज्ञान, शिल्प, कला-कौशल आदि साहित्य के यावतीय विषयों का यथावकाश, समावेश रहेगा और आगत ग्रन्थादिकों की यथोचित समालोचना की जायगी। यह हमलोग निज मुख से नहीं कह सकते कि भाषा में यह पत्रिका अपने ढंग की प्रथम होगी। किन्तु, हाँ,

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु : 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास', भाग १३, पृ० १४७।

सहृदयों की समुचित सहायता ओर सहयोगियों की सच्ची सहानुभूति हुई, तो अवश्य यह अपने कर्त्तव्य-पालन में सफलमनोरथ होने का यथाशक्य उद्योग करने में शिथिलता न करेगी।"[१]

इस पत्रिका का उद्देश्य उसके प्रारम्भिक सम्पादकों ने बड़ा ही महान् रखा था, परन्तु इस प्रतिज्ञा का पालन उन लोगों ने किस तत्परता से किया, इसका अनुमान 'सरस्वती' के प्रथम अंक की विषय-सूची पर दृष्टिपात करके लगाया जा सकता है :

१. भूमिका
२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनी
३. सिम्बेलीन : शेक्सपियर-रचित नाटक की आख्यायिका का मर्मानुवाद
४. प्रकृति की विचित्रता—कुत्ते के मुँहवाला आदमी
५. काश्मीर-यात्रा
६. कवि-कीर्त्ति-कलानिधि : अर्जुनमिश्र
७. आलोक-चित्रण अथवा फोटोग्राफी

लेख-संख्या को छोड़कर अन्य सभी लेख सम्पादकों के लिखे हुए थे। पत्रिका का कलेवर प्रारम्भ में १६ से २१ पन्नों तक सीमित रहा। प्रारम्भिक तीन वर्षों तक 'सरस्वती' के सम्पादक उसे विविध-विषय-मण्डित करने की अपनी प्रतिज्ञा का पूर्णतः पालन नहीं कर सके। पहले वर्ष पाँच सम्पादकों के होते हुए भी सम्पादन का पूरा भार **बाबू श्यामसुन्दरदास** पर ही रहा। सन् १९०१ ई० में केवल श्यामसुन्दरदास ही सम्पादक रह गये। अपने एकाकी सम्पादकत्व में उन्होंने 'सरस्वती' का यथासम्भव कुछ सुधार किया। परन्तु, नागरी-प्रचारिणी सभा का कार्यभार तथा कुछ सुधार आदि अन्य कई महत्त्वपूर्ण कार्यों में व्यस्त होने के कारण वे 'सरस्वती' को अपेक्षित समय और श्रम प्रदान नहीं कर पाते थे। अतएव, उन्होंने सन् १९०१ ई० के अन्त में 'सरस्वती' का सम्पादन करने में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। इस समय तक इण्डियन प्रेस के संचालक **बाबू चिन्तामणि घोष** की पारखी दृष्टि ने **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** की प्रतिभा को पहचान लिया था। और, उन्होंने श्यामसुन्दरदास के कार्यमुक्त होते ही द्विवेदीजी को पत्रिका के सम्पादन का कार्य सौंप दिया।

आचार्य द्विवेदी कवि भी थे, निबन्धकार भी थे, आलोचक भी थे, कहानीकार भी थे और सर्वोपरि वे सम्पादक थे। उनकी साहित्य-साधना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश उनके 'सरस्वती'-सम्पादक के रूप में ही प्रतिपादित हुआ है। 'सरस्वती' का सम्पादन

---

१. भूमिका, 'सरस्वती', भाग १, संख्या १, जनवरी, १९०० ई०।

अपने हाथ मे लेते ही उन्होने अपनी सारी बुद्धि—सारी शक्ति को इस पत्रिका के लिए व्यय करना प्रारम्भ कर दिया। **डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे** ने लिखा है :

"युगप्रवर्त्तक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'सरस्वती' दोनों दो शरीर और एक आत्मा थे। कल्याणी गगा को अवनि पर लाकर सम्राट् भगीरथ ने उसे भागीरथी बना दिया, उसी प्रकार द्विवेदीजी ने भी 'सरस्वती' के युगान्तरकारी एवं प्रभावोत्पादक नाद-सौन्दर्य से हिन्दी-संसार को विमोहित कर दिया।"[1]

पत्रिका के अंग-अंग मे उनकी प्रतिभा की झलक दिखाई पडने लगी। 'सरस्वती' के प्रारम्भिक सम्पादकों ने इसकी जो रूपरेखा बनाई थी और इसे हिन्दी की अप्रतिम पत्रिका बनाने की जो प्रतिज्ञा की थी, उसका अक्षरश: एवं और भी अधिक परिष्कृत रूप से पालन द्विवेदीजी ने किया। इसके फलस्वरूप द्विवेदीजी के सम्पादन में 'सरस्वती' के एक-दो अंकों के निकलते ही हिन्दी-जगत् में इस पत्रिका को सर्वोच्च स्थान मिलने लगा। अपने सम्पादकत्व के सम्बन्ध में द्विवेदीजी की कतिपय निजी मान्यताएँ थी। अपने आत्मनिवेदन में उन्होंने सम्पादन-सम्बन्धी अपने आदर्शों की जो विस्तृत विवेचना की है, उससे उनकी सम्पादन-कला के मूल बिन्दुओं तक सरलता से पहुँचा जा सकता है। उन्होंने स्वयं लिखा है :

"सरस्वती के सम्पादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किये। मैंने संकल्प किया : १. वक्त की पाबन्दी करूँगा। २. मालिकों का विश्वासपात्र बनने की चेष्टा करूँगा। ३. अपने हानि-लाभ की परवा न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा खयाल रखूँगा और ४. न्यायपथ से कभी न विचलित हूँगा। इनका पालन कहाँ तक मुझसे हो सका, संक्षेप में सुन लीजिए :

१ सम्पादकजी बीमार हो गये, इस कारण 'स्वर्ग' दो हफ्ते बन्द रहा। मैनेजर साहब के मामा परलोक प्रस्थान कर गये, लाचार 'विश्वमोहिनी' पत्रिका देर से निकल रही है। 'प्रलंयकर' पत्रिका के विधाता का फौण्टेनपेन टूट गया। उसके मातम में १३ दिन काम बन्द रहा। इसी से पत्रिका के प्रकाशन में विलम्ब हो गया। प्रेस की मशीन नाराज हो गई। क्या किया जाता। 'त्रिलोकमित्र' का यह अंक उसी से समय पर न छप सका। इस तरह की घोषणाएँ मेरी दृष्टि में बहुत पड़ चुकी थीं। मैंने कहा—मैं इन बातों का कायल नहीं। प्रेस की मशीन टूट जाय, तो उसका जिम्मेदार मैं नही, पर कॉपी समय पर न पहुँचे, तो उसका जिम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम कर किया। चाहे पूरा-का-पूरा अंक मुझे ही

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे : सरस्वती तथा अमर शहीद श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी, 'सरस्वती', हीरक-जयन्ती-अंक, सन् १९६१ ई०, पृ० ३५।

क्यों न लिखना पड़ा हो, कॉपी समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहाँतक किया कि कम-मे-कम छ. महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रखी। सोचा, यदि मैं महीनों बीमार पड़ जाऊँ, तो क्या हो? 'सरस्वती' का प्रकाशन तबतक बन्द रखना क्या पाठकों के साथ अन्याय करना न होगा? अस्तु, मेरे कारण सोलह-सत्रह वर्ष के दीर्घ काल में एक बार भी 'सरस्वती' का प्रकाशन नही रुका। जब मैने अपना काम छोड़ा, तब भी मैने नये सम्पादक को बहुत-से बचे हुए लेख अर्पण किये। उस समय के उपार्जित और अपने लिखे हुए कुछ लेख अब भी मेरे संग्रह मे सुरक्षित है।

२. मालिकों का विश्वासी बनने की चेष्टा में मै यहॉतक सचेत रहा कि मेरे कारण उन्हे कभी उलझन में पड़ने की नौबत नही आई। 'सरस्वती' के जो उद्देश्य थे, उनकी रक्षा मैंने दृढता से की। एक दफे अलबत्ता मुझे इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के बॅगले पर हाजिर होना पड़ा। पर मै भूल से तलब किया गया था। किसी विज्ञापन के सम्बन्ध में मजिस्ट्रेट को चेतावनी देनी थी, वह किसी और को मिली; क्योकि विज्ञापनो की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था। मेरी सेवा से 'सरस्वती' का प्रचार जैसे-जैसे बढ़ता गया और मालिको का मै जैसे-जैसे अधिकाधिक विश्वासभाजन बनता गया, वैसे-ही-वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया। और, मेरी आर्थिक स्थिति प्रायः वैसी ही हो गई, जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। इसमें मेरी कारगुजारी कम, दिवंगत **बाबू चिन्तामणि घोष** की उदारता ही अधिक कारणीभूत थी। उन्होने मेरे सम्पादन-स्वातन्त्र्य मे कभी बाधा नही डाली। वे मुझे अपना कुटुम्बी-सा समझते रहे और उनके उत्तराधिकारी अबतक भी मुझे वैसे ही समझते है।

३. इस समय तो कितनी ही महारानियाँ तक हिन्दी का गौरव बढ़ा रही है, पर उस समय एकमात्र 'सरस्वती' ही पत्रिकाओं की रानी नही, पाठको की सेविका थी। तब उसमे कुछ छापना या किसी के जीवन-चरित्र आदि प्रकाशित करना जरा बड़ी बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी-कभी बड़े-बड़े प्रलोभन दिये जाते थे। कोई कहता, मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मै तुम्हें निहाल कर दूँगा। कोई लिखता, अमुक सभापति की स्पीच छाप दो, मै तुम्हारे गले मे बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आज्ञा देता, मेरे प्रभु का सचित्र जीवनचरित निकाल दो, तुम्हे एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नजर की जायगी। इन प्रलोभनों का विचार करके मै अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाशमहलों को खुद मेरी ही पत्नी ने गिराकर चूर कर दिया, तब भला मै वे घड़ियाँ और पैरगाड़ियाँ कैसे हजम कर सकूँगा। नतीजा यह होता कि मै बहरा-गूँगा बन जाता और 'सरस्वती' मे वही मसाला जाने देता, जिससे मैं पाठकों का लाभ समझता। मै उनकी रुचि का सदैव खयाल रखता और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको

सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। संशोधन द्वारा लेखों की भाषा अधिकसंख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर उनकी विद्वत्ता की झूठी छाप छापने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

४. 'सरस्वती' में प्रकाशित मेरे लघु लेखों (नोटों) और आलोचनाओं से ही सर्व साधारणजन इस बात का पता लगा सकते हैं कि मैंने कहाँतक न्याय-मार्ग का अवलम्बन किया है। जान-बूझकर मैंने कभी अपनी आत्मा का हनन नहीं किया, न किसी के प्रसाद की प्राप्ति की आकांक्षा की और न किसी के कोप से विचलित हुआ।....''[1]

तत्कालीन विषम परिस्थितियों में हिन्दी के लिए एक अत्यन्त अध्यवसायी सेवक, एकनिष्ठ कर्मयोगी, बहुभाषाविज्ञ, साहसी महावीर, प्रखर आलोचक, कठोर अनुशासक एवं कुशल युग-नियन्ता सूत्रकारके महान् व्यक्तित्वसे सम्पन्न सम्पादक की आवश्यकता थी। आचार्य द्विवेदीजी में ये सब विशेषताएँ एक साथ ही उपस्थित थीं। 'सरस्वती' के सम्पादन द्वारा आचार्य द्विवेदी ने हिन्दी-भाषा को परिष्कृत, मंजुल और शुद्ध रूप दिया, हिंदी-साहित्य को आदर्श दिया, नीति दी, हिन्दी-पाठकों को ज्ञान एवं आनन्द दिया, हिंदी को निर्माणकारी लेखक दिए और स्वयं भी निरन्तर विविध विषयों पर लिखा। उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' को उन्नत पत्रकार-कला का नमूना कहा जा सकता है। वास्तव में, 'सरस्वती'-सम्पादक आचार्य द्विवेदी के साथ ही हिन्दी-जगत् में, प्रथमतः सन् १९०३ ई० में आधुनिक सम्पादन-कला का प्रवेश हुआ। अपनी सम्पादन-नीति एवं सम्पादन-सम्बन्धी आदर्शों के लिए द्विवेदीजी के सम्मुख कोई विकल्प नहीं था। वे बड़ी कठोरता से अपने नियमों का पालन करते थे। पं० देवीदत्त शुक्ल[2] ने इस सन्दर्भ में एक पी-एच्० डी० लेखक महोदय के पास लिखे गये उनके एक पत्र का स्मरण किया है। उक्त लेखक महोदय ने अपनी एक रचना प्रकाशनार्थ भेजते हुए अनुरोध किया था कि लेख को सम्पादित करते समय उसमें कोई उर्दू-शब्द न जोड़ा जाय। द्विवेदीजी ने उक्त रचना को लौटाते हुए उन्हें उत्तर दिया कि 'सम्पादन के सम्बन्ध में मैं किसी प्रकार की कोई शर्त्त स्वीकार नहीं करता।' इस तरह, द्विवेदीजी ने अपने आदर्शों का यथासम्भव बड़ी दृढता के साथ पालन किया। जिस तत्परता एवं नियमंबद्धता के साथ उन्होंने अपनी सम्पादन-कला को संचालित किया,

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'मेरी जीवनरेखा', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० १५-१६।

२. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ५४०।

उसका गहरा प्रभाव 'सरस्वती' के रूप-सौष्ठव, प्रचार तथा महत्त्व पर भी पड़ा। द्विवेदीजी के सम्पादन-काल में न केवल 'सरस्वती' का रूप-शृंगार आकर्षक बन गया, अपितु उसकी ख्याति और महत्ता भी बढ़ गई। पाठकों की संख्या में वृद्धि हुई एवं हिन्दी के साहित्यसेवियों के बीच 'सरस्वती' में छपना गौरव की बात हो गई। **आचार्य शिवपूजन सहाय** ने 'सरस्वती' की तत्कालीन उन्नत दशा का वर्णन करते हुए लिखा है :

"द्विवेदीजी के समय की 'सरस्वती' में जान थी। जीवन की चहल-पहल थी। सत्य की पिपासा से व्याकुल वह दुर्गम पर्वतों और दुरूह गुफाओं में अमृत-सलिल को ढूँढने के लिए सदैव तत्पर थी। वह जीवन-संग्राम में शत्रुओं से मुकाबला करने के लिए सदैव खड्गहस्त रहती थी। बड़े-बड़े महारथियों ने उससे मोर्चा लिया, अपने तरह-तरह के दाँव-पेच दिखाये, हर तरह से पैंतरे बदले और तलवार चलाने के अपने जौहर से देखनेवालों को चकित भी कर दिया, लेकिन 'सरस्वती' की महावीरी गदा के सामने उनकी एक न चली।"[१]

सम्पादन के क्रम में द्विवेदीजी एवं उनकी 'सरस्वती' को अनेक प्रकार की समस्याओं एवं बाधाओं का सामना करना पड़ा। द्विवेदीजी की अनुशासनपूर्ण कठोर नीति एवं खरी समालोचनाओं से अनेक साहित्यिकों एवं समाज के महानुभावों की दृष्टि उनके ऊपर वक्र थी। 'सरस्वती' के बहिष्कार का आन्दोलन भी उनसे क्षुब्ध होकर कुछ लोगों ने चलाने का प्रयत्न किया था। परन्तु, न तो वे 'सरस्वती' को हिन्दीभाषी जनता के हृदय का हार बनने से रोक सके और न द्विवेदीजी को उनके महान् आदर्शों से डिगा सके। कुल मिलाकर, हम आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' को तत्कालीन समस्त साहित्यिक प्रवृत्तियों का केन्द्रबिन्दु मानकर द्विवेदीजी के सम्पादकत्व की विवेचना कर सकते हैं। तत्कालीन परिस्थितियों में 'सरस्वती' को रखकर ही हम द्विवेदीजी की सम्पादकीय उपलब्धियों का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। उनकी सम्पादन-कला की महानता की चर्चा करते हुए **डॉ० नत्थनसिंह** ने लिखा है :

"भारतेन्दु-जीवन की पत्रकारिता के विकास को प्रौढ़ता प्रदान करने में आचार्य द्विवेदी को विशेष सफलता मिली। एक लम्बे समय तक 'सरस्वती' का सम्पादन करके आपने सम्पादन-कला का आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया। विषय-चयन, लेखकों को प्रोत्साहन, समय पर पत्र का प्रकाशन, सम्पादकीय गौरव-रक्षण और पत्र की नीति के अनुपालन का अनुपमेय निदर्शन आपने प्रस्तुत किया।"[२]

---

१. आचार्य शिवपूजन सहाय : 'शिवपूजन-रचनावली', खण्ड ४, पृ० १७१।
२. डॉ० नत्थन सिंह : 'द्विवेदीयुगीन उपलब्धियाँ', 'साहित्य-परिचय', आधुनिक साहित्य-अंक, जनवरी १९६७ ई०, पृ० ३१।

सम्पादक के रूप मे **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** की अधोलिखित पांच ऐतिहासिक उपलब्धियाँ कही जा सकती हैं :

१. उच्चस्तरीय विविध शृंगार-मण्डित पत्रिका 'सरस्वती'।

२. हिन्दी-जगत् मे नये-नये विषयों का उपस्थापन।

३. लेखको का निर्माण।

४. पुस्तकालोचन एव टिप्पणियों की आदर्श परम्परा।

५ भाषा-सुधार।

'सरस्वती' का सम्पादन करते हुए आचार्य द्विवेदीजी ने हिन्दी-संसार को इन्हीं पाँच प्रमुख उपलब्धियो का उपहार दिया। और, इनमें से प्रत्येक का हिन्दी-भाषा और साहित्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान है।

उच्चस्तरीय विविध शृंगार-मण्डित पत्रिका 'सरस्वती' :

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने जिस मास मे 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्य प्रारम्भ किया, पत्रिका के उसी अंक से उसके रूप मे श्रीवृद्धि होने लगी। जिस कार्य को उसके **बाबू श्यामसुन्दरदास, राधाकृष्णदास, किशोरीलाल गोस्वामी, कार्त्तिकप्रसाद खत्री** एवं **जगन्नाथदास रत्नाकर** जैसे पाँच-पाँच सम्पादक नहीं कर सके, उस अभूतपूर्व कार्य को द्विवेदीजी ने अकेले किया। सन् १९०३ ई० के पूर्व 'सरस्वती' का प्रकाशन नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से होता था। द्विवेदीजी ने आते ही सबसे पहले इस अनुमोदन की समाप्ति की घोषणा की। 'अनुमोदन का अन्त' शीर्षक टिप्पणी लिखकर उन्होने 'सरस्वती' को नागरी-प्रचारिणी सभा के अकुश से मुक्त कर हिन्दी-भाषी जनता के सम्मुख उसकी निजी एव स्वतन्त्र पत्रिका के रूप मे प्रस्तुत किया। विविध स्तम्भो,विषयो और चित्रो से उन्होने इस पत्रिका को सुसज्जित किया। **डॉ० उदयभानु सिंह** ने ठीक ही लिखा है :

"द्विवेदीजी की सम्पादन-कला की सर्वप्रधान विशेषता थी 'सरस्वती' की विविध-विषयक सामग्री की समंजस योजना। फलक था, तूलिका थी, रग थे, परन्तु चित्र न था। प्रतिभाशाली चित्रकार ने उनके कलात्मक समन्वय द्वारा सर्वांगपूर्ण चित्ताकर्षक चित्र अंकित कर दिया। ईंट-पत्थर, लोहे-लक्कड और चूने-गारे के रूप में विविध-विषयक रचनाओ का ढेर लगा हुआ था। शिल्पी द्विवेदीजी ने उनके सुषमित उपस्थापन द्वारा 'सरस्वती' के भव्य मन्दिर का निर्माण किया।"[१]

विषयों की अनेकरूपता, वस्तुयोजना, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, पुस्तक-परीक्षा, चित्र, चित्र-परिचय, साहित्य-समाचार के व्यंग्य-चित्र, मनोरंजक सामग्री, बालवनितोपयोगी रचनाएँ, प्रारम्भिक विषय-सूची, प्रूफ-संशोधन आदि सबसे द्विवेदीजी की

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग'।

सम्पादन-कला का चमत्कार स्पष्ट ही दिखाई पड़ता था। द्विवेदीजी के सम्पादन-काल मे 'सरस्वती' बँगला को छोड़कर सभी अन्य देशी भाषाओं की पत्रिकाओं में सर्वश्रेष्ठ थी। सम्पादक द्विवेदीजी एक जागरूक प्रहरी की भाँति अँगरेजी, उर्दू, मराठी, बंगला आदि की अधिक पत्रिकाओं को देखा करते थे। उनमे वे 'सरस्वती' का अगला अंक सुशोभित करते थे और जहाँ कहीं कोई नई बात दिखती थी, उससे 'सरस्वती' का अगला अंक सुशोभित हो जाता था। श्रीबाबूराव विष्णु पराड़कर ने द्विवेदीजी की सम्पादन-कला की मीमांसा करते हुआ लिखा है :

"आचार्य द्विवेदी के समय 'सरस्वती' का कोई अंक निकाल देखिए, मालूम होगा कि प्रत्येक लेख, कविता और नोट का स्थान पहले निश्चित कर लिया गया था। बाद मे वे उसी क्रम से मुद्रक के पास भेजे गये। एक भी लेख ऐसा न मिलेगा, जो बीच मे डाल दिया गया-सा मालूम हो। सम्पादन की यह कला बहुत ही कठिन है और एक आध को ही सिद्ध होती है। द्विवेदीजी को सिद्ध हुई थी और इसी से 'सरस्वती' का प्रत्येक अंक अपने रचयिता के व्यक्तित्व की घोषणा अपने अंग-प्रत्यंग के सामंजस्य से देता है। मैने अन्य भाषाओं के मासिकों में यह भी विशेषता बहुत कम पाई है और विशेषकर इसी के लिए मैं स्वर्गवासी पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी को सम्पादकाचार्य मानता हूँ।"[1]

द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में चित्रों को प्रकाशित करने की सुन्दर परम्परा जीवित रखी। उन्होंने पाठकों के बौद्धिक एव आत्मिक विकास के उद्देश्य से विभिन्न सादे एवं रंगीन चित्रों द्वारा 'सरस्वती' को अलंकृत किया। प्राकृतिक दृश्यों और धार्मिक प्रसगों पर आधृत, तथा सामाजिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक एवं काव्य में वर्णित विभिन्न विषयो पर आधृत रंगीन चित्रों का संकलन 'सरस्वती' के तत्कालीन अंकों मे मिलता है। इसी तरह लेखों के उदाहरण के रूप में स्थानों और व्यक्तियों आदि के सादे चित्र भी उसी समय से 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगे। इण्डियन प्रेस में ही 'मॉडर्न रिव्यू' तथा 'प्रवासी' की भी छपाई होती थी, इस कारण द्विवेदीजी 'सरस्वती' के लिए इन दोनो पत्रिकाओं में प्रकाशित चित्रों का पुनर्मुद्रण करवा लेते थे।[2] रचनाओं को चित्र के साथ छापने की ओर उनका विशेष ध्यान था। परन्तु, वे

---

१. श्रीबाबूराव विष्णु पराड़कर : 'सम्पादकाचार्य द्विवेदीजी', 'साहित्य-सन्देश', द्विवेदी-अंक।

२. उन्होंने कामताप्रसाद गुरु की 'शिवाजी' शीर्षक कविता को सचित्र करने के लिए लिखा था : 'मई सन् १९०७ ई० के मॉडर्न रिव्यू के ४३८ पृष्ठ पर जो शिवाजी का चित्र है, वह इसके साथ छापिए।' — म० प्र०

—'सरस्वती' की हस्तलिखित प्रतियाँ, नागरी-प्रचारिणी सभा।

'सरस्वती' में अच्छे बालकोंवाले सुन्दर चित्रों को ही छपने देना चाहते थे। असुन्दर अथवा अस्पष्ट ब्लॉकों वाले चित्रों के छप जाने पर उन्होंने एतदर्थ क्षमायाचना की थी।[1]

चित्रों के मुद्रण एवं चयन मे द्विवेदीजी ने उनकी कला और उपादेयता का सर्वोपरि ध्यान रखा। 'सरस्वती' मे प्रकाशित अधिकांश रंगीन चित्र **राजा रवि वर्मा** और **रामेश्वरप्रसाद वर्मा** की तूलिका की उपज रहते थे। सभी पाठक सभी चित्रों का सही-सही भाव ग्रहण करने मे सक्षम नहीं थे, इस कारण 'सरस्वती' में चित्रो का परिचय देना भी द्विवेदीजी ने आवश्यक समझा। चित्रो का परिचय देने मे भी द्विवेदीजी ने प्रतिभा का चमत्कार दिखाया है। **डॉ० उदयभानु सिंह** ने लिखा है :

"शैली की दृष्टि से द्विवेदीजी के चित्र-परिचय के चार वर्ग किये जा सकते हैं: अधिकांश शृंगारिक एवं स्पष्ट चित्रों के परिचय में उनके नाममात्र का उल्लेख,[2] कलात्मक चित्रों और उनके रचयिताओ का विशेष परिचय और अधिक सुन्दर होने पर उनकी प्रशंसात्मक आलोचना,[3] अत्यन्त भावपूर्ण एव प्रभावोत्पादक चित्रों का काव्यमय निदर्शन[4] और यदा-कदा ऐतिहासिक आदि चित्रों की तुलनात्मक विवेचना[5] भी है।[6]

ऐसे सामान्य रंगीन एवं सादे चित्रों के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में साहित्यिक व्यंग्य-चित्रों को भी स्थान दिया। इसके पूर्व हिन्दी की किसी भी पत्रिका मे ऐसे व्यंग्य-चित्रों का प्रस्तुतीकरण नही हुआ था। ऐसे व्यंग्य-चित्रों के माध्यम से तत्कालीन हिन्दी-साहित्य की कल्पना देने तथा हिन्दी-संसार के यथार्थ को लोगों को सामने रखने का प्रयास किया गया है। इन व्यंग्यात्मक चित्रों ने पाठकों मे एक क्षेत्र-विशेष का निर्माण करने मे सहायता दी। उस समय की, हिन्दी-जगत् में व्याप्त सारी समस्याओं एवं परिस्थितियो का वास्तविक स्वरूप सामने रखनेवाले ये

---

१. 'सरस्वती की गत सख्या मे शास्त्रविशारद जैनाचार्य श्रीविजयधर्मसूरि का चित्र नही दिया जा सका। कारण यह हुआ कि ब्लॉक अच्छा न होने से चित्र खराब छपा। और, ऐसा चित्र छापने से न छापना ही अच्छा समझा गया।' —'सरस्वती', अक १२, वर्ष ७, पृ० ३५१।

२. उदाहरणार्थ, 'नवोढ़ा', सरस्वती, भाग १८, खण्ड १ आदि।

३. उदाहरणार्थ, 'आतिथ्य', सरस्वती, जुलाई, १९१८ ई० आदि।

४. उदाहरणार्थ, 'वियोगिनी', सरस्वती, दिसम्बर, १९१५ ई० आदि।

५ उदाहरणार्थ, 'प्राचीन तक्षण-कला के नमूने', सरस्वती, दिसम्बर, १९१५ ई० आदि।

६. डॉ० उदयभानु सिंह ; 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० १७७।

चित्र हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र मे भी स्थायी महत्त्व रखते है। 'सरस्वती' का सम्पादन-भार स्वीकार करने के पूर्व सन् १९०२ ई० से ही द्विवेदीजी पत्रिका मे व्यग्य-चित्रो का प्रकाशन प्रारम्भ करा चुके थे। इसके पूर्व सन् १९०१ ई० मे 'सरस्वती' (सख्या १०, पृ० ३५७) मे भी **बाबू श्यामसुन्दरदास** की प्रेरणा से 'चित्रगुप्त की रिपोर्ट' शीर्षक व्यग्य-चित्र प्रकाशित हुआ था। युक्त अक के पृष्ठ ३५० तथा ३५८ पर दो चित्र छपे थे। पहले चित्र मे एक सज्जन खड़े हुए किताब पर कुछ लिख रहे है और पास मे डाकिया खड़ा है। दूसरे चित्र में अपने चारो ओर कागज फैलाये चित्रगुप्त बैठे है, पास ही अरुणक कुछ कागज लेने के लिए हाथ फैला रहा है। इन दोनो ही साधारण और स्पष्ट चित्रो के नीचे एक वक्तव्य सवादो के रूप मे लिखा है। सम्भव है, चित्र को बाबू श्यामसुन्दरदास ने बनवाया हो, परन्तु 'चित्रगुप्त की रिपोर्ट' शीर्षक जो सवादात्मक वक्तव्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, वही इस व्यग्य-चित्र की मूल आत्मा है। उक्त वक्तव्य इस प्रकार है :

चित्रगुप्त की रिपोर्ट

चिट्ठीरसाँ : आपके नाम एक वी० पी० भी है।

बाबू साहब : वी० पी० ! मेरे नाम !! नामुमकिन !!!

चि० : यह लीजिए।

बाबू : (खूब देख-भालकर) यह मेरे लिए नही।

चि० : नाम तो वस आपका ही है। हिन्दो मे है, सो भी छपा हुआ है (पढता है)।

बाबू : नहीं, नही। जहाँ से यह किताव आई है, वहाँ यह नाम कोई नही जानता।

चि० : क्या आपके कई नाम है ?

बाबू : बड़ा गुस्ताख है।

चि० : कसूर माफ हो, इसी नाम पर आय हुए अखबार वगैरह में रोज ही आपको दे जाया करता हूँ।

बाबू : अरे मूर्ख ! मेरे नाम के अगाड़ी औ पिछाड़ी जो कुछ होना चाहिए, वह इसपर नही है। मेरा नाम बकायदे नही लिखा।

चि० : अच्छा आप इसपर लिख दीजिए कि अगाड़ी-पिछाड़ी के न होने से आप लेने से इनकार करते है।

बाबू : फिर गुस्ताखी ! मैं तुम्हारी शिकायत करूँगा। (यह कहकर खड़े-ही-खड़े पेंसिल से पैकेट पर 'इनकार किया' लिखकर बाबू साहब ने उसे चिट्ठीरसाँ को वापस किया।)

चि० : (चलता हुआ)।

बाबू : हैं, वी० पी० ! अभी दो वर्ष भी पूरे नहीं हुए !! मेरी प्रतिष्ठा मे चोट लगने का भी खयाल नही !!!

चित्रगुप्त : (पार्षद की ओर देखकर) अरुणक ! यह संवाद जो मैंने अभी दर्ज रजिस्टर किया, उसकी यह नकल तबतक प्रयाग की 'सरस्वती' मे छपने के लिए तुम फौरन दे आओ।

अरुणक : जो आज्ञा, महाराज ! (जाता है।)

यह सवाद मनोरजक होने के साथ-साथ कई सुझावो से भी भरा हुआ है। प्रसंग से जान पड़ता है कि दो वर्ष का चन्दा 'सरस्वती' का पूरा होने के पूर्व ही 'सरस्वती' के लेखक की प्रतिष्ठा पर ध्यान नही दिया गया और पत्रिका वी० पी० से भेज दी गई और वह भी पण्डित अथवा श्री तथा वंशनाम के बिना ही पता लिखकर। इसी भूल की ओर सकेत करने के लिए उक्त संवाद को द्विवेदीजी ने प्रस्तुत किया था। 'चित्रगुप्त की रिपोर्ट' में चित्र से अधिक सवाद का महत्त्व है। बाद मे सन् १९०२ ई० में द्विवेदीजी ने 'साहित्य-समाचार' शीर्षक एक स्तम्भ ही व्यंग्य-चित्रों के लिए 'सरस्वती' में प्रारम्भ करवा दिया। इन चित्रो की कल्पना द्विवेदीजी के मन मे ही उत्पन्न हुई। कल्पित चार व्यंग्य-चित्र सन् १९०२ ई० की 'सरस्वती' मे उनके द्वारा इस प्रकार प्रकाशित हुए थे :

१. मराठी-साहित्य, अँगरेजी-साहित्य, बँगला-साहित्य, पृ० ३५।

२. हिन्दी-साहित्य, पृ० ३६।

३. प्राचीन कविता, पृ० ९९।

४. प्राचीन कविता का अर्वाचीन अवतार, पृ० १००।

इनमें प्रत्येक में द्विवेदीजी की कल्पना का चमत्कार दीखता है। सस्कृत के आचार्यों ने साहित्य-वधू की कल्पना की थी, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य-पुरुष की कल्पना की है। पहले चित्र मे क्रमश मराठी, अँगरेजी और बंगाली वेशभूषा में सजे तीन पुरुषों का अंकन हुआ है, किसी की पगड़ी गायब है, किसी का कोट नदारद है, तो किसी का दुपट्टा गायब है। यह चित्र उस समय के उन हिन्दी-सेवको पर व्यंग्य है, जो हिन्दी-सेवा के नाम पर मराठी, अँगरेजी और बँगला की छाया प्रस्तुत करते थे। इसी साहित्यिक चोरी की ओर दूसरे चित्र 'हिन्दी-साहित्य' में भी संकेत किया गया है। हिन्दी-साहित्य को पुरुष-वेश धारण किये इस चित्र मे दिखाया गया है—अँगरेजी कोट है, कन्धे पर बंगाली दुपट्टा और सिर पर मराठी पगड़ी है। सन् १९०२ ई० में ही 'प्राचीन कविता' नामक चित्र भी छपा। इसमें प्राचीन कविता को स्त्रीवेश में खूब शृंगार कर बैठे बाँसुरी बजाते हुए दिखाया गया है। पाँच रसिक उसकी ओर मुग्धभाव से देख भी रहे है। इस चित्र के माध्यम से शृंगार-प्रधान प्राचीन कविता की कोमलकान्त पदावली-रूपी बाँसुरी की तान पर रसिक दरबारी लोगों को मुग्ध करने की प्रवृत्ति पर व्यंग्य किया गया है। परन्तु, 'प्राचीन कविता का अर्वाचीन अवतार' शीर्षक चित्र में कविता का भयानक नारी-रूप दिखलाया गया है। घोर विलासिता-

एवं शृंगार का विकृत रूप प्रतीकित करनेवाली इस स्त्री का उर्ध्वभाग नग्न है, बायाँ हाथ कटा हुआ है, बाल कटे हुए है और इस बीभत्स कविता को देखकर जनसमूह भाग रहा है। इस चित्र के द्वारा द्विवेदीजी ने साहित्यिकों को सचेत किया है कि वे अश्लील एवं विकलांग कविता का निर्माण नहीं करे। 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथ में लेते ही द्विवेदीजी ने 'साहित्य-समाचार' का स्थायी स्तम्भ ही पत्रिका मे प्रारम्भ कर दिया और प्रत्येक अक में एक-न-एक व्यंग्य-चित्र देने लगे। सन् १९०३ ई० मे, 'सरस्वती' के अंकों मे द्विवेदीजी की कल्पनाप्रसूत अधोलिखित व्यंग्य-चित्र प्रकाशित हुए थे :

१ कविता-कुटुम्ब पर विपत्ति	पृ० ३६
२. साहित्य-सभा	पृ० ११३
३. नायिका-भेद के कवि और उनके पुरस्कर्त्ता राजा	पृ० १५०
४. कलासर्वज्ञ सम्पादक	पृ० १८६
५. मातृभाषा का सत्कार	पृ० २२२
६. काशी का साहित्य-वृक्ष	पृ० २५८
७. शूरवीर समालोचक	पृ० २९५
८ मदरसो मे प्रचलित पुस्तक-प्रणेता और हिन्दी	पृ० ३३६
९. चातकी की चरम लीला	पृ० ४०६

ये सभी शीर्षक प्रतिभाशाली 'सरस्वती'-सम्पादक की हिन्दी-साहित्यगत विपत्तियों और कमियो को दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहने की प्रवृत्ति के परिचायक है। **प्रो० निर्मल तालवार** ने ठीक ही लिखा है :

"सन् १९०२-०३ ई० में 'सरस्वती' ने इन व्यंग्य-चित्रों द्वारा काव्य की विपत्ति को बताया; सम्पादक, समालोचक, उपन्यासकार के कर्त्तव्य को समझाया, साहित्य की कौन-सी शैलियाँ और साहित्य के कौन-से विषय अछूते पड़े हैं, उस ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। जनसाधारण के सामने स्थूल रूप में साहित्य की स्थिति बताकर उनको प्रबुद्ध किया। इन चित्रों ने निश्चय ही अपने युग में एक ऐसी पृष्ठभूमि बना दी थी कि इसके बाद साहित्य का विकास समृद्ध तथा स्वस्थ रूप मे सम्भव हो सका। पाठक और लेखक दोनों ही स्वस्थ साहित्य की कामना करने लगे।"[1]

स्वस्थ साहित्य की उत्कट लालसा से रचे गये इन व्यंग्य-चित्रों में प्रत्येक के द्वारा हिन्दी-साहित्य की किसी-न-किसी समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। 'कविता-कुटुम्ब पर विपत्ति' चित्र के द्वारा समस्यापूर्त्ति की व्यापक, किन्तु अहितकर प्रवृत्ति को हटाने की अपील की गई है। 'साहित्य-सभा' तो तत्कालीन समस्त हिन्दी-संसार का ही लेखा-जोखा है। उस समय इतिहास, कोश और जीवनचरित्र उपेक्षित विधाएँ थी, उन्हें रिक्त दिखाया गया है। सन् १९०३ ई० मे साहित्य के जिन अंगों पर

१. निर्मल तालवार : 'आचार्य द्विवेदी', पृ० १६७।

लेखकों की लेखनी दौड़ रही थी, वे भी स्वस्थ एवं मंगलकारी नहीं थे। पर्यटन यथार्थ साहित्य की उपेक्षा मुँह फेर कर दिखा रहा है, समालोचना प्राकृत नहीं है। जिसकी समीक्षा उसे करनी है, उसकी अपेक्षा उसका ध्यान अपने पर है। बाजीगरी एवं ऐयारी में डूबे उपन्यासों की दशा और भी विचित्र है। व्याकरण व्याधिग्रस्त दिखाया गया है, काव्य दरबारी है और नाटक कंकाल-मात्र रह गया है। 'साहित्य-सभा' के इन विभिन्न सदस्यों की दयनीय दशा देखकर सरस्वती को रोते हुए दिखाया गया है। 'नायिका-भेद के कवि और उनके पुरस्कर्ता' ही इसी नाम के चित्र में व्यंग्यबाण के शिकार हुए हैं। 'कतानवर्ज सम्पादक' शीर्षक चित्र में दिखाया गया है कि ऊँचे मंच पर एक मोटा और नाटा व्यक्ति उर्फ सम्पादक दायें हाथ में झण्डा लेकर खड़ा है और बायें हाथ से मानों लोगों का ध्यान आकृष्ट कर रहा है। झण्डे पर लिखा है :

'हमारे यन्त्रालय की ऐसी अद्भुत पुस्तकें त्रिलोक में नहीं।
हमारे यहाँ की छड़ियाँ वज्र से भी नही टूटती !!
हमारी दवाइयो से मुर्दे भी जी उठते है !!!

इस चित्र के द्वारा दम्भी सम्पादकों की पदलोलुपता, विज्ञापनवादिता और बहुजनी होने के घमण्ड पर कटाक्ष किया गया है। 'भाषा का सत्कार' शीर्षक चित्र में मातृभाषा की अवहेलना कर भारतीय बाबुओं द्वारा अँगरेजी-रूपी प्रेयसी को अपनाये जाने पर व्यंग्य अंकित है। 'काशी का साहित्य-वृक्ष' केवल उपन्यासों को ही उत्पन्न कर रहा है, इस ओर संकेत 'काशी का साहित्य-वृक्ष' शीर्षक चित्र में है। पाठ्य-पुस्तकों की दुर्दशा का चित्रण करने के उद्देश्य से 'मदरसों में प्रचलित पुस्तक-प्रणेता और हिन्दी' शीर्षक चित्र में हिन्दी को अत्यन्त भयभीत खुले केशोंवाली नारी के रूप में 'बचाओ ! बचाओ' ! की पुकार करते दिखलाया गया है। यह हिन्दी-नारी जिससे बचना चाहती है, वह है पैण्ट-कोट-टाई लगाये खड़ा पुरुष ग्रन्थकर्त्ता, जिसने एक हाथ से स्त्री के केश खींच रखे हैं और दूसरे हाथ में प्रहार के उद्देश्य से छुरा थाम रखा है। पाठ्यक्रम के रूप में व्यवहृत हिन्दी-पुस्तकों के रचयिता हिन्दी-भाषा और साहित्य पर ऐसा ही अत्याचार करते थे, यही दिखाना इस चित्र का लक्ष्य था। द्विवेदीजी द्वारा कल्पित अन्तिम चित्र 'चातकी की चरम लीला' अन्य सभी चित्रों की अपेक्षा अधिक सांकेतिक और गूढार्थ है। काशी के गंगातट पर एक ऊँचे स्थान पर एक राजपूत खड़ा दिखाया गया है और वहीं से एक चातकी (नारी) गंगा के जलप्रवाह में कूद जाने की तैयारी में हाथ उठाये खड़ी है। घाट पर एक ओर एक भक्त और दूसरी ओर एक भक्तिन ध्यानमग्न हैं। जलधारा में चल रही एक नाव पर एक राजपुरुष बैठा है। इस चित्र में नारी अथवा चातकी कविता की प्रतीक है। राजपूत वीरगाथा-काल, भक्त और भक्तिन भक्तिकाल और नौका-विहार मे मग्न राजपुरुष रीतिकाल की अभिव्यक्ति करने के लिए अंकित हुए हैं। सन् १९०३ ई० तक आते-आते साहित्येतिहास

से इन तीनों युगो का अंत काव्यक्षेत्र मे हो गया था। कविता अरक्षिता-सी होकर आत्महत्या की दशा तक पहुँच गई है। कविता का युग बीत गया है, उसका गंगाजल मे विलीन हो जाने का उद्यम करना चरम लीला का सूचक है। इस प्रकार, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा कल्पित इन सभी व्यग्य-चित्रों के माध्यम से जिन समस्याओं एवं विचारो को प्रस्तुत किया गया है, भले ही आज वे अनावश्यक प्रतीत हो, परन्तु द्विवेदी-युग मे उनकी उपादेयता नि सन्दिग्ध थी। द्विवेदीजी ने जिस भाँति अपनी साहित्य-साधना को कई प्रयोगो से समन्वित किया, उसी प्रकार व्यंग्य-चित्रो की यह योजना भी उनके लिए प्रयोग ही थी। पता नही क्यो, सन् १९०३ ई० के बाद 'सरस्वती' में व्यग्य-चित्रो को उन्होंने स्थान नही दिया। सम्भव है, उन्हे वर्ष भर मे इन्ही चित्रों का अपेक्षित प्रभाव एव तज्जनित सुधार इस सीमा तक दीख पडा हो कि वे इनकी और अधिक आवश्यकता ही नहीं समझते हो। सामान्य पाठको के लिए इन व्यग्यप्रधान चित्रो मे कोई आकर्षण नही था। डॉ० माहेश्वरीप्रसाद सिंह 'महेश' ने लिखा है :

"इस प्रकार के व्यंग्य-चित्र पाठको को अच्छे नहीं लगे, परन्तु द्विवेदीजी उनके द्वारा हिन्दी-साहित्य का कल्याण करना चाहते थे।"[1]

और, पाठको की रुचि को ध्यान मे रखकर द्विवेदीजी को 'सरस्वती' के व्यंग्य-चित्रों का स्तम्भ 'साहित्य-समाचार' समाप्त करना पड़ा। वास्तव मे, सम्पादक के रूप में वे अपने पाठकों की रुचि का सर्वाधिक ध्यान रखते थे। 'सरस्वती' का कौन-सा रूप, कौन-सा स्तम्भ पाठको को अधिक पसन्द आयगा, इसी आधार पर उन्होंने इस पत्रिका का रूप-शृंगार अपने सम्पादन-काल मे किया था। इस प्रकार, आचार्य द्विवेदीजी ने अपने को एक सफल सम्पादक सिद्ध किया और 'सरस्वती' पर अपनी छाप लगा दी। उनके द्वारा सम्पादित मनोहारिणी पत्रिका 'सरस्वती' ने समस्त हिन्दी-साहित्य पर अपनी छाप लगा दी।

हिन्दी-जगत् में नये-नये विषयों का उपस्थापन :

'सरस्वती' के माध्यम से द्विवेदीजी ने हिन्दी का बहुविध विकास किया। इसको विभिन्न विषयों से पूर्ण करने के लिए उन्होने 'सरस्वती' के विविध विषयों से सुशोभित होने की घोषणा द्विवेदीजी के सम्पादक बनने के पूर्व ही पत्रिका के पहले अंक मे ही की गई थी। यथा :

"और, इस पत्रिका मे कौन-कौन-से विषय रहेंगे, यह केवल इसी से अनुमान करना चाहिए कि इसका नाम 'सरस्वती' है। इसमें गद्य, पद्य, काव्य, नाटक, उपन्यास चम्पू, इतिहास, जीवनचरित्र, पत्र, हास्य, परिहास, कौतुक, पुरावृत्त, शिल्प, कलाकौशल

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु : 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास', भाग १३, पृ० १९१।

आदि साहित्य के यावतीय विषयों का यथावत् समावेश रहेगा और आगत ग्रन्थादिकों की यथोचित समालोचना की जायगी।"

लेकिन, इस घोषणा का समुचित परिपालन पत्रिका के प्रारम्भिक वर्ष में तो एकदम नहीं हो सका। प्रथम वर्ष में 'सरस्वती' के अन्तर्गत उपन्यास, नाटक, विज्ञान आदि के नाम पर बहुत कम ही सामग्री जा सकी। दूसरे वर्ष से जब **बाबू श्यामसुन्दरदास** के कर्मठ कन्धों पर 'सरस्वती'-सम्पादन का भार आया, तब इसमें विषयों की विविधता कुछ बढ़ी। इस अवधि के अंकों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि जीवनचरित्र लिखने की ओर प्रवृत्ति इस समय अधिक रही। परन्तु, 'सरस्वती' का सम्पादन सन् १९०३ ई० में अपने हाथ में आते ही द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के कलेवर और सज्जा में पर्याप्त परिवर्त्तन किये और उसे विविध विषयों की ओर मोड़कर उनके आकर्षण में चार चाँद लगा दिया। उनके आने के पहले 'सरस्वती' की हालत कुछ अच्छी नहीं थी और उसके ग्राहकों की संख्याभी घटती जा रही थी। द्विवेदीजी ने बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उसमें विविध प्रकार की सामग्री प्रस्तुत कर पाठकों का ध्यान उसकी ओर खींचा एवं स्थिति को सुधार लिया। द्विवेदीजी के समक्ष तत्कालीन हिन्दी-पत्रों की दुर्दशा थी और वे समय-समय उनकी दशा पर दुःख भी प्रकट करते रहते थे। 'सरस्वती' (नवम्बर, १९१३ ई०) में उन्होंने लिखा था :

"हिन्दी-पत्र देखने से कभी-कभी यह शंका होती है कि क्या इनके सचालक अठारहवीं सदी के हैं अथवा क्या ये किसी अँगरेजी-पत्र को भूल से भी उठाकर नहीं पढ़ते और देखते कि उनमें कैसे-कैसे लेख रहते हैं और उनका सम्पादन किस ढंग से होता है? जो खबरें अँगरेजी, उर्दू और मुख्य-मुख्य हिन्दी-पत्रों में निकल जाती है, वही बहुत पुरानी हो जाने पर भी किसी-किसी पत्र में निकली देख दुःख होता है। कभी-कभी तो छः-छः महीने, वर्ष-वर्ष की पुरानी खबरें टुकडे-टुकड़े करके छापी जाती हैं। अपने नगर और प्रान्त की टटकी खबरें न छापकर मुद्दतों की और विज्ञापनों की बासी बातें प्रकाशित की जाती हैं। ग्राहकों की रुचि और लाभ का कुछ भी खयाल न करके निःसार और अरुचिकर बातें भर दी जाती हैं।"[२]

हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं की इस शोचनीय अवस्था को देखते हुए उन्होंने 'सरस्वती' को इन समस्त त्रुटियों से मुक्त एवं विविध विषयों की नवीनतम सामग्री से युक्त करने का संकल्प लिया। वे सम्पादक के लिए देश-विदेश की विभिन्न सामयिक एवं ऐतिहासिक परिस्थितियों का ज्ञान रखना अनिवार्य कर्म मानते थे। उन्होंने स्वयं 'सरस्वती'

---

१. 'सरस्वती', भाग १, आरम्भिक भूमिका।

२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श, पृ० १४-१५।

(जुलाई, १९१५ ई०) में सम्पादकों के लिए आवश्यक ज्ञान की अधोलिखित रूपरेखा प्रस्तुत की थी :

"सम्पादक को इन शास्त्रों और इन विषयों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए— इतिहास, सम्पत्तिशास्त्र, राष्ट्रविज्ञान, समाजतत्त्व, व्यवस्था-विज्ञान (Jurisprudence), अपराध-तत्त्व (Criminology), अनेक लौकिक और वैषयिक व्यापारों का संख्या-सम्बन्धी शास्त्र (Statistics) और जनपद-वर्ग के अधिकार और कर्त्तव्य, अनेक देशों की शासन-प्रणाली, शान्ति-रक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का विवरण, शिक्षा-पद्धति और कृषि-वाणिज्य आदि का वृत्तान्त। देश का स्वास्थ्य किस तरह सुधर सकता है, कृषि, शिल्प और वाणिज्य की उन्नति कैसे हो सकती है, शिक्षा का विस्तार और उत्कर्ष-साधन कैसे किया जा सकता है, किन उपायों के अवलम्बन से हम राष्ट्र-सम्बन्धी नाना प्रकार के अधिकार पा सकते है, सामाजिक कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकते है इत्यादि अनेक विषयों पर सम्पादकों को लेख लिखने चाहिए।"[1]

'सरस्वती' के यशस्वी सम्पादक के रूप मे द्विवेदीजी ने विषय-वैभिन्न्य की इस कसौटी पर अपनी प्रतिभा को खरा साबित किया है। 'सरस्वती' में विविध विषयों की समंजस योजना ही द्विवेदीजी की सम्पादन-कला का विशेष माधुर्य था। उन्होंने अद्भुत और विचित्र विषयों के आकर्षण एवं आख्यायिका की सरसता, आध्यात्मिक विषयों की ज्ञान-सामग्री, ऐतिहासिक विषयों की राष्ट्रीयता, कविताओं की मनोहारिता और कान्ता-सम्मित उपदेशों, जीवनियों में वर्णित आदर्श चरित्रों, भौगोलिक विषयों में समाविष्ट देश-विदेश की ज्ञातव्य और मनोरंजक बातों, वैज्ञानिक विषयों में वर्णित विज्ञान के आविष्कारों और उनके महत्त्व की कथाओं, शिक्षा-विषयों के अन्तर्गत देश की अवनत एवं विदेशों की उन्नत दिशा की समीक्षा, शिल्पादि-विषयक लेखों में भारत तथा अन्य देशों के कला-कौशल का निदर्शन, साहित्यिक विषयों में साहित्य के सिद्धान्तों, रचनाओं और रचनाकारों की समालोचनाओं, फुटकर विषयों में विविध प्रकार की व्यापक बातों की चर्चा, विनोद और आख्यायिका, हँसी-दिल्लगी, मनोरंजक श्लोकों की मनोरंजकता, चित्रों के उदाहरण और उनकी कला, व्यंग्य-चित्रों में साहित्यगत दुरवस्था का संकेत कर 'सरस्वती' को सर्वांगसुन्दर बनाने का प्रयत्न किया। उस समय की 'सरस्वती' मे विज्ञान के नये आविष्कारों, देश-विदेश की हलचलों, महत्त्वपूर्ण जीवनचरित, इतिहास-दर्शन आदि सभी विषयों पर रचनाएँ आने लगी थीं। द्विवेदीजी ने विविध विषयों के सामग्री-संचयन के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण इन शब्दों में प्रकट किया है :

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० ४३-४४ ।

"पश्चिमी देशों ने अपने मासिक साहित्य का बँटवारा कर लिया है। स्वास्थ्य, खेल-कूद, व्यायाम, राजनीति आदि कितने ही विषय ऐसे है, जिनके सम्बन्ध में अलग-अलग पत्र और पत्रिकाएँ प्रकाशित होती है। इसलिए बहुत सुभीता होता है। पाठक अपनी रुचि के अनुकूल अपने इच्छित विषय के पत्र देते और पढ़ते हैं।"[1]

लेकिन, सन १९०३ ई० के आसपास हिन्दी-जगत् इतना समृद्ध नही था कि विविध विषयो पर अलग-अलग पत्रिकाएँ रहती। आज भी सभी विषयों पर हिन्दी में पत्रिकाएँ नही प्रकाशित होती हैं। द्विवेदीजी पाठकों रुचि की विविधता से परिचित थे। अतः, 'सरस्वती' के माध्यम से वे विविध विषयों की सामग्री देने का प्रयास करते थे। 'विविध विषय' स्तम्भ वे स्वयं लिखा करते थे, जिसके अन्तर्गत विभिन्न विषयों से सम्बद्ध छोटी-छोटी सूचनात्मक टिप्पणियाँ रहती थी। 'सरस्वती' के इस स्तम्भ द्वारा वे हिन्दी-पाठकों को सकुचित दायरे से निकालकर एक विस्तृत भूमि पर खड़ा करना चाहते थे। इस प्रकार की विविधविषयक सामग्री के लेखन की दिशा मे प्रवृत्त होने के लिए द्विवेदीजी तत्कालीन साहित्यकारो से अनुरोध भी करते रहते थे। 'ग्रन्थकारों से विनय' नामक कविता में उन्होंने हिन्दी में सत्काव्य, इतिहास, विज्ञान आदि की रचना की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है :

सत्काव्य तथा इतिहास और विज्ञान
सत्पुरुषों के भी चरित विचित्र-विधान
लिखिए है लेखन-कला कुशलतावान
इसमें ही है सब भाँति देश कल्याण[2]

परन्तु, प्रारम्भ मे हिन्दी का लेखक-समूह नये-नये विषयो पर कलम उठाने के लिए तैयार नही था। अत., इन विषयो पर द्विवेदीजी ने स्वय लेखनी चलाई। मनोनुकूल विषयों पर रचनाओ की उपलब्धि के अभाव में 'सरस्वती' के प्रारम्भिक वर्षो में तो अधिकाश रचनाएँ स्वयं द्विवेदीजी ने ही लिखी है। इस कथन की पुष्टि में सन् १९०३ ई० की 'सरस्वती' मे छपी विभिन्न विषयों की रचनाओ की प्रस्तुत सूची को देखा जा सकता है :

विषय	कुल रचनाएँ	अन्यों की	द्विवेदीजी की
अद्भुत	१०	१	९
आख्यायिका	८	६	२

१. द्विवेदी-पत्रावली, पृ० १९०-१९१।
२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'ग्रन्थकारों से विनय', 'सरस्वती', सन् १९०५ ई०, पृ० ५३।

विषय	कुल रचनाएँ	अन्यों की	द्विवेदीजी की
कविता	२३	१९	४
जीवनचरित (स्त्री)	८	—	८
जीवनचरित (पुरुष)	११	४	७
फुटकर	१६	३	१३
विज्ञान	१४	१	१३
साहित्य	९	४	५
व्यंग्य-चित्र	१०	१	९

स्पष्ट है कि विविध विषयों के लेखन में द्विवेदीजी को उस समय अन्य लेखकों का भरपूर सहयोग नहीं मिला था। अतएव, द्विवेदीजी ने कभी अपने नाम से और कभी कल्पित भड़कीले नामों से विविध विषयों की सामग्री प्रकाशित कर 'सरस्वती' का भाण्डार भरा। **डॉ० उदयभानु सिंह** ने उनकी कल्पित नामावली इस प्रकार प्रस्तुत की है :

"द्विवेदीजी ने कभी 'कमलाकिशोर त्रिपाठी' बनकर 'समाचार का विराट् रूप'[१] दिखलाया, तो कभी 'कल्लू अल्हइत' बनकर 'सरगो नरक ठेकाना नाहिं'[२] का आल्हा गाया। कभी 'गजानन गणेश गर्वखण्डे' के नाम से 'जम्बुकीन्याय'[३] की रचना की और कभी 'पर्यालोचक' के नाम से ज्योतिष-वेदांग की आलोचना की।[४] कहीं 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता'[५] दूर करने, 'भारत का नौकानयन'[६] दिखलाने, 'बालीद्वीप में हिन्दुओं का राज्य'[७] सिद्ध करने अथवा 'मेघदूत-रहस्य'[८] खोजने के लिए 'भुजंगभूषण भट्टाचार्य' बने, तो कहीं 'अमेरिका के अखबार'[९], 'रामकहानी की समालोचना'[१०], 'अलबरूनी'[११] और 'भारत का चलन-

१. सरस्वती, सन् १९०४ ई०, पृ० ३९७।
२. सरस्वती, सन् १९०६ ई०, पृ० ३८।
३. सरस्वती, सन् १९०६ ई०, पृ० २१७।
४. सरस्वती, सन् १९०७ ई०, पृ० २०—२८६।
५. सरस्वती, सन् १९०८ ई०, पृ० ३१३।
६. सरस्वती, सन् १९०९ ई०, पृ० ३०४।
७. सरस्वती, सन् १९११ ई०, पृ० २१९।
८. सरस्वती, उपरिवत्, पृ० ३६५।
९. सरस्वती, सन् १९१७ ई०, पृ० १२४।
१०. सरस्वती, उपरिवत्, पृ० ४५०।
११. सरस्वती, सन् १९११, ई० २४२।

बाजार सिक्का'[१] आदि लेखों के प्रकाशनार्थ 'श्रीकण्ठ पाठक, एम्० ए०' की उपाधि से मण्डित संज्ञा पाई। 'मस्तिष्क'[२] की विचारणा के लिए 'लोचनप्रसाद पाण्डेय' बन गये। एक बार 'स्त्रियों के विषय में अत्यल्प निवेदन'[3] करने के लिए 'कस्यचित् कान्यकुब्जस्य' पण्डिताऊ जामा पहनाया, तो दूसरी बार 'शब्दों के रूपान्तरण'[४] की विवेचना करने के लिए 'नियमनारायण शर्मा' का सैनिक वेष धारण किया।[५]

आचार्य द्विवेदीजी की इस नामावली से स्पष्ट है कि वे विविध रचनाओं को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से 'सरस्वती' के पाठकों के समक्ष नये-नये कल्पित नामों से आते थे। इस प्रकार, द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' को विविध विषयों से भूषित एवं सर्वांगसुन्दर बनाने के लिए हर सम्भव प्रयत्न किया। 'सरस्वती' में विविध विषयों की इस योजना के फलस्वरूप उस युग की अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में भी धीरे-धीरे इन विषयों का समावेश होने लगा। 'सरस्वती' में विविध विषयों की इस योजना को **डॉ० उदयभानु सिंह** ने मराठी के एक मासिक 'केरल-कोकिल' के आधार पर निर्मित माना है :

"द्विवेदी-सम्पादित 'सरस्वती' के विविध विषयों पर 'केरल-कोकिल' का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। द्विवेदीजी ने उपर्युक्त पत्रिका का अन्धानुकरण न करके उसके दोषों का परिहार और गुणों का ग्रहण किया।. . . 'केरल-कोकिल' के अतिरिक्त 'महाराष्ट्र-कोकिल' की इतिहास-विषयक लेखमाला और 'प्रवासी' (बँगला) के राजनीतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि विषयों के लेखों का भी प्रभाव लक्षित है।"[६]

इस भाँति, समसामयिक अँगरेजी, बँगला, उर्दू, मराठी आदि विभिन्न भाषाओं की पत्रिकाओं से उपयुक्त सामग्री का चयन कर एवं उनके गुणों को आत्मसात् कर द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' को समृद्ध किया था। अन्य पत्रिकाओं से 'सरस्वती' ने जितना ग्रहण किया है, उसकी अपेक्षा अन्य पत्रिकाओं को किये गये उसके दान की संख्या चौगुनी है। 'मर्यादा', 'चाँद', 'माधुरी', 'प्रभा', 'लक्ष्मी', 'इन्दु' आदि पत्रिकाओं ने 'सरस्वती' के ही आदर्श पर अपनी विषय-योजना निर्धारित की थी। इस प्रकार, अपनी विविध-विषयक सामग्री और कलात्मक योजना के बल पर 'सरस्वती' ने अपना

---

१. सरस्वती, सन् १९१२ ई०, पृ० २४२।
२. सरस्वती, सन् १९०९ ई०, पृ० ६०९।
३. सरस्वती, सन् १९१३ ई०, पृ० ३८४।
४. सरस्वती, सन् १९१४ ई०, पृ० ४८३।
५. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० १६६–१६८।
६. उपरिवत्, पृ० १८३-८४।

नाम सार्थक किया। इसके द्वारा हिन्दी-साहित्य में अनेकानेक विषयों का उपस्थापन हुआ और हिन्दी-भाषी जनता का बौद्धिक विकास भी हुआ। और, 'सरस्वती' की ये सारी उपलब्धियाँ उसके सम्पादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कला की देन थी।

लेखक-मण्डल का निर्माण :

'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में द्विवेदीजी की सबसे महान् उपलब्धियों में एक है हिन्दी-संसार में अनेक लेखकों का निर्माण। **श्रीअम्बिकाप्रसाद वाजपेयी** ने लिखा है :

"द्विवेदीजी कोई ३० वर्षों तक 'सरस्वती' के सम्पादक रहे और अपनी विद्वत्ता, परिश्रमशीलता और कार्यदक्षता से उसे उन्नत करते रहे। यही नहीं, उन्होंने बहुत-से लेखक और कवि तैयार कर दिये। कानपुर, जूही में वर्षों तक उनका निवास-स्थान एक प्रकार का हिन्दी-लेखक-विद्यालय ही रहा।"[1]

अथक गति से नवीन लेखकों तथा कवियों का निर्माण, प्रोत्साहन और मार्गदर्शन द्विवेदीजी ने अपने सम्पादन-काल में किया। वे स्वयं साहित्य के इतने श्रेष्ठ रचयिता भले न कहे जायँ, परन्तु साहित्य की रचना करनेवालों की रचना करनेवाले महापुरुष के रूप में उनकी महत्ता से किसी को इनकार नहीं हो सकता है। 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथ में लेने के बाद इस पत्रिका की जो विविध-विषय-मण्डिड रूपरेखा द्विवेदीजी ने बनाई, उसके अनुकूल लेखकों का उस समय हिन्दी-संसार में अभाव था। एक ओर अधिकांश विषयों पर लिखनेवाले लेखक नहीं थे और दूसरी ओर लेखकों की भाषा-शैली, विचार-सरणि आदि द्विवेदीजी की कसौटी पर खरी नहीं उतरती थी। इस कारण 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आनेवाली अधिकांश रचनाओं को द्विवेदीजी इस आधार पर अस्वीकृत कर देते थे कि उनका विषय-प्रतिपादन एवं स्तर 'सरस्वती' के अनुकूल न होकर निम्न है। सम्पादन-काल के प्रारम्भ में इस पत्रिका को आदर्श बनाने के लिए द्विवेदीजी अथक परिश्रम करते थे। अपने वास्तविक नाम अथवा अनेक कल्पित नामों से रचनाएँ प्रकाशित कर उन्हें लगभग पूरी 'पत्रिका' अकेले लिखनी पड़ती थी। उस समय स्तरीय लेखकों का कैसा अभाव था एवं 'सरस्वती के स्तर-निर्वाह के लिए द्विवेदीजी ने कितना परिश्रम किया, इसका सहज अनुमान सन् १९०३ ई० में प्रकाशित अंकों में छपी रचनाओं की इस संख्या-सूची से लगाया जा सकता है :

---

१. श्रीअम्बिकाप्रसाद वाजपेयी : 'समाचार-पत्रों का इतिहास', पृ० ३१३।

सरस्वती की संख्या	कुल रचनाएँ	अन्य लेखकों की	द्विवेदीजी की
१	११	१	१०
२-३	१५	३	१२
४	१२	२	१०
५	१२	२	१०
६	१३	४	९
७	१५	४	११
८	११	३	८
९	१२	५	७
१०	१७	६	११
१२	१३	७	६

परन्तु, 'सरस्वती' का जिस गति से प्रचार हो रहा था, उसी गति से उसमें अत्यधिक वैविध्यपूर्ण सामग्री की आवश्यकता भी बढ़ती गई। अकेला सम्पादक पूरी पत्रिका लिखकर कबतक 'सरस्वती' की सेवा कर सकता था। अतएव, द्विवेदीजी ने भारत ही नहीं, विदेशों में स्थित भारतीयों में भी लेखन-प्रतिभा की खोज शुरू की। अनुरोध एवं प्रोत्साहन द्वारा उन्होंने हिन्दी में लेखकों की संख्या बढ़ाने का यज्ञ प्रारम्भ किया। **डॉ० रामसकलराय शर्मा** ने लिखा है :

'होनहार की पहचान और उसको प्रोत्साहन-प्रदान करने में द्विवेदीजी बड़े तत्पर रहते थे। आज हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों में अधिकांश ऐसे हैं, जिन्हें द्विवेदीजी से लिखने का प्रोत्साहन मिला था। यदि न मिला, तो वे आज लेखक न होते। उन सबको इस क्षेत्र में खींचकर लाने का कार्य द्विवेदीजी ने किया था।' उन्होंने जब 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथों में लिया, वह पत्रिका का चौथा वर्ष था और ग्राहकों की दृष्टि से उसकी स्थिति अच्छी नही थी। ऐसे में प्रकाशक **बाबू चिन्तामणि घोष** के साहस एवं पत्रिका के सम्पादक **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** की विद्वत्ता एवं परिश्रम के जोर ने उसे सँभाला। सन् १९०३ ई० में ही 'सरस्वती' की दूसरी-तीसरी संयुक्त संख्या में द्विवेदीजी ने 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' शीर्षक एक निबन्ध प्रस्तुत कर उसमें हिन्दी-भाषियो के बीच अच्छे लेखकों की कमी का उद्घोष किया। इस क्रम में उन्होंने विश्वविद्यालय के पदवी-धरों को भी उलाहना दिया है और महामान्य **मदनमोहन मालवीयजी** से भी निवेदन किया है—'आप स्वयं हिन्दी में लिखा कीजिए और अपने प्रभाव के अधीन सबको हिन्दी को ही अपनाने को प्रवृत्त कीजिए।' इस उलाहने के जोर एवं 'सरस्वती' की चारों ओर सुगन्ध फैला रही-माधुरी के आकर्षण के कारण धीरे-धीरे उनके पास उस समय के अच्छे एवं प्रतिष्ठित साहित्यकारों की रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आने लगीं। **राधाकृष्णदास, श्रीधर**

पाठक, डॉ० महेन्द्रलाल गर्ग, राधाचरण गोस्वामी, शिवचन्द्रजी भरतिया, राय देवीप्रसाद पूर्ण, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, माधवराव सप्रे, पुरोहित गोपीनाथजी, जनार्दन झा, गौरीदत्त वाजपेयी, नाथूराम शंकर शर्मा, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, शुकदेवप्रसाद तिवारी, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, रामचरित उपाध्याय इत्यादि तत्कालीन कवियों-लेखकों ने अपनी रचनाओं से 'सरस्वती' को सुशोभित करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु, द्विवेदीजी ने इस पुरानी पीढ़ी के साहित्यकारों की ही रचनाएँ पाकर सन्तोष नहीं कर लिया। अब भी उनकी रुचि एवं स्तर के अनुरूप लिखनेवाले साहित्यकारों की संख्या हिन्दी-जगत् में थोड़ी थी। अतएव, उन्होंने नये-नये लेखकों का आवाहन किया। जिन लोगों ने उन्हे उत्तर दिया कि 'मुझे हिन्दी नहीं आती', उनसे भी द्विवेदीजी ने बलपूर्वक आग्रह किया और कहा, 'तो क्या हुआ, आ जायगी।' स्पष्ट ही, द्विवेदीजी में गजब की प्रेरणा-शक्ति थी। उनके आग्रह को टालना सरल कार्य नही था। वे जिस ढंग से हिन्दी की सेवा करने के लिए नये लेखकों को कहते, उसे टालना सरल कार्य नहीं था और जिस तरह नये लेखकों को प्रेरित करते, पुरानों को आश्वस्त करते तथा अभाओं की ओर संकेत करते थे, वह बहुत मर्मस्पर्शी होता था। यथा :

"आइए, तबतक हमीं लोग अपनी अल्पशक्ति के अनुसार कुछ विशेषत्वपूर्ण काम करके दिखाने की चेष्टा करें। हमीं से मेरा मतलब शिक्षितों के मतानुसार उन अल्पज्ञ और अल्पशिक्षित जनों से है, जो इस समय हिन्दी के साहित्यसेवियों में गिने जाते हैं और जिसमें मैं अपने को सबसे निकृष्ट समझता हूँ।...आवश्यकता इस समय हिन्दी में थोड़ी-सी अच्छी-अच्छी पुस्तकों की है। ... आइए, हमलोग मिलकर भिन्न-भिन्न विषयों की एक-एक पुस्तक लिखने का भार अपने ऊपर ले लें।"[१]

इसी प्रकार के आग्रहपूर्ण पत्र भी द्विवेदीजी ने अनेक हिन्दीभाषी विद्वानों को लिखे। 'सरस्वती' के लेखक-समूह में अपने सम्मिलित होने की कथा **श्री श्रीप्रकाश** ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

"उस समय श्रीहरिभाऊ उपाध्याय 'औडम्बर' नाम की पत्रिका निकालते थे। उन्होंने मेरे पत्र को देखा और उसे अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर दिया। संयोगवश द्विवेदीजी ने इसे पढ़ा और बहुत पसन्द किया। द्विवेदीजी का अचानक मुझे पत्र मिला। उन्होंने लिखा कि 'औडम्बर' में आपका लेख पढ़के परमानन्द हुआ, 'सरस्वती' के लिए भी आप लिखिए। इसके बाद ही लेख लिखकर मैंने उनके पास भेजे। हिन्दी में लेख लिखने की प्रेरणा मुझे इसी घटना से मिली।"[२]

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' (प्रयाग), कार्य-विवरण, १९६९, भाग १, पृ० १५८।

२. श्री श्रीप्रकाश : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० २४।

श्री श्रीप्रकाशजी के इस संस्मरण से यह बात सामने आती है कि द्विवेदीजी की निगाह में जहाँ भी कोई अच्छी रचना आती थी, वे उसके रचयिता का पता लगाकर 'सरस्वती' में लिखने के लिए उसे आमन्त्रित कर देते थे। अपने लेखकों की प्रतिभा का उन्हें पर्याप्त ज्ञान था। वे अच्छी तरह जानते थे कि किस लेखक से किस विषय पर किस तरह का लेख मिल सकता है। प्रतिभा परखनेवाली इसी शक्ति के द्वारा उन्होंने एक ओर पुराने लेखकों का सहयोग ग्रहण किया, तो दूसरी ओर नये लेखको को भी 'सरस्वती' में प्रस्तुत किया। **श्रीसत्यनारायण कविरत्न, मैथिलीशरण गुप्त, राय साहब छोटेलाल, रूपनारायण पाण्डेय, वेंकटेशनारायण तिवारी, लोकमणि, वागीश्वर मिश्र, लोचनप्रसाद, यशोदानन्द अखौरी, नरेन्द्रनारायण सिंह, आनन्दीप्रसाद दूबे, कामता-प्रसाद गुरु, रामचन्द्र शुक्ल; लक्ष्मीधर वाजपेयी, गंगानाथ झा, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, देवीदत्त शुक्ल, गोपालशरण सिंह, लाला हरदयाल, गिरिधर शर्मा, लल्लीप्रसाद पाण्डेय, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, बंगमहिला, बलदेव प्रसाद मिश्र और रामदास** गौड़ जैसे कवियों एवं साहित्यसेवियों को द्विवेदीजी ने भारत के विभिन्न स्थानों से खोज निकाला और इन सबको हिन्दी-साहित्य का भाण्डार भरने की ओर प्रवृत्त किया। नये लेखकों को द्विवेदीजी न केवल पत्र भेजकर उत्साहित किया करते थे, अपितु सुविधा पाकर वे लेखकों के घर तक जाने से नहीं चूके हैं। लेखक-निर्माण की यह प्रक्रिया वे भारत से बाहर के देशों में भी सक्रिय रूप से करने लगे थे। वे विदेशों में पत्र लिखकर वहाँ स्थित प्रतिभाशाली हिन्दीभाषी लोगों से हिन्दी में लिखने का आग्रह करते थे। उनके इस आग्रह के फलस्वरूप 'सरस्वती' के लिए इँगलैण्ड से **डॉ० जायसवाल, सुन्दरलाल, सन्त निहाल सिंह, कृष्णकुमार माथुर,** फ्रांस से **बेनीप्रसाद शुक्ल**, अमेरिका से **स्वामी सत्यदेव, भोलादत्त पाण्डेय, रामकुमार खेमका, पाण्डुरंग खानखोजे** और दक्षिणी अमेरिका से **प्रेमनारायण शर्मा, वीरसेन सिंह** जैसे लोगो की रचनाएँ आने लगीं। इस प्रकार, द्विवेदीजी के प्रयत्न से देश-विदेश में हिन्दी के लेखक-मण्डल का विकास होने लगा। लेखक-निर्माण करने की उनकी इस प्रवृत्ति के सम्बन्ध में **बाबू श्यामसुन्दर दास** ने एक बड़े मार्के की बात लिखी है :

"एक द्विवेदीजी ने सोचा कि अँगरेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों को हिन्दी के क्षेत्र में लाना चाहिए। बस 'सरस्वती' के प्राय: प्रत्येक अंक में उनकी साम, दाम, दण्ड, भेद की प्रणालियाँ चल निकलीं और शीघ्र ही उनका यथेष्ट प्रभाव भी दीख पड़ा। हिन्दी मे अँगरेजी के विद्यार्थियों तथा लेखकों की संख्या बढ़ने लगी।"[१]

जिस गति से 'सरस्वती' के लेखकों की संख्या बढ़ने लगी, उसी अनुपात से द्विवेदीजी के काम में वृद्धि होने लगी। जितनी रचनाएँ 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आती थीं, उन

१. निर्मल तलवार : 'आचार्य द्विवेदी', पृ० ४८ पर उद्धृत।

सबको छाप देना सम्भव नहीं था। उनका समुचित परिष्कार करके, भाव एवं भाषा की दृष्टि से उन्हें शुद्ध करके ही द्विवेदीजी उन्हें छपने के लिए प्रेस के हवाले करते थे। परिष्कार के इस क्रम मे द्विवेदीजी रचनाओं को आमूल परिवर्त्तित भी कर देते थे। परिवर्तन की इस प्रक्रिया से गुजरने के बाद उन रचनाओं को उनके मूल रचयिता भी नहीं पहचान पाते थे। **मैथिलीशरण गुप्त** ने अपनी 'हेमन्त' शीर्षक कविता को 'सरस्वती' में प्रकाशित देखकर अनुभव किया था :

"मेरा रोम-रोम पुलक उठा, जिस रूप में मैंने उसे भेजा था, उससे दूसरी ही वस्तु वह दिखाई पड़ती थी, बाहर से ही नही, भीतर से भी। पढ़ने पर मेरा आनन्द आश्चर्य मे बदल गया। इसमें तो इतना संशोधन और परिवर्द्धन हुआ कि यह मेरी रचना ही नहीं कही जा सकती थी।"[१]

इसी तरह, एक बार द्विवेदीजी ने **स्व० पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी** को नाना फड़नवीस पर कुछ लिखकर अपनी पत्रिका के लिए भेजने का आदेश दिया। उन्होंने पर्याप्त अध्ययन करके पचास पृष्ठों का लम्बा लेख लिखकर उनके पास भेज दिया। लौटती डाक से वाजपेयीजी को द्विवेदीजी का पत्र मिला कि आपने 'सरस्वती' के लिए यह लेख लिखा है या ग्रन्थ लिखा है ? खैर, किसी तरह उसका उपयोग कर लिया जायगा। और, बाद में 'सरस्वती' में पचास पृष्ठों के अपने उक्त जीवनवृत्त को आठ पृष्ठो मे प्रकाशित देखकर वाजपेयीजी को आश्चर्य हुआ। लेख का सार और सिलसिला इतना उत्तम बँधा था कि कही शिथिलता नही दीखती थी। अपने लेखकों की सभी रचनाओ के साथ द्विवेदीजी यह नीति अपनाते थे। कोई भी रचना उनके द्वारा संशोधित परिवर्त्तित हुए विना 'सरस्वती' मे प्रकाशित नहीं होती थी। इस अतिशयसुधारवादिता से कई लेखक अप्रसन्न भी रहते थे। वे अपनी रचना में अधिक प्ररिवर्त्तन सहन नहीं कर सकते थे और द्विवेदीजी बिना परिवर्त्तन किये सन्तोष की साँस नहीं लेते थे। **श्री श्रीप्रकाशजी** ने 'सरस्वती' में अपनी अधिक रचनाओं के प्रकाशित न होने का कारण द्विवेदीजी की इस संशोधनवादिता को ही बताया है :

"सरस्वती' में अधिक लेख न लिखने का कारण यह हुआ कि द्विवेदीजी को अपनी शैली पसन्द थी। वे सबके लेख फिर से इस शैली-विशेष में लिखते थे और तब प्रकाशित करते थे। मुझे यह न पसन्द था, न है। इस सम्बन्ध में द्विवेदीजी से मेरा कुछ पत्र-व्यवहार भी हुआ। पत्र लिखने में वे बड़े प्रवीण थे, तुरत उत्तर देते थे। इस सम्बन्ध में मेरा उनका मतभेद बना रहा। इस कारण दो के बाद तीसरा लेख मैंने नहीं लिखा।"[२]

---

१. श्रीमैथिलीशरण गुप्त : 'आचार्य द्विवेदी' 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० २२।

२. श्री श्रीप्रकाश : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० २४-२५।

परन्तु, द्विवेदीजी की संशोधन-नीति ने ही हिन्दी के साहित्यिक विकास को एक निश्चित गति दी है। यदि वे इस नीति का कठोरता से पालन न करते, तो आज हिन्दी का साहित्यिक इतिहास कुछ और ही होता। जिन रचनाओं को वे संशोधन के द्वारा भी स्तरीय बनने की सम्भावना से परे पाते थे, उन्हे वे शीघ्र ही अस्वीकृत कर लौटा देते थे। परन्तु, अस्वीकृति की यह सूचना भी वे वैसे शब्दों में देते थे कि लेखक को हतोत्साह न होना पड़े, अपितु उनके अस्वीकृतिपरक पत्रों को पढ़कर लेखकों को और रचनाओ के सर्जन की प्रेरणा मिलती थी।

स्पष्ट है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने विविध विषयों की विशाल सामग्री से हिन्दी-साहित्य का भाण्डार भरने के उद्देश्य से न केवल अपनी लेखनी को अविरल गति से चलाया था, अपितु उन्होंने हिन्दी-जगत् को नये कवियों एवं लेखकों का एक समूह भी प्रदान किया। उनकी 'सरस्वती' के माध्यम से परवर्त्ती काल में हिन्दी-साहित्य में ख्याति पानेवाले अधिकांश महारथी प्रकाश में आये। **श्रीरामदास गौड़ ने** ठीक ही लिखा है :

"'सरस्वती' की पुरानी फाइलें उठाकर देखिए—साहित्य, विज्ञान, दर्शन, इतिहास, संगीत, चित्रकला, नीति, कोई शास्त्र छूटा नहीं। सभी विषयों पर अच्छे-से-अच्छे गम्भीर और गवेषणापूर्ण लेख हैं और इनमें से अनेक या तो स्वयं पण्डितजी की कलम से है अथवा उनसे प्रभावित लेखकों की कलम से। इस चलते-फिरते प्रचारित विश्वविद्यालय मे लाखों पाठकों ने घर बैठे शिक्षा पाई और पण्डित, सुलेखक और कवि हो गये।"[१]

भाषा-सुधार :

आचार्य द्विवेदीजी की अन्यान्य समस्त उपलब्धियों की तुलना में भाषा-सुधार-सम्बन्धी उनके द्वारा किया गया कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक है। हम उनकी प्रतिभा के स्पर्श के बिना हिन्दी-भाषा के वर्त्तमान रूप की कल्पना ही नहीं कर सकते। भाषा-सुधार-सम्बन्धी उनकी उपलब्धियों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए **श्रीजगन्नाथ-प्रसाद शर्मा** ने लिखा है :

"पूर्वकाल में भाषा की जो साधारण शिथिलता थी अथवा व्याकरण-सम्बन्धी जो निर्बलता थी, उसका परिहार द्विवेदीजी के मत्थे पड़ा। अभी तक जो जैसा चाहता था, लिखता रहा। कोई उसकी आलोचना करनेवाला न था। अतएव, इन लेखकों की दृष्टि भी अपनी त्रुटियों की ओर नहीं गई थी। द्विवेदीजी ऐसे सतर्क लेखक इसकी अवहेलना न कर सके, अतएव इन्होंने उन लेखकों की रचना-शैली की आलोचना प्रारम्भ की, जो व्याकरण-गत दोषों का विचार अपनी रचनाओं में नहीं करते थे।"[२]

---

१. श्रीरामदास गौड़ : हिन्दी-साहित्य पर द्विवेदीजी का प्रभाव', द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ५५।

२. श्रीजगन्नाथप्रसाद शर्मा : 'हिन्दी की गद्यशैली का विकास', पृ० ७३।

वास्तव में, द्विवेदीजी के प्रादुर्भाव के पूर्व हिन्दी-भाषा का समुचित परिष्कार नहीं हो पाया था। गद्य एवं पद्य की भूमि पर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने हिन्दी-भाषा को यथासम्भव विषयानुकूल एवं प्रांजल तथा सजीव बनाने का प्रयत्न किया। उनके सामने भारत की राष्ट्रभाषा का स्वरूप स्पष्ट था। देववाणी संस्कृत से प्रभावित होते हुए भी उन्होंने व्यावहारिक हिन्दी को ही प्रमुखता दी। उन्होंने क्लिष्ट एवं निर्जीव भाषा का बहिष्कार किया एवं संस्कृत, उर्दू अथवा अँगरेजी के शब्दों से अत्यधिक बोझिल हिन्दी को भी स्वीकार नहीं किया। उन्होंने भाषा के क्षेत्र में अत्यन्त सहिष्णुता का परिचय देकर मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। **रामगोपाल सिंह चौहान** के शब्दों में :

"इस प्रकार की हिन्दी को अपढ़ भी सुनकर समझ सके, पर जिसमे गँवारूपन की कुघड़ता न हो, वरन् एक प्रवाह हो और जो भाव-व्यंजना में सक्षम हो, ही भारतेन्दु की हिन्दी थी।"[1]

इस भाषा में किसी प्रकार की आडम्बरयुक्तता नही थी। इस प्रकार की भाषा को साहित्यिक स्तर पर ग्रहण करके भारतेन्दु ने हिन्दी को जनसाधारण के निकट लाने का ऐतिहासिक कार्य किया। यद्यपि भारतेन्दु के नेतृत्व मे हिन्दी-भाषा को नवीन रूप दिया गया, तथापि उसके रूप मे न तो स्थिरता आई और न प्रौढता ही। उस भाषा का प्रधान उद्देश्य सरलतम शब्दों मे भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति करना मात्र था। अतएव, भाषा-विषयक मतवैभिन्न्य एवं भाषा की कौमार्यावस्था के कारण न तो हिन्दी में वाक्यविन्यास, शब्दचयन, विरामचिह्न आदि का नियमन था और न कोई एक सर्वमान्य व्यवस्था ही थी। भारतेन्दु के प्रभाव मे हिन्दी की साहित्यिक रचनाओं में बोलचाल के तद्भव शब्दों का बाहुल्य हुआ और इसी सन्दर्भ में भाषा को उच्चारण-सम्मत बनाने के लिए व्याकरण की अपेक्षा भी हुई। इस समय तक हिन्दी का विकास मुख्य रूप से व्रजभाषा की गोद मे ही हो रहा था। इस कारण व्रजभाषा का पर्याप्त प्रभाव भारतेन्दुयुगीन हिन्दी पर परिलक्षित होता है। व्रजभाषा में प्राय: संयुक्ताक्षरों को स्थान नहीं दिया जाता है। जैसे पुञ्ज, पिङ्गल, पण्डित आदि क्रमशः पुंज, पिगल और और पंडित लिखे जाते हैं। इसी प्रकार श, ण, ड़ को भी मधुर बनाने के प्रयास में स, न, र बना दिया जाता है। व्रजभाषा में हलन्त नही होने के कारण धर्म, कर्म, कार्य को क्रमश: धरम, करम, कारज लिखा जाता है। व्रजभाषा की इन प्रवृत्तियो के हिन्दी पर हावी हो जाने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उस समय तक इस भाषा के निजी शब्दकोश का भाण्डार बड़ा सीमित था। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों को भय था कि हिन्दी-भाषा व्याकरण के कठिन बन्धन में समुचित विकास की दिशा में अग्रसर नहीं हो सकेगी। दूसरी ओर, उस युग के संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित भी थे, जो हिन्दी-भाषा को अरबी-फारसी-अँगरेजी के प्रभावों से मुक्त रखन के लिए संस्कृत के

१. श्रीरामगोपाल सिंह चौहान : 'भारतेन्दु-साहित्य', पृ० १९६-१९७।

गढ़े हुए कृत्रिम शब्दों का निर्माण करते जाते थे। जैसे **जैनेन्द्रकिशोर** ने अपने 'कमलिनी' उपन्यास में 'नाक बह रही है' के स्थान पर 'नासिका-रन्ध्र स्फीत' होना लिखा है। इसी तरह **पं० रामावतार शर्मा** ने तो द्विवेदी-युग में अँगरेजी के ऑक्सफोर्ड, केम्ब्रिज और लन्दन जैसे शब्दों को क्रमश: उक्षप्रतर, कामसेतु तथा नन्दन कहा है। इस प्रवृत्ति ने भावगत अराजता को और भी विस्तार दिया। भारतेन्दु-मण्डल के अन्य सदस्यों की भाषागत त्रुटियों की कौन कहे, स्वयं भारतेन्दुजी ने भी उठैंगे, बातैं, मिलैंगे, बोलैंगे, बेर भई, ग्यामललाई, अधीरजमना, कृपा किया है, गृहस्थें, नाना-देश आदि अशुद्ध शब्दों एवं पदों का प्रयोग किया है। इसका भी पर्याप्त प्रभाव तत्कालीन भाषा पर पड़ा। भारतेन्दुजी की मृत्यु के बाद तो भाषा की अराजकता और भी व्यापक रूप धारण कर सामने आई। हिन्दी के कथित सेवियो में हठ एवं मिथ्याभिमान की इतनी वृद्धि हो गई थी कि उसका दुष्परिणाम उसी समय दृष्टिगोचर होने लगा और सब ओर भाषा की अव्यवस्था फैलने लगी। इस स्थिति में एक ही शब्द के कई रूप चल रहे थे, जैसे हुआ, हुवा हुया; जाएगा, जावेगा; भूक, भूख; इन्हें, इने; जिस पर; स्थिर; स्थायी, स्थाई; परन्तु, परंतु; काव्य, काब्य; बिचार, विचार आदि प्रयोगों को लेकर बड़ी अनेकरूपता सर्वत्र व्याप्त थी। वचन, लिंग एवं वाक्यरचना से सम्बद्ध अनेकानेक त्रुटियों से भाषा का स्वरूप बिगड़ा हुआ था। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिए भारतेन्दु-सदृश मित्रवत् सलाह देनेवालों को नहीं, आचार्य एवं गुरु के समान समसामयिक साहित्यिक गनिविधियों का नियन्त्रण करनेवाले की आवश्यकता का अनुभव उस समय किया जाने लगा। भाषा-सम्बन्धी इस अराजकता के सन्दर्भ में **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** ने ठीक ही लिखा है :

'भिन्न-भिन्न प्रकृति के शब्दों, पदों तथा वाक्यों के स्वच्छन्द एवं अबाध प्रयोगों में न तो शब्दों की एकरूपता ही थी और न उसकी उचित व्यवस्था ही। व्याकरण के अंकुश के अभाव के साथ ही एक कठोर नियन्ता, चतुर समालोचक तथा दूरदर्शी शासक की अत्यधिक आवश्यता थी।'[1]

हिन्दी-भाषा एवं साहित्य के ऐसे ही अराजकतापूर्ण वातावरण में आचार्य महावीर द्विवेदी का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने भाषागत अव्यवस्थाओं को दूर करने के लिए अथक परिश्रम किया और उन्हीं के प्रयत्न से एक ऐसी व्यवस्थित व्याकरणसम्मत और साहित्यिक भाषा का प्रसार हुआ, जिसमें गम्भीर एवं स्तरीय साहित्य का प्रणयन हो सकता था। **श्रीसुरेन्द्रनाथ सिंह** ने उनकी उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए बड़ी सच्ची बात कही है :

---

१. डॉ० शंकरदयाल चौऋषि ; 'द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्य शैलियों का अध्ययन', पृ० १३५।

'आधुनिक गद्य और पद्य की भाषा, खड़ी बोली के परिमार्जन, संस्कार और परिष्कार का इतिहास पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की सूक्ष्म दृष्टि, प्रखर पाण्डित्य और कर्मठता का इतिहास है।'[१]

स्पष्ट ही, द्विवेदीजी ने भाषा और व्याकरण पर सर्वाधिक ध्यान देकर हिन्दी-जगत् का मार्ग-निर्देशन किया। वे भाषा-संस्कार के लिए अपेक्षित समस्त विशेषताओं से विभूषित थे। भाषागत विवादों और समस्याओं को हल करने के लिए जिस सत्यनिष्ठा, अनथक परिश्रम, अडिग आत्मविश्वास और घोर सक्रियता, असीम सहनशीलता, निश्चित नीति और प्रगतिशील भाषादर्श की आवश्यकता होती है, उन सबका समन्वय द्विवेदीजी के व्यक्तित्व मे था। द्विवेदीजी ने अपने अदम्य व्यक्तित्व और भगीरथ प्रयत्न से भाषा की अनस्थिरता दूर करके उसे स्थिर तथा प्रतिष्ठित रूप दिया, व्याकरण की व्यवस्था दी और साहित्य के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। **श्रीशान्तिप्रिय द्विवेदी** के शब्दों में :

'द्विवेदीजी ने इस बात की चेष्टा की है कि भाषा अप-टू-डेट और सीधी-सादी हो और सब तरह के भावों और विचारों को प्रकट करने मे समर्थ हो। इसी नीति को सामने रखकर उन्होंने हिन्दी के गद्य-पद्य को अपने मस्तिष्क के साँचे में ढालकर सुन्दर और सुडौल बना दिया। यद्यपि उस समय उनकी नीति और शैली के सम्बन्ध में बहुत वाद-विवाद हुए थे, तथापि अन्त में द्विवेदीजी की शैली लोकप्रिय हो गई। यह उनके आत्मबल का सुफल है। आज हम अपनी पुस्तकों में हिन्दी की जैसी भाषा पढ़ते हैं, वह द्विवेदीजी के श्रमबिन्दुओं से सिंचित होकर खिली और फली-फूली।'[२]

इस प्रसग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि द्विवेदीजी ने दूसरों की भाषा-सुधार करने के पहले स्वयं अपनी भाषा का सुधार किया। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में तत्कालीन साहित्यसेवियो की कृतियों में मिलनेवाली अधिकांश भाषागत त्रुटियाँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। 'अमृतलहरी', 'भामिनीविलास', 'बेकन-विचार-रत्नावली' आदि में लेखन-त्रुटियों एवं व्याकरण की भूलें इस सीमा तक है कि वे भाषा की दृष्टि से विचारणीय हो गई हैं। स्वयं द्विवेदीजी ने ही 'अ' के स्थान पर 'इ' और 'उ' तथा 'आ' के स्थान पर 'वा' का गलत प्रयोग कई बार किया है। यथा : 'विकालत'[३] (शुद्ध रूप 'वकालत'); 'समुझा'[४] (शुद्ध रूप 'समझा'); 'हुवा'[५] (शुद्ध रूप 'हुआ')।

१. श्रीसुरेन्द्रनाथ सिंह : 'भाषासुधारक आचार्य द्विवेदी', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० १०५।

२. श्रीशान्तिप्रिय द्विवेदी : 'हमारे साहित्य-निर्माता', पृ० ४।

३. श्रीमहावीर प्रसाद द्विवेदी : 'बेकन-विचार-रत्नावली', पृ० १।

४. उपरिवत्, 'भामिनीविलास', पृ० २।

५. उपरिवत्, पृ० ८८।

'इ' अथवा 'ई' के प्रयोग की गलतियाँ भी हुई है : 'हरिणीयों'[१] (शुद्ध रूप 'हरिणियों') 'केली'[२] (शुद्ध रूप 'केलि'); 'कीशोरी'[३] (शुद्ध रूप 'किशोरी'); 'ध्वनी'[४] (शुद्ध रूप 'ध्वनि'); 'ज्योंहि'[५] (शुद्ध रूप 'ज्योंही') ।

इसी तरह 'उ' एव 'ऊ' के प्रयोग में भी त्रुटियाँ द्विवेदीजी की प्रारम्भिक रचनाओं मे मिलती हैं : 'तूझे'[६] (शुद्ध रूप 'तुझे'); 'कारूणिक'[७] (शुद्ध रूप 'कारुणिक'); 'उपर'[८] (शुद्ध रूप 'ऊपर'); 'प्रतिकुल'[९] (शुद्ध रूप 'प्रतिकूल') ।

करे, रहे, जानो, वीरो, तो, के, जिन्हें, से आदि के स्थान पर करै, रहै, जानौ, वीरौं, तौ, कै, जिन्है, सै जैसे प्रयोग व्रजभाषा के प्रभाववश करने की प्रवृत्ति उन दिनों सामान्य थी। द्विवेदीजी भी ऐसे प्रयोगों से बचे हुए नहीं थे। साथ ही, उन्होंने 'ए' की जगह 'या' तथा 'ओ' की जगह 'वो' का प्रयोग भी गलत किया है : 'यकदम'[१०] (शुद्ध रूप 'एकदम'); 'यम० ए'[११] (शुद्ध रूप 'एम० ए०'); 'लाव'[१२] (शुद्ध रूप 'लाओ') ।

गद्यलेखन के इस आरम्भिक काल में अनुस्वारों के प्रति द्विवेदीजी का विशेष मोह परिलक्षित होता है। कई अनुनासिक प्रयोग उनकी रचनाओं में मिलते है : 'करनेंवाला'[१३] (शुद्ध रूप 'करनेवाला'); 'कालिमां'[१४] (शुद्ध रूप 'कालिमा'); 'पूंछ-तांछ'[१५] (शुद्ध रूप 'पूछताछ') आदि ।

---

१. म० प्र० द्वि० : भामिनीविलास, पृ० १७, ३२ ।
२. उपरिवत्, पृ० २५ ।
३. उपरिवत्, पृ० २८ ।
४. उपरिवत्, पृ० ८२ ।
५. उपरिवत, पृ० १०९ ।
६. उपरिवत्, पृ० २९ ।
७. उपरिवत्, पृ० १६ ।
८. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी-शिक्षावली, तृतीय भाग की आलोचना' पृ० ३३ ।
९. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'भामिनीविलास', पृ० २६ ।
१० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी-शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना,' पृ० ४५ ।
११. उपरिवत्, 'बेकन-विचार-रत्नावली', पृ० १ ।
१२. उपरिवत्, पृ० २० ।
१३. उपरिवत्, 'भामिनीविलास', पृ० ३ ।
१४. उपरिवत्, 'बेकन-विचार-रत्नावली', पृ० ३४ ।
१५. उपरिवत्, पृ० २५ ।

स्वरों के प्रयोग में द्विवेदीजी ने भाषा की अशुद्धता की जैसी भरमार अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रस्तुत की है, व्यंजनों की दिशा में भी उसी कोटि की त्रुटियों को वे प्रस्तुत करते रहे। ट, ठ, ड, ढ आदि वर्णो के प्रयोग में ऐसी अशुद्धियाँ अधिक मिलती है : 'चेष्ठा'[१] (शुद्ध रूप 'चेष्टा')'; 'विडम्बना'[२] (शुद्ध रूप 'विड़म्बना'), 'बडे-बडे'[3] (शुद्ध रूप 'बड़े-बड़े'); 'चढाई'[४] (शुद्ध रूप 'चढाई')।

इसी तरस 'यी' के स्थान पर 'ई' और 'या' के स्थान पर 'आ' का अशुद्ध प्रयोग भी उन्होंने किया है : 'निदई'[५] (शुद्ध रूप 'निर्दयी'), 'दुखदाई'[६] (शुद्ध रूप 'दु:खदायी') 'दिआ'[७] (शुद्ध रूप 'दिया')।

'र' और रेफ के प्रयोग में भी स्वच्छन्दता दीखती है : 'निरमाण'[८] (शुद्ध रूप 'निर्माण'), 'पूरण'[९] (शुद्ध रूप 'पूर्ण'), 'मनोर्थ'[१०] (शुद्ध रूप 'मनोरथ'), 'अन्तकर्ण'[११] (शुद्ध रूप 'अन्त:करण'।)

स्वरों और व्यंजनों के ऐसे चिन्त्य प्रयोग उस समय के हिन्दी-लेखन के लिए असामान्य नहीं थे। ऐसी भूलें उस समय सभी छोटे-बड़े लेखकों की रचनाओं में रहती थीं। व्याकरण-सम्बन्धी अराजकता भी उस युग मे सर्वत्र व्याप्त थी। व्याकरण की दृष्टि से कई अशुद्ध प्रयोग द्विवेदीजी की रचनाओं में मिलते है : 'चातुर्यता'[१२] (शुद्ध रूप 'चातुर्य'); 'सौन्दर्यता'[१३] (शुद्ध रूप 'सौन्दर्य'); 'अपना हितसाधन में'[१४] (शुद्ध रूप 'अपने' हितसाधन में) 'चेष्टा न करना चहिए'[१५] (शुद्ध रूप 'चेष्टा न करनी चाहिए')

१. बेकन-विचार-रत्नावली, पृ० ३१।
२. भामिनीविलास, पृ० १२।
३. उपरिवत्, पृ० ११।
४. उपरिवत्, पृ० ३७।
५. उपरिवत्, पृ० ३४।
६. उपरिवत्, पृ० १२१।
७. 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना', पृ० १०७।
८. 'भामिनी विलास', पृ० १।
९. उपरिवत्, पृ० २२।
१०. उपरिवत्, पृ० १४०।
११. उपरिवत्, पृ० १५९।
१२. 'भामिनीविलास', पृ० २३।
१३. 'हिन्दी-शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना', पृ० ६९।
१४. 'बेकन-विचार-रत्नावली', पृ० २७।
१५. आ० म० प्र० द्विवेदी : 'स्वाधीनता', भूमिका, पृ० ११।

('हमारा मृत्यु'[१] (शुद्ध रूप 'हमारी मृत्यु)'; 'तेरा पराजय'[२] (शुद्ध रूप 'तेरी पराजय'); 'के किरण'[३] (शुद्ध रूप 'की किरण'); 'इस काम को सम्पादन'[४] (शुद्ध रूप 'इस काम का सम्पादन'; 'सन्मान'[५] (शुद्ध रूप 'सम्मान', 'इन्डियन'[६] (शुद्ध रूप' इंडियन' या 'इण्डियन'; 'दाम्पत्य'[७] (शुद्ध रूप 'दम्पति'); 'हस्ताक्षेप'[८] (शुद्ध रूप 'हस्तक्षेप'; 'ऐक्यता'[९] (शुद्ध रूप 'एकता' या 'ऐक्य')। 'उत्सव मनाए जाने को तैयार'[१०] (शुद्ध रूप 'उत्सव मनाने के लिए तैयार') 'उतकर्षित'[११] (शुद्ध रूप 'उत्कर्षित') 'उँचा उड्डान भरते है'[१२] (शुद्ध रूप 'ऊँची उड़ान भरते हैं'); 'उपमा देवे योग्य'[१३] (शुद्ध रूप 'उपमा देने योग्य'); 'दो कार्य भए'[१४] (शुद्ध रूप 'दो कार्य हुए'); 'आख्यायिकों'[१५] (शुद्ध रूप 'आख्यायिकाओं')।

इसी प्रकार के अन्यान्य लिंग, सन्धि, प्रत्यय-प्रयोग, वाक्य-विन्यास एवं क्रियागत दोषो से द्विवेदीजी की सभी प्रारम्भिक रचनाएँ भरी पड़ी है। तत्कालीन हिन्दी-लेखन की स्थिति का अनुमान इन त्रुटियों पर दृष्टिपात कर सहज ही लगाया जा सकता है। ये दोष उस समय के सभी साहित्यसेवियों की रचनाओं में बहुलता के साथ विद्यमान थे। परन्तु, द्विवेदीजी ने निजी साधना एवं परिश्रम द्वारा भाषा पर अधिकार प्राप्त किया। उनकी बौद्धिक क्षमता के विकास के साथ ही उनकी भाषा भी प्रांजल, परिष्कृत और व्याकरणसम्मत होती गई। आचार्य द्विवेदीजी की महत्ता केवल इस बात में नहीं है कि उन्होंने स्वयं व्याकरण-सम्मत तथा शुद्ध भाषा का प्रयोग किया,

---

१. 'बेकन-विचार-रत्नावली', पृ० १३।
२. आ० म० प्र० द्विवेदी : 'वेणीसंहार', पृ० ७।
३. आ० म० प्र० द्विवेदी : कुमारसम्भव, पृ० ४८।
४. 'बेकन-विचार-रत्नावली', पृ० ७।
५. उपरिवत्, पृ० ११।
६. उपरिवत्, पृ० ६७।
७ 'भामिनीविलास', पृ० ८३।
८. उपरिवत्, पृ० ४६।
९. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'वेणीसंहार', पृ० ८८।
१०. 'हिन्दी-शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना', पृ० ७८॥
११. 'बेकन-विचार-'रत्नावली', पृ० ४३।
१२. उपरिवत्।
१३. 'भामिनीविलास', पृ० १५।
१४. उपरिवत्, पृ० ११७।
१५. उपरिवत्, पृ० ५।

अपितु उनकी असाधारण गरिमा का आधार यह है कि उन्होंने अन्य लेखकों को टकसाली भाषा में लिखने की प्रेरणा दी, उनकी लिखी हुई कृतियों का अपेक्षित सुधार किया और उनका मार्गदर्शन करके उन्हे इस योग्य बनाया कि वे कालान्तर में हिन्दी-साहित्य के विख्यात साहित्यकार बन सके। भाषा-सम्बन्धी जितना लचरपन उनके सामने आया, उसकी उन्होने अच्छी खोज-खबर ली। जहाँ एक ओर वे नवीन लेखकों और कवियो को प्रोत्साहित कर निर्माण-कार्य में लगाने की चेष्टा करते थे, वहाँ दूसरी ओर उनकी रचना के समस्त दोषों से बचने के लिए कठोर नियन्त्रण और आलोचना-भर करते रहे। दुर्भाग्यवश, उस समय हिन्दी-साहित्य मे पास अच्छे शब्दकोश, व्याकरण एवं मान्य कसौटियों की कमी थी। इस कारण, द्विवेदीजी ने निजी लेखन और सम्पादन भी बड़ी सावधानी से किया। उनका लक्ष्य बहुधा भाषा की शुद्धता की ओर रहता था। और, अपने इस लक्ष्य में वे किस सीमा तक सफल हुए, इसका अनुमान **पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र** की अधोलिखित पंक्तियों से लगाया जा सकता है :

"भाषा के परिष्कार मे द्विवेदीजी ने जैसा काम किया, वैसा काम एक ही व्यक्ति ने किसी भाषा में नही किया होगा। जितना शुद्ध उन्होंने अकेले शरीर से किया, उतना किसी हिन्दी के महारथी ने न किया होगा।"[१]

निश्चय ही, द्विवेदीजी द्वारा किया गया भाषा-संस्कार-विषयक कार्य बड़ा ही अनूठा, ऐतिहासिक एवं महत्त्वपूर्ण है। **डॉ० उदयभानु सिंह** ने लिखा है :

"द्विवेदीजी ने चार प्रकार से भाषा-सुधार करके खड़ी बोली के परिष्कृत और परिमार्जित रूप की प्रतिष्ठा की। उन्होने दूसरो के दोषों की तीव्र आलोचना की, सम्पादक-पद से 'सरस्वती' के लेखको की रचनाओं का सशोधन किया और कराया, अपने पत्रो, सम्भाषणों, भूमिकाओं और सम्पादकीय निवेदनों द्वारा कवियो और लेखकों को उनके दोषों के प्रति सावधान किया, और साहित्यकारों के ग्रन्थों की भाषा का भी समय-समय पर संशोधन किया।"[२]

द्विवेदीजी ने अपनी कतिपय समीक्षा-पुस्तकों तथा 'सरस्वती' में 'पुस्तक-समीक्षा' स्तम्भ में दूसरों की कृतियों की त्रुटियों की जम कर आलोचना की है। लेखक भाषा-सम्बन्धी दोषों से बचें, मनमौजी अशोभन प्रयोगो से रचना को भानुमती का पिटारा न बनाये— इस कारण कठोर अनुशासन एवं निर्माण-निर्मम भाषा द्वारा वे उनपर प्रहार करते थे। 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना' मे उनकी ओजपूर्ण समीक्षा-शैली दीखती है :

"अनुवादक महोदय ने व्याकरण-नियमो की बहुत कम स्वाधीनता स्वीकार की है। कहीं किया है, तो कर्त्ता नहीं और कर्त्ता है, तो क्रिया नही। कारक-चिह्नों की तो अतिशय

१. पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र : 'हिन्दी का सामयिक साहित्य', पृ० २३।

२. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० २०८।

अवहेलना हुई है। जहाँ कही मूल में समापिका क्रिया है, वहाँ अनुवाद में मनमानी असमापिका और जहाँ असमापिका है, वहाँ समापिका कर दी है। कहीं एक के स्थान में दो-दो क्रियाएँ रखी गई हैं ओर कहीं एक भी नहीं। काल और वचन-विचार को भी अनेक स्थलों पर तिलांजलि मिली है। इन महान् दोषों के कारण भाषा-पद्यों का ठीक-ठीक अन्वय ही नहीं हो सकता। यही दशा प्रायः सारे अनुवाद की है।...''[1]

द्विवेदीजी कटु आलोचना के साथ-साथ भाषा के शुद्ध एवं परिष्कृत रूप की ओर सकेत भी करते चलते थे। चुटीली शैली में तद्भव शब्दों के अभिप्राय-रहित प्रयोग की विगर्हणा करते हुए इन्होंने कोमल भाव के अनुकूल संस्कृत के श्रुतिमधुर शब्दों को अपनाने का आग्रह किया है।

''ठण्ड'' के झुण्ड को तो देखिए। शीत और शीतल को अर्द्धचन्द्र देकर जहाँ-जहाँ आवश्यकता पड़ी है, प्रायः 'ठण्ड' का ही प्रयोग किया गया है। 'चंचु' अथवा 'चोंच' शब्द नहीं आने पाया, अपनाया है 'टोंट'। 'पलाश' और 'किंशुक' का प्रयोग नहीं हुआ, हुआ है 'टेसू' का। 'पाथर ढेरी', 'धनुडोर', नेवाड़ी' की मधुरता तो देखिए। 'कुमार-सम्भवभाषा' में अनुवादकजो ने 'बजे जु टुटत सप्तऋषि हाथर' 'टुटे तार की बीन समाना' लिखा था, इसमें 'टुटी माल बिखरी लटें बसे अगर सनकेस' लिख दिया। टूटना क्रिया से अधिक स्नेह जान पड़ता है। 'अस्त होना' स्यात् कटु था, जिससे 'डूबना' लिखा गया। अनुवादक जी अभी तक 'ठण्ड' के पीछे पड़े थे, छोड़ते-छोड़ते उसे छोड़ा, तो उसके स्थान मे 'जाड़ा' लिख दिया। ईंट न सही पत्थर सही।''[2]

'हिन्दी-शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना', 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना' और 'समालोचनासमुच्चय' जैसी पुस्तकाकार समीक्षा-कृतियों के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में आलोचनार्थ आई पुस्तकों की समीक्षा करते हुए भी भाषगत त्रुटियों की ओर लेखक एवं पाठकवृन्द का ध्यान आकृष्ट किया है। जैसे, **श्रीकेशवराम भट्ट** की पुस्तक 'हिन्दी-व्याकरण' में प्रयुक्त 'शास्त्री और वैज्ञानिक विषयों' जैसे पदो की आलोचना उन्होंने की है :

''शास्त्री' की जगह 'शास्त्रीय' क्यों नही? यदि शास्त्री ही लिखना था, तो 'वैज्ञानिक' की जगह 'विज्ञानों' क्यों नहीं लिखा?[3]

पं० सुधाकर द्विवेदी की पुस्तक 'रामकहानी' की समीक्षा करते हुए भी द्विवेदीजी ने भाषा के बेमेलपन की ओर संकेत किया है :

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना', पृ० ३४।

२. उपरिवत्, पृ० ४३।

३. सरस्वती, भाग ६, संख्या १, पृ० २८३।

'इस पुस्तक की भाषा न हिन्दी है, न उर्दू, न गँवारी है। वह इन सबकी खिचड़ी है। किसी की मात्रा कम है, किसी की अधिक। गेहूँ, चावल, तिल, उरद आदि सात धान्य कोई कम कोई अधिक सब एक में गड्डबड्ड कर देने से जैसे कई बोलियों की खिचड़ी की है।' [१]

इन समीक्षाओं के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने भाषा-सुधार के उद्देश्य से कई लेख भी लिखे, जिनकी बड़ी चर्चा तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में रही। 'देशव्यापक भाषा' (सन् १९०३ ई०), 'देशव्यापक लिपि' (सन् १९०५ ई०) और 'भाषा और व्याकरण)', सरस्वती, नवम्बर, १९०५ ई०) शीर्षक उनके निबन्ध ऐसे ही हैं। इनमें भी अन्तिम निबन्ध तो हिन्दी-साहित्य के भाषा-विषयक विवादो मे अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक अपने इस निबन्ध मे भाषा के अन्तर्गत व्याकरण के महत्त्व को दिखलाते हुए द्विवेदीजी ने हिन्दी के कई स्वर्गीय महारथियों की भाषागत त्रुटियो के उदाहरण दिये है, यथा :

१. "मेरी बनाई वा अनुवादित वा संग्रह की हुई पुस्तको को श्रीबाबूरामदीन सिंह 'खड्गविलास' के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि छापे—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ('बकरी-विलाप' की पीठ पर वाली नोटिस, २३ सितम्बर, १८८२ ई०)।

२. "औरंगजेब ने तख्त पर बैठकर अपना लकब आलमगीर रक्खा। मुल्तान के पास तक दाराशिकोह का पीछा किया। लेकिन जब सुनाकि दाराशिकोह मुल्तान से सन्धि की तरफ भाग गया और शुजा बंगाल में आता है, फौरन इलाहाबाद को तरफ मुड़ा। —राजा शिवप्रसाद (इतिहास-तिमिरनाशक)।

३. यह एक पुस्तक नागरी में है।... जिनको ये दोनों पुस्तक लेनी हों .... शाहजहाँपुर से मँगा लें। .... तृतीय भाग में निषेधकों के आपत्तियों और कल्याणाओं के विधिपूर्वक उत्तर हैं।"—काशीनाथ खत्री।

इसी प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, गदाधर सिंह और राधाचरण गोस्वामी की कृतियों के अन्य चार उदाहरण भी भाषागत त्रुटियों के सन्दर्भ में उन्होंने दिये हैं। साथ ही, उन्होंने इन त्रुटियों का संशोधन भी किया है, यथा :

१. '... अनुवादित ... पुस्तकों को छापने का श्री बाबू. . . कि उन्हें या उनको छापे।'— 'बकरी-विलाप'।

२. '. . . पास तक उसने दाराशिकोह ... जब उसने सुना ... फौरन वह इलाहाबाद . . .।'

३. '. . . यह पुस्तक . . . दोनों पुस्तकें . . . निषेधकों की आपत्तियों और कल्पनाओं . . .।'

---

१. सरस्वती (सन् १९०९ ई०), पृ० ४५।

इस प्रकार, भाषादोष एवं उनमें सुधार के उदाहरण देकर द्विवेदीजी ने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक उक्त निबन्ध में हिन्दी-भाषा की अन्यान्य त्रुटियों का भी निर्देश किया और उसे व्याकरणसम्मत बनाने पर बल दिया। इस क्रान्तिकारी निबन्ध ने समूचे हिन्दी-जगत् को चौंका दिया। **पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, श्रीधर पाठक, पद्मसिंह शर्मा** आदि विद्वान् तो इस लेख पर मुग्ध हो गये। परन्तु, कुछ लोग द्विवेदीजी के प्रस्तुत निबन्ध में दिये गये भारतेन्दु-सदृश महापुरुषों की त्रुटियों के उदाहरणों के कारण बड़े अप्रसन्न हुए। ऐसे लोगों में 'भारतमित्र'-सम्पादक **बालमुकुन्द गुप्त** अग्रणी थे। 'भाषा और व्याकरण' निबन्ध में प्रयुक्त 'अनस्थिरता' शब्द को लेकर क्रुद्ध **गुप्तजी** ने 'आत्माराम' के नाम से 'भारतमित्र' की दस सख्याओ में 'भाषा की अनस्थिरता' शीर्षक लेखमाला छापी। इम निबन्धमाला में गुप्तजी ने बड़ी सजीव और व्यंग्यपूर्ण शैली में द्विवेदीजी की समीक्षा प्रस्तुत की। यथा :

"... फिर हरिश्चन्द्र जैसा विद्याशून्य आदमी, जिसने लाखों रुपये हिन्दी के लिए स्वाहा कर डाले और पचासों हिन्दी के ग्रन्थ रच डाले, भला वह क्या एक पूरे पौने दो वाक्य का विज्ञापन शुद्ध लिख सकता था? कभी नही, तीन काल में नहीं। छापे-वाले कभी नहीं भूले, हरिश्चन्द्र ही भूला; क्योकि वह व्याकरण नही जानता था। न तो उसे कर्म के चिह्न 'को' का विचार था, न वह सर्वनाम की जरूरत की खबर रखता था। क्या अच्छा होता कि द्विवेदीजी का दो दर्जन साल पहले जन्म होता और हरिश्चन्द्र को अपने शिष्यों में नाम लिखाने तथा कुछ व्याकरण सीखने का अवसर मिल जाता। अथवा यही कि दो दर्जन वर्ष हरिश्चन्द्र और जीता, जिससे द्विवेदीजी से व्याकरण सीख लेने का अवसर उसे मिल जाता।"[१]

'आत्माराम' के इस प्रतिवाद का मुँहतोड़ उत्तर **गोविन्दनारायण मिश्र** ने 'हिन्दी-वंगवासी' में प्रकाशित अपनी लेखमाला 'आत्मा की टें-टें' द्वारा दिया। इस भाषा-विवाद में 'सुदर्शन', 'वेंकटेश्वर-समाचार' आदि पत्रों ने भी भाग लिया। सन् १९०६ ई० में द्विवेदीजी ने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक अपने दूसरे निबन्ध में गुप्तजी तथा अन्य सभी आलोचकों की मान्यताओं का तर्कसंगत खण्डन किया। भाषा-विवाद का यह झगड़ा वर्षों तक चला। इस झगड़े के फलस्वरूप सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् का ध्यान साहित्य-समीक्षा से हटकर भाषा-समीक्षा की ओर आकृष्ट हो गया। द्विवेदीजी यही चाहते थे। द्विवेदीजी के प्रयास से हिन्दी-लेखकों में भाषा को लेकर सजगता व्याप्त हो गई। उस समय चल रहे विभिन्न विवादों में एक महत्त्वपूर्ण विवाद विभक्तियों को मूल शब्द से सटाकर अथवा हटाकर लिखने के प्रश्न पर चला। सटाऊवाद के समर्थक **गोविन्दनारायण मिश्र, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी** आदि थे

१. डॉ० रामविलास शर्मा : 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र', पृ० १७ पर उद्धृत।

और हटाऊवाद के पक्षधर **लाला भगवान दीन, रामचन्द्र शुक्ल, भगवानदास हालना** आदि थे। द्विवेदीजी अधिकांशतः विभक्तियो को हटाकर लिखने के पक्ष में थे, फिर भी उनका मत सुविधानुसार सटाकर या हटाकर लिखने का था। द्विवेदी-युग मे लेखनी-युद्धों का जो वातावरण तैयार हो गया, उसके फलस्वरूप द्विवेदीजी के भाषा-सम्बन्धी आदर्शो को प्रचार एवं प्रसार मिला। भाषा के सम्बन्ध मे द्विवेदीजी की नीति उदार थी। वे साधारणतया संस्कृत, उर्दू, अँगरेजी आदि सभी भाषाओं के उन सरल शब्दों के व्यवहार के पक्षपाती थे, जिनको प्रयोग मे लाने से भाव-प्रकाशन मे विशेष बल के आगमन की सम्भावना हो। शब्दचयन, वाक्यगठन एवं भावव्यंजना की सरलता की दिशा में भी द्विवेदीजी ने आदर्श उपस्थित किया। अपने इन प्रयत्नों द्वारा उन्होंने व्याकरण और भाषा-सम्बन्धी भूलों को दूर कर हिन्दी-भाषा को विशुद्ध बनाया और मुहावरों की चलती भाषा का सुन्दर उपयोग कर उसमें बल एवं सौन्दर्य का संचार किया। **डॉ० शकरदयाल चौऋषि** के शब्दों में :

"उन्होने भाषा का परिमार्जन, स्वरूप-संगठन तथा वैयाकरणी भूलो का परिहार करके शुद्ध, व्यावहारिक एवं वैधानिक भाषा की प्राण-प्रतिष्ठा की। वाक्य-रचना, वाक्य-विन्यास, विराम-चिह्नों, प्रघट्टक आदि की हिन्दी में उन्होंने स्थायी व्यवस्था की। उन्होंने भाषा के अन्तर तथा बाह्य स्वरूप में भी एकता लाने का सबल प्रयत्न किया। द्विवेदीजी ने अपनी दूर दृष्टि से हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य को देखकर उसे महान् उत्तरदायित्व के वहन करने योग्य बनाने का संकल्प किया था।"[1]

'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में द्विवेदीजी को अन्य लेखकों की रचनाओं के सम्पर्क में आने का भरपूर अवसर मिला था। 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी गई स्वीकृत अथवा अस्वीकृत रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ यह प्रमाणित करती है कि उस युग के लेखकों का लेखन भाषागत त्रुटियों से भरा होता था। द्विवेदीजी ने इन सारी त्रुटियो का संशोधन किया। उनके द्वारा किये गये भाषा-सुधार का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय इन्हीं संशोधनों से निर्मित होता है। द्विवेदीजी ने सबकी रचनाओं का संशोधन किया है, परिवर्त्तन किया है, कायाकल्प किया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है। **पं० गिरिजादत्त वाजपेयी** ने एक कहानी लिखी, उसका मूल रूप इस प्रकार था :

एक पुराने बुड्ढे पण्डित और उनकी युवा पत्नी

"पण्डितजी की अवस्था करीब ४५ वर्ष की है और स्त्री की २० वर्ष। पण्डितजी बहुत विद्वान् मनुष्य हैं और पुस्तकें लिखी हैं। सप्ताह में दो-एक दिन उन्होंने समाचार या मासिक पत्रों के लिए लेख लिखने को नियत कर लिया। और,

१. डॉ० शंकरदयाल चौऋषि : 'द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन, पृ० १५७-१५८।

पण्डितजी ने हमसे कहा कि इन्हीं दिनों में विशेषकर जब वह कुछ लिखते होते हैं, तब उनकी युवा पत्नी उनको बातचीत में लगाना चाहती है। यह पण्डितानी स्वरूपवान् हैं और कुछ पढ़ी-लिखी भी हैं और वयस् में बहुत कम हैं।—**गिरजादत्त बाजपेई।**

इस अवतरण का संशोधन द्विवेदीजी ने इस प्रकार किया :

पण्डित और पण्डितानी

"पण्डितजी की अवस्था करीब ४५ वर्ष की है और उनकी पत्नी की २० वर्ष की। पण्डितजी अँगरेजी और संस्कृत दोनों में विद्वान् हैं और कई पुस्तकें लिख चुके हैं। सप्ताह में दो-एक दिन उन्होंने समाचार-पत्र और मासिक पुस्तकों के लिए लेख लिखने को नियत कर लिया है। विशेषकर इन्हीं दिनों में, अर्थात् जब वे कुछ लिखते होते हैं, तब उनकी युवा पत्नी उनको बातचीत में लगाना चाहती है। पण्डितानी स्वरूपवती है, और कुछ पढ़ी-लिखी भी हैं, उमर में बहुत कम हैं ही।

—जनवरी, १९०३ ई०, गिरिजादत्त वाजपेयी

ऐसे संशोधनों से 'सरस्वती' का रूप-शृंगार होता था। उस युग में वर्त्तनी की अशुद्धि साधारण बात थी। भाषा का परिमार्जन करने के लिए वर्त्तनी के शुद्धीकरण पर द्विवेदीजी ने विशेष ध्यान दिया। अपने संशोधनों द्वारा उन्होंने उस समय साहित्य-जगत् में पदार्पण कर रहे जिन साहित्यकारों की भाषा-शैली को सही मार्ग दिखाया, उनमें **मिश्रबन्धु, काशीप्रसाद, प्रमथनाथ भट्टाचार्य, वेंकटेशनारायण तिवारी, कामताप्रसाद गुरु, गोविन्दवल्लभ पन्त, पूर्णसिंह, बाबूराव विष्णु पराड़कर, रामचन्द्र शुक्ल, वृन्दावनलाल वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट, गणेशशंकर विद्यार्थी, श्रीमती बंगमहिला, रामचरित उपाध्याय, सूर्यनारायण दीक्षित, सत्यदेव, लाला पार्वती-नन्दन, काशीप्रसाद जायसवाल, लक्ष्मीधर वाजपेयी, गिरिधर शर्मा, सन्तनिहाल सिंह, माधव राव सप्रे** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सूची के अधिकांश साहित्यकार परवर्त्ती काल में हिन्दी-साहित्य-वितान में अपनी प्रतिभा एवं भाषा-शैली के कारण ऐतिहासिक गौरव के अधिकारी बने। इन सबकी इस उन्नति का रहस्य द्विवेदीजी की उस लेखनी में था, जिसके द्वारा इनकी रचनाएँ संशोधित होकर क्रमशः प्रौढता को प्राप्त कर सकी थीं। द्विवेदीजी ने संशोधन द्वारा हिन्दी के तत्कालीन लेखक-समाज की वर्ण एवं शब्दगत लेखन-त्रुटियों, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, अव्यय, लिंग, वचन, कारक, प्रत्यय, आकांक्षा, योग्यता, सन्धि, वाच्य आदि की व्याकरणगत त्रुटियों तथा विरामादि चिह्नों, अवच्छेदों, मुहावरों, पुनरुक्ति, जटिलता आदि अन्यान्य दोषों का परिहार कर हिन्दी के अनिश्चित स्वरूप को स्थिरता देने का ऐतिहासिक कार्य किया। भाषा को सुधारने का यह कार्य वे पत्रों-भाषणों आदि द्वारा भी किया करते थे। उदाहरण के लिए, **सेठ गोविन्ददास** के नाम लिखे गये उनके एक ही पत्र को उद्धृत करने से उनकी प्रबल भाषा-सुधारक प्रवृत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है :

श्रीमतांवर,

सागर के सम्मेलन में किये गये आपके इस अभिभाषण की एक कापी मुझे प्राप्त हुई। उस पर लिखा है— वक्ता का प्रेमोपहार। उपहार को मैंने सादर ग्रहण किया। इसके आरम्भ का श्लोक मुझे बहुत पसन्द आया। उसपर और उसके आगे भी जो दो श्लोक भागवत में इसी तरह के हैं, उनपर भी मेरी बड़ी भक्ति है। **श्रीमद्भागवत** मेरा सबसे प्यारा ग्रन्थ है।

अभिभाषण में पृ० १५ पर 'स्त्रियोपयोगी' शब्द खटकता है। जरा आप भी विचार कर लीजिए। अन्त के पद्यों की अन्तिम पंक्ति में 'करके' में 'के' अधिक जान पड़ता है। प्रसन्न होंगे।

शुभानुध्यायी
महावीरप्रसाद द्विवेदी[१]

इसी प्रकार, अन्यान्य साहित्यकारों के नाम लिखे गये उनके पत्र में भी भाषा को सुधारने की सीख मिलती है। भाषणों की भी यही दशा है। स्पष्ट है कि हिन्दी-भाषा के संस्कार एवं परिष्कार का कार्य द्विवेदीजी ने बड़ी लगन और निष्ठा के साथ किया। उन्हीं के श्रम से हिन्दी-भाषा का वर्त्तमान व्याकरणसम्मत एवं परिमार्जित रूप निखरा है। डॉ० **लक्ष्मीनारायण सुधांशु** ने ठीक ही लिखा है :

"उनका सबसे बड़ा कृतित्व यह है कि उन्होंने भाषा-सम्बन्धी एक नया प्रतिमान ही प्रस्तुत किया। भाव और भाषा, विषयवस्तु और उपादान, छन्द और रूप, गति और परम्परा की दृष्टि से साहित्य के क्षेत्र में अनेकमुखिता के कारण जो अव्यवस्था और अस्थिरता आई, उनके समग्र जीवन की तपस्या उसी को व्यवस्थित और सुचारु रूप देने में मर्मपित हुई है।"[२]

इस प्रकार. भाषा-सुधार एवं लेखक-निर्माण जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यो को जिस पदपर रहकर द्विवेदीजी ने सम्पन्न किया, वह सम्पादकत्व ही उनकी कीर्त्ति का मुख्य आधार कहा जायगा। वे अपने युग के शीर्षस्थ सम्पादक थे। आज भी उन जैसी प्रतिभा और परिश्रम से सम्पन्न दूसरा सम्पादक हिन्दी-जगत् को नहीं मिल सका है। द्विवेदीजी सम्पादन-कला के अप्रतिम आदर्श थे। उनकी सम्पादन-कला ने हिन्दी-संसार में आधुनिक पत्रकारिता का श्रीगणेश किया। 'सरस्वती' का बहुविध रूप-शृंगार-पूर्वक पाठकों के सब प्रकार से योग्य बनाने के लिए उसमें नाना विषयों का समावेश

१. सेठ गोविन्ददास : 'हिन्दी-प्रवर्त्तक', भाषा : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० ४४।
२. डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु : 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास', भाग १३, पृ० २०।

करके द्विवेदीजी ने जिस कौशल के साथ प्रस्तुतीकरण किया, उनका कोई मिसाल नहीं है। उनके समय की 'सरस्वती' के पन्ने-पन्ने पर द्विवेदीजी की कला और प्रतिभा की मुहर लगी हुई है। प्रूफ-संशोधन, रचनाओं के संशोधन एवं विषय-संयोजन से लेकर सम्पादकीय टिप्पणियों तक में द्विवेदीजी का पसीना बहता था। **श्रीनारायण चतुर्वेदी** ने लिखा है :

"नियमित रूप से इस प्रकार सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखना हिन्दी-मासिक पत्रों में शायद सबसे पहले 'सरस्वती' ने ही आरम्भ किया था।"[1]

वास्तव में, द्विवेदीजी की 'सरस्वती' ने पत्रकारिता एवं साहित्यिक उपलब्धियों की अनेक दिशाओं में पहलकदमी की थी। और, यह द्विवेदीजी की देन थी। निःसन्देह, द्विवेदीजी अथक परिश्रमी, कर्मठ एवं आदर्श सम्पादक, भाषासंस्कारक एवं हिन्दी के महारथी थे।

●

---

१. श्रीश्रीनारायण चतुर्वेदी : 'सरस्वती' की कहानी, सरस्वती-हीरक-जयन्ती-अंक, सन् १९६१ ई०, पृ० २४।

पंचम अध्याय

आचार्य द्विवेदीजी की गद्यशैली

(निबन्ध एवं आलोचना)

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही हिन्दी-गद्य में प्राण-प्रतिष्ठापन का कार्य धीरे-धीरे प्रारम्भ हो गया था। **पं० सदल मिश्र, सदासुखलाल, लल्लूलाल, इंशा अल्ला खाँ** और **रामप्रसाद निरंजनी** की लेखनी का साहचर्य पाती हुई हिन्दी की गद्यधारा सन् १९५० ई० के आसपास उर्दू, संस्कृत और अँगरेजी के त्रिकोण में फँस गई। **राजा लक्ष्मणसिंह** और **शिवप्रसाद सितारे हिन्द** की क्रमशः संस्कृत-बहुल एवं उर्दूनुमा भाषा के स्थान पर हिन्दी-गद्य को पुष्ट स्वरूप देने का काम सबसे पहले **भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्र** ने किया। तद्युगीन भाषा-विवाद को दूर करने की दिशा मे भारतेन्दु ने सरल भाषा के प्रयोग पर बल दिया और गद्य की विषयानुरूप शैलियो का प्रवर्त्तन किया। परन्तु, भाषा-संस्कार एवं गद्यशैली के परिष्कार के क्षेत्र में भारतेन्दु की अपनी सीमाएँ थीं। वे स्वयं परम्परित लेखन से पूरी तरह नाता नहीं तोड़ सके थे और उनके समक्ष भाषाशैली का कोई आदर्श मानदण्ड भी नहीं था। बोलचाल की भाषा को ही अधिकांशतः अभिव्यक्ति का माध्यम मानते हुए उन्होने गद्यशैली के निर्माण की दिशा में जो कुछ भी किया, वह एक प्रशंसनीय प्रयास ही कहा जा सकता है। परन्तु, दुर्भाग्यवश भारतेन्दु के बाद हिन्दी का गद्य-शैली को सजीवता प्रदान करनेवाला उनकी परम्परा में **बालमुकुन्द गुप्त** के अतिरिक्त कोई और नहीं हुआ। सम्पूर्ण भारतेन्दु-युग की गद्यशैली को गद्य-निर्माण की दिशा मे किया गया एक श्लाघनीय प्रयास ही कहा जायगा, उसे किसी युगनिर्मिति के रूप में नही स्वीकारा जा सकता है। **डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय** ने भारतेन्दुयुगीन गद्यशैली की प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में लिखा है :

"आलोच्यकाल में न तो व्रजभाषा का प्रभाव ही बिलकुल दूर होने पाया था और न भाषा वर्त्तमान काल की भाँति परिष्कृत और परिमार्जित ही हो पाई थी। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में व्रजभाषा के प्रयोग और अशुद्धियाँ मिलती हैं। वास्तव में, आलोच्य काल का महत्त्व साहित्य का नये-नये विषयों की ओर प्रवृत्त होने में है, न कि भाषा के परिष्कृत और प्रांजल रूप में। यह दूसरा कार्य **महावीरप्रसाद द्विवेदी** के हाथ से होना बदा था।"[1]

---

१. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', पृ० ५९।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के निधन एवं 'सरस्वती' के माध्यम से द्विवेदीजी के उदय के बीच हिन्दी-जगत् में चतुर्दिक् अराजकता व्याप्त हो गई थी। भाषा, भाव, विधान, शैली आदि से सम्बद्ध आदर्श के अभाव में उस समय के सभी साहित्यकार एक ऐसे अजीब-से चक्रव्यूह फँसे थे, जिससे हिन्दी को कोई वीर साहसी अभिमन्यु-सरीखा दृढ़-प्रतिज्ञ पुरुष ही त्राण दिला सकता था। उस समय की सबसे बड़ी उलझन तो यह थी कि सभी अपनी-अपनी डफली लेकर अपना राग अलाप रहे थे, कोई किसी की नहीं सुनता था। ऐसी परिस्थिति मे एक ऐसे स्वतन्त्र मनीषी व्यक्ति की आवश्यकता थी, जो किसी के झूठे वर्चस्व को स्वीकार न करे तथा अपने स्वतन्त्र विचारों से भाषा के क्षेत्र में मार्गदर्शन करे। किन्तु, अराजकता-भरे उस वातावरण में ऐसा करना कोई हँसी-खेल नही था। वही इस कार्य में सफल हो सकता था, जिसमें प्रतिभा का सम्बल हो, विवेक की गहरी दृष्टि हो, जीवन की अखण्ड ज्योति हो तथा किसी से न डरनेवाला साहस हो। संयोगवश, आचार्य **महावीरप्रसाद द्विवेदी** इन सभी चरित्र एवं लेखनीगत गुणों से लेकर मामने आये। इनका व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही इतना ओजस्वी था कि जो सामने आता था, नतमस्तक हो जाता था और जो अड़ गया, वह या तो टूटकर खण्ड-खण्ड हो गया अन्यथा बाद में स्वयं इनकी शरण में आ गया। अपनी इन्हीं विशेषताओं के द्वारा उन्होंने अपने समय की हिन्दी-गद्यशैली का नियमन किया और भाषा का अप्रतिम सुधार किया। **श्रीप्रेमनारायण टण्डन** ने ठीक ही लिखा है :

'बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में द्विवेदीजी के प्रादुर्भाव के समय भाव-प्रकाशन का जो अस्थिर और अपरिपक्व स्वरूप दिखाई देता था, उसमे सजीवता और बोधगम्यता का पुट देते हुए, प्रौढता और बल का संचार करते हुए, ज्ञात और अज्ञात, प्रकट और परोक्ष रूप मे अपने समकालीन लेखकों की रचनाशैली पर आधिपत्य स्थापित करते हुए, विलक्षतापूर्ण और चमत्कारयुक्त जिस नवीन, विविध भाव-प्रतिपादन-प्रणाली को द्विवेदीजी ने जन्म दिया, वही आज हिन्दी-भाषा के प्रचार-प्रसार और हिन्दी-साहित्य की आधुनिक उन्नति का प्रधान कारण है।''[१]

अपने द्वारा सम्पादित पत्र 'सरस्वती' तथा अन्यान्य पुस्तकों द्वारा द्विवेदीजी ने गद्यभाषा की स्थिरता के लिए अथक प्रयास किया। **आचार्य शिवपूजन सहाय** ने लिखा है :

''तब हिन्दी-गद्य ठीक जेठ की गंगा के समान था। उसके उथले जल पर हल्के विचारों की छोटी नौकाओं को कुशल साहित्यिक मल्लाह बहुत सँभाल कर खेते थे। द्विवेदीजी की बदौलत अब उसी गद्यधारा में गहराई आ गई है और उसका विस्तार अब बहुत बढ़ गया है, जिसपर गम्भीर भावों और गहन विषयों के बड़े-बड़े जलपोत

१. श्रीप्रेमनारायण टण्डन : 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० १९२।

सुगमता के साथ पार हो जाते हैं। अथक परिश्रम से उन्होंने हिन्दी-गद्य के धुँधले हीरे को लेकर अपनी प्रतिभा की खराद पर बार-बार चढ़ाया और तबतक उसे चढ़ाते ही चले गये, जबतक उसके अनन्त पहलों से अभूतपूर्व आभा न जगमगाने लगी। हिन्दी-गद्य को परिष्कृत, परिमार्जित और संस्कृत बना दिया। उसकी शैली में अराजकता के स्थान में एक नियमित सत्ता उन्हीं के प्रयत्न से स्थापित हो गई। भावी इतिहास-लेखक सुव्यवस्थित गद्य की चिरस्थायी शैली का सबसे बड़ा और प्रतिष्ठित नायक द्विवेदीजी को ही स्वीकार करेगा।"[1]

यदि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की गद्य-रचनाओं को साहित्यिक महत्ता एवं गुणों की दृष्टि से परखा जाय, तो अधिकांशत: निराश होना पड़ेगा। उनकी अधिकतर गद्यकृतियाँ अनुवाद है, कुछ दूसरों की रचनाओं के सरल विश्लेषण हैं, थोड़े आलोचनात्मक निबन्ध हैं और शेष साधारण विविध विषयों पर लिखे गये टिप्पणी जैसे लोकप्रिय निबन्ध है। इन सबका अपना साहित्यिक महत्त्व नही के बराबर है। परन्तु, इनमें भाषा और शैली के जिस रूप के दर्शन होते हैं, वही द्विवेदीजी की ऐतिहासिक महत्ता का कारण है। हिन्दी-गद्य के इतिहास मे वर्णन-शैली की अपूर्व प्रवाह से भरी हुई हृदय को आकृष्ट और विमुग्ध करनेवाली जिस कला का प्रवर्त्तन उन्होंने किया, वही उनकी हिन्दी-जगत् की सबसे बड़ी देन है। भाषा के निखरे हुए रूप और शैली की आकर्षक छटा द्वारा द्विवेदीजी ने हिन्दी-गद्य का शृंगार किया। उनके समय में साधारण जनता के बीच हिन्दी-भाषा के प्रचार की समस्या के साथ यह प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ था कि जनरुचि के अनुकूल किस प्रकार की शैली का प्रयोग किया जाय? द्विवेदीजी ने इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए 'क्या लिखा जा रहा है', इसकी चिन्ता कम की तथा 'कैसे लिखा जाय' की समस्या का समाधान आजीवन किया और लिखने की अपूर्व शैली को निर्मित करने में कृतकार्य भी हुए। **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने उनकी इस उपलब्धि एवं महत्ता को ऐतिहासिक गौरव प्रदान किया है :

"सच पूछा जाय, तो संसार के आधुनिक साहित्य में यह एक अद्भुत-सी बात है कि एक आदमी अपने 'क्या' के बल पर नहीं, बल्कि 'कैसे' के बल पर साहित्य का स्रष्टा हो गया। ससार बहुत बड़ा है, उसका साहित्य भी छोटा नहीं है, इसलिए यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि यह घटना केवल हमारे साहित्य में ही हुई है, पर इतना निश्चित है कि ऐसा होता बहुत कम है।"[2]

---

१. आचार्य शिवपूजन सहाय : 'शिवपूजन-रचनावली', खण्ड ४, पृ० १६८-६९।

२. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', पृ० ५८।

सर्वसाधारण में हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन का द्विवेदीजी ने शैली की दृष्टि से नेतृत्व किया। हिन्दी के सहज विकास एवं प्रचार को दृष्टिपथ में रखते हुए उन्होंने कहानी कहने की अत्याकर्षक और मुग्धकारी शैली के द्वारा कठिन विषय को भी सरल भाषा में कहना प्रारम्भ किया। इस नवीन शैली के प्रवर्त्तन का प्रयास **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** ने किया था, परन्तु भाषा को माँजकर शैली को सुनिश्चित गति प्रदान करने का कार्य द्विवेदीजी ने ही किया।

शैली के स्वरूप को लेकर साहित्य-जगत् में चर्चाएँ होती रही हैं। और, इस सन्दर्भ में शैली तथा रचनाकार के व्यक्तित्व के परस्पर गठबन्धन पर अधिकांश विचारकों ने जोर दिया है। 'व्यक्तित्व ही शैली है'– इसी बात को घुमा-फिराकर **एफ्० एल्० लुकास**,[१] **जे० मिडिल्टन मरे**,[२] **आर्० ए० स्कॉटजेम्स**,[३] **बफन**[४] और **हडसन**[५] जैसे पश्चिमी विचारकों एवं **शिवदानसिंह चौहान**[६], **डॉ० नगेन्द्र**[७], **आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी**[८] प्रभृति भारतीय विद्वानों ने भी कहा है। शैली और व्यक्तित्व के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों की इस पृष्ठभूमि में शैली को प्रत्येक अभिव्यक्ति का साधारण धर्म नहीं, विशिष्ट अभिव्यक्ति का सहज धर्म कहा जा सकता है। परन्तु, द्विवेदी-युग

---

१ F. L. Lucas.

२. J. Middleton Muray.

३. R. A. Scott James.

४. Buffon.

५. Hudson.

६. "साहित्य मे शैली का अर्थ है शब्दचयन और वाक्यविन्यास का ऐसा ढंग, जो लेखक के व्यक्तित्व और उसके विचार और मन्तव्य को पूर्ण रूप से व्यक्त कर सके। जिस लेखक की भाषा उसके विचारों के अनुरूप हो, उन्हें अधिक-से-अधिक मार्मिक और सुस्पष्ट ढंग से व्यक्त कर सके, उसी शैली को हम अच्छी या श्रेष्ठ शैली कह सकते हैं।"

—श्रीशिवदानसिंह चौहान : 'आलोचना के मान', पृ० १५१।

७. "शैली के दो मूल तत्त्व हैं—एक व्यक्ति-तत्त्व और दूसरा वस्तु-तत्त्व।.... वास्तव में,शैली के व्यक्ति-तत्त्व और वस्तु-तत्त्व में व्यक्ति-तत्त्व ही प्रधान है,उसी के द्वारा शैली के बाह्य उपकरणो का समन्वय अनेकता में एकता की स्थापना करता है।"—डॉ० नगेन्द्र : 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', पृ० ५३।

८. "आज शैली का प्रयोग कला और शिल्प के समस्त उपकरणों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है।"—आ० नन्ददुलारे वाजपेयी : 'नया साहित्य : नये प्रश्न', पृ० २३।

में हिन्दी-संसार की परिस्थितियाँ विशिष्ट शैली की अभिव्यंजना के अधिक अनुकूल नहीं थीं। उस युग में व्यक्तित्व-शून्य सार्वजनिक शैली को ही महत्ता एवं लोकप्रियता मिल सकती थी। द्विवेदीजी की रचनाओं में इसी कारण उनके व्यक्तित्व का अंश कम दीखता है और जनरुचि के अनुकूल भाषाशैली का प्रवाह उनकी रचनाओं में सर्वत्र दीखता है। लोगों को समझाने में अपने पाण्डित्य को भूलकर पढ़नेवाले के स्तर पर आकर लिखना द्विवेदीजी की लेखन-प्रक्रिया की प्रमुख विशेषता थी। वास्तव में, भारतेन्दु-युग मे द्विवेदी-युग तक हिन्दी का गद्य-लेखन वर्त्तमान साहित्यिक तर्क-कर्कश गरिमा नहीं धारण कर सका था। तर्कपूर्ण गम्भीर शैली तो **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** के प्रादुर्भाव के बाद हिन्दी में आई। इसके पहले हिन्दी-गद्य के निर्माण एवं संस्कार की सारी प्रक्रियाएँ जनसाधारण के अनुकूल धरातल पर भारतेन्दु एवं द्विवेदीजी प्रभृति युगनेताओं ने सम्पन्न कीं। **भारतेन्दु** और उनके **बालमुकुन्द गुप्त** जैसे अनुयायियों ने निबंधों में निजी वैयक्तिकता को मुखर किया है, परन्तु उनकी शैली मूलतः जनसाधारण के अनुकूल ही रही। ऐसी ही शैली हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल में प्रथम दो चरणों में गद्य की प्रतिनिधि शैली बनी रही। इसी शैली का संवहन इस अवधि की पत्र-पत्रिकाओं में भी हुआ है। साहित्य-सर्जन भी उन दिनों मुख्य रूप से कविवचनसुधा, हरिश्चन्द्रचन्द्रिका, भारतमित्र, ब्राह्मण, हिन्दी-प्रदीप, सरस्वती, लक्ष्मी आदि पत्रिकाओ में ही सामने आता था। अतएव, हिन्दी-गद्य के इन प्रारम्भिक वर्षों की पत्रकारिता और उसमे अपनाई गई सहज बोध-सम्पन्न शैली का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध माना जा सकता है। इस शैली को **डॉ० जेकब पी० जॉर्ज** ने 'सार्वजनिक गद्यशैली' की संज्ञा दी है और लिखा है :

"सार्वजनिक गद्यशैली का आधार है पत्रकारिता, जो पूर्ण रूप से साधारण जनता की चीज हुई। उसका सम्पादक साधारण क्षमतावाला आदमी है, उसका विषय साधारण है, यदि विषय कुछ महत्त्वपूर्ण हुआ, तो भी विवेचन सामान्य ही रहेगा, उसका उद्देश्य है जनसामान्य को प्रभावित करना और इन सबके कारण उसकी शैली भी साधारण रहेगी, जिसे सार्वजनिक गद्यशैली के नाम से अभिहित किया जा सकता है।"[1]

बोलचाल की बोधगम्य भाषा, स्पष्ट प्रतिपादन एवं सरल-लघु वाक्य-रचना से समन्वित इस शैली में सहजता, साधारणता और स्पष्टता की ही प्रधानता है। **श्रीबालमुकुन्द गुप्त** ने इस शैली का सफल प्रयोग किया है, परन्तु द्विवेदीजी ने आते ही सार्वजनिक गद्यशैली को विषयानुकूल अधिक सहजता प्रदान की। अपने समय में

---

१. डॉ० जेकब पी० जॉर्ज : 'आधुनिक हिन्दी-गद्य और गद्यकार', पृ० ३७।

व्याप्त हिन्दी-गद्य के पण्डिताऊपन, उर्दूपन, क्लिष्टता और आलंकारिता को दूर कर 'सरस्वती' के सामान्य पाठको के समय मे आसानी से समझ मे आ जाने योग्य भाषाशैली में उन्होंने अपने निबन्धों की रचना की। इस क्रम में वे प्रथम श्रेणी की पत्रकारिता का आदर्श स्थापित करने की दिशा में भी सचेष्ट रहे। डॉ० जेकब पी० जॉर्ज ने लिखा है :

"द्विवेदीजी का काल हमारी सार्वजनिक गद्यशैली का सुवर्ण-युग रहा है। उन्होंने उसे साधारण पत्रकारिता के स्तर से ऊपर उठाकर साहित्य के उदात्त धरातल के निकट पहुँचाया और अपने इस प्रयत्न में वे इस ओर भी सतत प्रयत्नशील थे कि अपना गद्य कहीं सार्वजनिक गद्यशैली की भूमिका को खो न बैठे।"[1]

सरल एवं स्पष्ट भाषा में लिखने का कार्य द्विवेदीजी स्वयं करते थे और अपने समय के अन्य साहित्यिकों को भी इसी सार्वजनिक शैली का ही अनुसरण करने की सलाह देते थे। उन्होंने कई स्थानों पर सरल एवं सहजबोध्य भाषा की अपील की है। यथा :

"लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए। उन्हें वागाडम्बर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई बड़ी ही गम्भीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं।....हिन्दी में यदि कुछ लिखना हो, तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए, जिसे केवल हिन्दी जाननेवाले भी सहज ही में समझ जायँ।"[2] स्वयं द्विवेदीजी ने सार्वजनिक गद्यशैली का किस प्रकार निर्वाह किया था, इसका अनुमान उनके एक-दो गद्य-अवतरणों पर दृष्टिपात करके लगाया जा सकता है। भला इससे भी सरल भाषा हो सकती है ?

"वह कौन-सी वस्तु है, जो एक होकर भी अनेक है, कुछ न होकर भी कुछ है, निराकार होकर भी साकार है, ज्ञानवान् होकर भी ज्ञानहीन है, दूर होकर भी पास है, सूक्ष्म होकर भी महान् है....।"[3]

ईश्वर-सम्बन्धी अध्यात्म जैसे कठिन विषय पर इतनी सरल भाषा में विवेचन द्विवेदीजी ने किया है। अपनी ऐतिहासिक टिप्पणियों में किसी स्थान का परिचय देते समय उनकी शैली विचित्र प्रकार से सरल दीख पड़ती है। जैसे सोमनाथ के मन्दिर के बारे में वे लिखते हैं :

"यह मन्दिर सोम, अर्थात् चन्द्रमा का था। उसके खर्च के लिए दस हजार गाँव लगे हुए थे। अनन्त रत्नों की राशियाँ मन्दिर में जमा थीं। बारह सौ मील दूर गंगा

---

१. जेकब पी० जॉर्ज ; 'आधुनिक हिन्दी-गद्य और गद्यकार', पृ० १०९।

२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० ४६।

३. 'सरस्वती', भाग ७, संख्या ८, पृ० ३२१।

से रोज गंगाजल आता था। उसी में मूर्त्ति-स्नान होता था। एक हजार ब्राह्मण पूजा के लिए और साढ़े तीन सौ नाचने-गानेवाले देवमूर्त्ति को रिझाने के लिए नियत थे। यात्रियों की हजामत बनाने के लिए तीन सौ नाई थे। इन सब लोगों की तनख्वाह मुकर्रर थी। मन्दिर में लकड़ी के ५० खम्भे थे। उसके ऊपर सीसा जड़ा हुआ था। मूर्त्ति ५ हाथ उँची थी। वह एक अँधेरे कमरे में थी। कमरे में रत्नखचित दीपक जलते थे। मूर्त्ति के पास छत से सोने की जंजीर लटकती थी। उससे २०० मन वजनी एक घण्टा टँगा था। इस मन्दिर की लूट से महमूद गजनवी को एक करोड़ रुपये का माल मिला था।"[१] छोटे-छोटे वाक्यों और सरल शब्दों का सुन्दर प्रयोग इस विवरण में मिलता है। तत्कालीन सार्वजनिक गद्यशैली का यही स्वरूप द्विवेदीजी ने स्थापित किया था। सरल-सहज एवं स्पष्ट शैली होने के कारण इसमें परिचयात्मकता का आभास मिलता है। अनेक विद्वानों ने द्विवेदीजी की इस सरल एवं सुबोध शैली को 'परिचयात्मक शैली' की ही संज्ञा दी है। जिस प्रकार कोई गाइड पर्यटकों को समझा-समझाकर दर्शनीय स्थलो का परिचय देता है, उसी प्रकार द्विवेदीजी ने भी विविध विषयों के निरूपण के लिए सहज बोधगम्य परिचय देनेवाली शैली अपनाई है। डॉ० **वासुदेवनन्दन प्रसाद** ने लिखा है :

"यों तो द्विवेदीजी की गद्यशैली में अनेकरूपता है, परन्तु द्विवेदीजी की रचनाओं की प्रतिनिधि शैली परिचयात्मक है। इसमें सरल ढंग से और सरल भाषा में विचारों में व्याख्यात्मकता लाने का प्रयत्न किया गया है। एक अध्यापक जिस प्रकार अपने छात्रों को कोई गम्भीर विषय बार-बार दुहराकर समझाता है और उसे अधिकाधिक बोधगम्य बनाने की चेष्टा करता है, उसी प्रकार की चेष्टा द्विवेदीजी ने अपनी शैली द्वारा की है।"[२]

सरलतम भाषा में गम्भीरतम बात कहना द्विवेदीजी की शैली का आदर्श रहा। जब कभी उन्हें किसी गम्भीर विषय की विवेचना करनी पड़ती थी, वे अपनी भाषा और शैली द्वारा अपनी रचना में घरेलू वातावरण उपस्थित कर देते थे। हिन्दी की सहज प्रकृति के अनुकूल मुहावरों, कहावतों, शब्दों आदि को ग्रहण करके पाठकों के समक्ष 'मेघदूत' के रहस्य तक को सरल भाषा मे रख देते हैं :

"जरा इस यक्ष की नादानी तो देखिए। आग, पानी, धुएँ और वायु के संयोग से बना हुआ कहाँ जड़ मेघ और कहाँ बड़े ही चतुर मनुष्यो के द्वारा भेजा जाने योग्य सन्देश। परन्तु, वियोगजन्य दुःख से व्याकुल हुए यक्ष ने इस बात का कुछ भी विचार

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० १०३।

२. डॉ० वासुदेवनन्दन प्रसाद : 'विचार और निष्कर्ष', पृ० १२२।

न किया।"[१] और, इसी प्रकार की सीधी-सादी भाषाशैली में वे कथा-चर्चा भी करते थे। 'हंस-सन्देश' जैसे कठिन काव्य की कथा को सरल शब्दों एवं सुन्दर वाक्यों में सजाकर द्विवेदीजी ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :

"मामूली बातें हो चुकने पर हंस ने मतलब की बात शुरू कीं, जिसे सुनने के लिए नल घबरा रहा था। उसने कहा : मित्र, तेरे लिए एक अनन्य साधारण कन्या ढूँढ़ने में मुझे बड़ी हैरानी उठानी पड़ी। ऊपर जितने लोक है, सबकी खाक मैंने छान डाली। पर एक भी सर्वोत्तम रूपवती मुझे न देख पड़ी। तब मैंने ठेठ अमरावती की राह ली। वहाँ पर भी मैंने एक-एक घर ढूँढ़ डाला।"[२]

सरल अभिव्यंजना की यही शैली आचार्य द्विवेदीजी की गद्यशैली का विशेष माधुर्य था। सहज ही सबकी समझ में आ जाने योग्य भाषा का समर्थन द्विवेदीजी ने जिन जोरदार शब्दों में किया था,[३] वे स्वयं उनके आदर्श परिपालक थे। द्विवेदीजी का भाव-प्रकाशन एवं लेखन-कौशल सरलता की दृष्टि से उनके युग का आदर्श था। गाँवों में कहानी कहनेवाले वक्ता जिस भाँति अपनी रसिक शैली से श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध किये रहते है, उसी प्रकार अपनी रोचक शैली द्वारा द्विवेदीजी ने अपनी निपुणता का परिचय दिया। **डॉ० श्रीकृष्णलाल** ने द्विवेदीजी की इस सरल शैली की तुलना महाकवि **गोस्वामी तुलसीदास** की कला से की है :

"**गोस्वामी तुलसीदास** के 'रामचरितमानस' में जिस प्रकार पौराणिक कला की पूर्णता मिलती है, उसी प्रकार **महावीरप्रसाद द्विवेदी** की गद्यशैली में कहानी कहने की पूर्ण पराकाष्ठा है। सर्वसाधारण में हिन्दी-प्रचार-आन्दोलन के नेता के रूप में द्विवेदीजी की अद्भुत सफलता का रहस्य उनकी इस गद्यशैली में निहित है।"[४]

वैसे, द्विवेदीजी ने विषय के अनुसार शैलियाँ अपनाई हैं। 'सरस्वती' में विविध विषयों की जानकारी कराने के उद्देश्य से जो लेख या टिप्पणियों की सर्जना हुई है, उनमें सरल, व्यावहारिक एवं बोधगम्य भाषाशैली ही अपनाई गई। कभी-कभी विरोध, प्रशंसा, मन्तव्य या समर्थन, संवेदनाशीलता, आक्षेप और निर्भीकता आदि के स्पष्ट दर्शन भी द्विवेदीजी की शैली में होते हैं। शैली की उग्रता, वक्रता एवं भावात्मकता के

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'मेघदूत', पृ० ३।

२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० ७८।

३. "जो कुछ लिखा जाता है, वह इसी अभिप्राय से लिखा जाता है कि लेखक का हृद्गत भाव दूसरे समझ जायँ। यदि इस उद्देश्य ही की सफलता न हुई, लिखना ही व्यर्थ हुआ।"

—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० १०।

४. डॉ० कृष्णलाल : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० १०९।

बीच भी सार्वजनिक गद्यशैली का भाव द्विवेदीजी की सभी गद्यकृतियों में सबसे ऊपर दीख पड़ता है। परन्तु इस सन्दर्भ में डॉ० रामसकल राय शर्मा की अधोलिखित पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं :

"उनको किसी एक रचना-विशेष के साथ न तो बाँधा जा सकता है, न किसी चमत्कारपूर्ण व्याख्या मे उनके शैलीकार के व्यक्तित्व को उलझाया जा सकता है। भाव-प्रकाशन के तीन प्रकार—व्यंग्यात्मक, आलोचनात्मक और विचारात्मक—उनकी शैली मे पाये जाते है। कभी-कभी एक कृति में तीनो का सुन्दर मेल मिलता है।"[१]

इस प्रकार, भाषा एव शैली की आत्मा के रूप में द्विवेदीजी ने सार्वजनिक गद्यशैली को ग्रहण किया और विषयों की अनेकरूपता तथा भाव-प्रकाशन की दृष्टि से मुख्य रूप से तीन शैलियाँ अपनाईं।

व्यंग्यात्मक शैली को गद्य मे भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों ने बहुविध विस्तार दिया था और उनमें वैयक्तिक गुणो का समावेश कर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा की थी। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी इस शैली का प्रयोग हिन्दी-भाषा, साहित्य तथा भारत की दशा में सुधार के निमित्त किया है। इस युग में भाषा-संस्कार तथा अन्यान्य समस्याओं को लेकर जो साहित्यिक विवाद चल रहे थे, उनमें ऐसी ही व्यंग्यात्मक शैली का प्राधान्य था। श्रीबालमुकुन्द गुप्त इस शैली के सर्वश्रेष्ठ पुरोधा थे। परन्तु, जहाँ कहीं भी द्विवेदीजी ने इसका आश्रय लिया है, अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 'भाषा पद्य-व्याकरण' नामक पुस्तक की समीक्षा करते हुए उन्होंने व्यंग्य का भरपूर प्रयोग किया है। यथा :

"हाँ महाराज। आप विद्वान्, आप आचार्य, आप प्रधान पण्डित, आप विख्यात पण्डित और हम अगाध अज्ञ और दुर्जन; क्योंकि हमें आपकी यह व्याकरण तोष-प्रद नही। भगवान् पिंगलाचार्य ही आपके इस छन्द के नाम-धाम बतावें, तो बता सकते हैं और आपके इस समग्र पाठ का अर्थ भी शायद कोई आचार्य ही अच्छी तरह बता सकें। अज्ञों और दुर्जनों की क्या मजाल, जो इस विषय में कुछ कहने का साहस करें।"[२]

ऐसे ही स्पष्ट एवं तीक्ष्ण व्यंग्य का परिचय द्विवेदीजी ने हिन्दी की तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की अवस्था पर विचार करते हुए दिया है। यथा :

"... और, हिन्दी-भाषा में सम्पादन-कार्य करनेवालों की कुशलता की तो इतनी अधिक उन्नति हो रही है, जिसका माप बड़े-से-बड़े गज, लट्ठे और जरीब से भी नहीं हो सकती। इसका कारण यह जान पड़ता है कि हिन्दी के सम्पादकों को सम्पादन-कार्य की

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० १८५-१८६।

२. डॉ० रामसकल राय शर्मा : 'द्विवेदी-युग का हिन्दी-काव्य', पृ० ७२।

योग्यता प्राप्त करने की मुतलक जरूरत नहीं। वह उन्हें अनायास ही प्राप्त हो जाती है, जन्म के साथ ही वह उन्हें मिल जाती है। .... और, इसी से हिन्दी के नव-नवोद्गत सम्पादकों मे ब्रह्मा ने जहाँ योग्यता, उदारता, विद्वत्ता, विवेकशीलता आदि की नि.सीम सृष्टि की है, हिन्दी के पाठको मे अयोग्यता, अनुदारता, बुद्धिहीनता और अविवेकिता आदि दुर्गुणों को भी ठूँस ठूँसकर भर दिया है। फल यह हुआ कि वे ज्ञान-विज्ञान की बातो से भरे हुए पत्रों की भी कदर नही करते। कोई कैसा ही अच्छा पत्र क्यों न निकाले, वह महीने ही दो महीने या अधिक-से-अधिक वर्ष ही दो वर्ष में ग्राहक या पाठक न मिलने से अस्त हो जाता है।"[1]

अपने युग में पत्र-पत्रिकाओं की अधोगति का प्रमुख कारण सम्पादकों की अल्पज्ञता एवं अनुभवहीनता को मानकर द्विवेदीजी ने उपर्युक्त पंक्तियो में जिस प्रच्छन्न व्यंग्य का प्रयोग किया है, वह अपने लक्ष्य की दृष्टि से पर्याप्त सार्थक एवं सटीक है। व्यंग्यात्मक शैली की अत्यन्त सरल बोलचाल का सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है :

"इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुल लोग कुर्सीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमनी बूचा शाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढे-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेण्ट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जाएँ, खुशामदियों से आठ चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले न चले, आपकी बला से।"[2] साथ-ही-साथ, द्विवेदीजी ने अँगरेजी और फारसी तथा रूपकादि अलंकारों की योजना द्वारा भी व्यंग्यविधान की सर्जना की है। एक उदाहरण इस प्रकार है :

"समालोचना-सरोवर के हंस हमारे समालोचक महाशय ने हमारी तुलना एक विशेष प्रकार के जलपक्षी से की है। इस पक्षी को किनारे के कीचड़ ही में सब मिल जाता है। थैंक यू, जलपक्षियों के परीक्षक और जुबाँदानी का कीचड़ उछालनेवाले वीर! आपने कभी उस जलचर को भी देखा है, जो भूख के मारे अपने हाथ, पैर, सिर और आत्मा तक को अपने शरीर के कोटर में छिपाकर पानी में गोता लगा जाता है।"[3]

व्यंग्य को द्विवेदीजी ने अपनी निर्भीकता एवं स्पष्टोक्ति का वाहन बनाया था। यह शैली सम्पादकीय गरिमा के अन्दर रहती हुई 'साँप भी मरे और लाठी न टूटे' की लोकोक्ति को चरितार्थ करती रही। द्विवेदीजी की व्यंग्यात्मक गद्यशैली के अगणित उदाहरण उनकी 'सरस्वती' की फाइलों में उपलब्ध हैं। यदि शून्य दृष्टि से देखा जाय,

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० ६०-७०।

२. श्रीप्रेमनारायण टण्डन : 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० १८४ पर उद्धृत।

३. 'सरस्वती', भाग ७, संख्या २, पृ० ७७।

तो द्विवेदीजी की व्यंग्यात्मक शैली का मूल स्वर आलोचनात्मक ही प्रतीत होता है। इस दृष्टि से व्यंग्यात्मक शैली को आलोचनात्मक शैली से अभिन्न पाते हैं।

आचार्य द्विवेदीजी की आलोचनात्मक गद्यशैली अपने-आप में एक विशिष्ट लेखन-शैली थी। इस दिशा में उनकी शैली प्रधानत: व्यासात्मक-सरल है। कहीं आदेशपूर्ण, कहीं ओजपूर्ण और कहीं विवेचनात्मक ढंग से द्विवेदीजी ने अपनी आलोचनात्मक शैली को सरलता तथा व्यासात्मकता के आवरण में प्रस्तुत किया है। उनकी इस शैली के सम्बन्ध में **श्रीकमलेश्वरप्रसाद भट्ट** ने लिखा है :

"आलोचनात्मक रचनाओं में द्विवेदीजी ने जिसशैली को अपनाया है, उसमें सरलता के साथ गाम्भीर्य और प्रौढता है। वह शिष्ट संयत भाषा से युक्त है। उनकी शैली कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक भी हो गई है।"[1]

आलोचना के प्रसंग मे अपने समकालीन साहित्य का दिशा-निर्देश करने के उद्देश्य से जैसी भाषाशैली का प्रयोग द्विवेदीजी ने किया है, उसमें युगनेता के अनुरूप आदेशात्मक ध्वनि मिलती है। यथा :

"कृच्छ्र-साध्यजनों को चाहिए कि कालिदास आदि सत्कवियों के सारे प्रबन्धों को आद्यन्त पढ़ें और खूब विचारपूर्वक पढ़ें। इतिहासों का भी अध्ययन करें। तार्किकों की उग्र सन्धि से दूर ही रहें। कविता के मधुर सौरभ को उससे नष्ट होने से बचाते रहें। अभ्यास के लिए कोई नया पद्य लिखें, तो महाकवियों की शैली को सदा ध्यान में रखें।"[2]

भूले हुए साहित्य-पथिकों को उन्नित मार्ग दिखाने की इस शैली ने द्विवेदीजी की गद्य-रचनाओं को एक उपदेशक या शिक्षक की कृति का बाना पहना दिया है। परन्तु, उनकी आलोचनात्मक शैली सर्वत्र इतनी ही सरल एवं शिक्षाप्रद नहीं है। विषय के गाम्भीर्य के अनुरूप शैली को भी गम्भीर बना डालने की कला में द्विवेदीजी कुशल थे। यथा :

"कर्त्तव्य-ज्ञान न होने अथवा कर्त्तव्य-कर्म का सम्पादन न करने से मनुष्य को अनेक दु ख और कष्ट सहने पड़ते है। देश, समाज और साहित्य का ह्रास और हीनता भी प्राय: कर्त्तव्य-कर्म से पराङ्मुख होने का ही फल है। कर्त्तव्य का पालन न करने से शरीर और आत्मा तक को नाना प्रकार की व्याधियों और जरा-मरण आदि दुखों से अभिभूत होना पड़ता है।"[3] परन्तु, आलोचनात्मक शैली के रूप में द्विवेदीजी की

---

१. कमलेश्वरप्रसाद भट्ट : 'हिन्दी के प्रतिनिधि आलोचकों की गद्यशैलियाँ, पृ० ३४।

२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० ३५।

३. आचार्य महवीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० ३६।

प्रतिनिधि शैली सरल एवं प्रवाहमयी भाषा की ही है। द्विवेदीजी की आलोचनात्मक शैली का यही प्रमुख रूप कहा जा सकता है।

आचार्य द्विवेदीजी की गद्यशैली का एक अन्य रूप भावात्मक भी है। भावावेश के सच्चे हृदयोद्‌गार इसी शैली मे प्रकट किये जाते हैं। द्विवेदीजी से पूर्व **ठाकुर जगमोहन सिंह** एवं **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** प्रभृति ने इस शैली का सुन्दर प्रयोग किया था। मन की भावुकता को मार्मिक शैली में प्रस्तुत करने की कला में द्विवेदीजी को सफलता मिली है। **डॉ० उदयभानु सिंह** ने लिखा है :

"इष्ट-मित्रों की मृत्यु पर शोकोद्‌गार, मर्मस्पर्शी परिस्थितियों में आत्मनिवेदन, 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ' आदि में हृदय की मार्मिक अनुभूतियों के अभिव्यंजन की शैली भावात्मक है। इस प्रकार की रचनाओं में कटुता, जटिलता, शिथिलता, पुनरुक्ति, अनौचित्य, ग्राम्यता, आडम्बर-प्रदर्शन, असम्बद्धता आदि दोषों से हीन प्रसन्न, गम्भीर, मधुर, कोमल और कान्त पदावली में हृदय का सजीव चित्र अंकित किया गया है।"[1]
उदाहरणार्थ, मार्मिक भावप्रवणता का एक अवतरण है :

"कूपमण्डूक भारत तुम कबतक अन्धकार में पड़े रहोगे? प्रकाश में आने के लिए तुम्हारे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही नहीं जागरित होती? पक्षहीन पक्षी की तरह क्यों तुम्हें अपने पिंजड़े से बाहर निकलने का साहस नही होता? क्या तुम्हें अपने पुराने दिनों की कभी याद नही आती?"[2]

प्रस्तुत अवतरण में द्विवेदीजी ने प्रश्नवाचक वाक्यों के सटीक प्रयोग द्वारा देश-दशा की मार्मिक व्याख्या की है, जिसके अन्तराल से उनकी भावप्रधान शैली छलक रही है। कई स्थानों पर द्विवेदीजी ने अलंकार-योजना द्वारा भावात्मकता को सहारा दिया है। जैसे :

"सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नही रखती, तो वह रूपवती भिखारिणी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। अपनी माॅ को असहाय, निरुपाय और निर्धन दशा मे छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है, उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय तो कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तम्ब ही कर सकता है।"[3]

इस प्रकार, भावप्रधान शैली भी द्विवेदीजी की एक प्रतिनिधि शैली कही जा सकती है। गम्भीर-से-गम्भीर एवं साधारण-से-साधारण विषय की विवेचना के प्रसंग

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० २६२।

२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'साहित्य-समुच्चय', पृ० ६७।

३. 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के कानपुर-अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष के पद से दिया गया भाषण', पृ० १९।

में किसी मार्मिक अवसर के आते ही द्विवेदीजी की भावुकता इस शैली के रूप में मुखर हो गई है।

परन्तु, गम्भीर विषयों के विवेचन-क्रम में द्विवेदीजी ने जिस शैलीं का विन्यास किया है, उसमे आलोचनात्मक या व्यंग्यात्मक शैली का चुटीलापन एवं शिक्षाभाव नही है तथा भावात्मक शैली जैसी भावुकता के भी दर्शन उसमें नही होते। सरल वाक्य, सुबोध शब्द एवं प्रतिपादन की स्पष्ट प्रणाली के होते दुए भी कई अनेक गद्य-ग्रन्थ एवं रचनाओं से यह ध्वनि निकलती है कि वे गम्भीर विषय की विवेचना से सम्पन्न है। द्विवेदीजी की इस गद्यशैली को हम विवेचनात्मक या वर्णनात्मक या गवेषणात्मक शैली कह सकते हैं। इसे ही कतिपय विद्वानों ने विचारात्मक शैली की सज्ञा भी दी है। ऐसी विचारात्मक शैली का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

"कवि को देश और काल की अवस्था का पूरा ज्ञान होना चाहिए। वह मनोविज्ञन-वेत्ता हो और मनुष्य के चरित्र का उसने अच्छी तरह अध्ययन भी किया हो। सबसे अच्छी कविता वह है, जिसमें जीवन की सार्थकता के उपाय और उसके उद्देश्य मनोहारणी भाषा में बतलाये जाते हैं, मनुष्य को अच्छी शिक्षा दी जाती है, उसे उन्नति का मार्ग दिखाया जाता है।"[1]

इस प्रकार, हम देखते हैं कि द्विवेदीजी की गद्यकृतियों में शैलियों के अनेक भेद-प्रभेद मिलते है। इनमें आलोचनात्मक, व्यंग्यात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक इत्यादि शैलियों की चर्चा अनेक विद्वानों ने की है। द्विवेदीजी की गद्य-रचनाओं [illegible] से अध्ययन करनेवाले विद्वानों ने उनकी प्रश्नवाचक, संलापात्मक, वक्तृतात्मक, मूर्त्तिमत्तात्मक, व्यासात्मक इत्यादि अनेक शैलियों का सन्धान किया है। परन्तु, जो शैली उनकी प्रतिनिधि शैली दीख पड़ती है, उसका महत्त्व गद्य-रचना की दृष्टि से है और वह शैली है – सार्वजनिक गद्यशैली। सरल, सरस एवं बोधगम्य भाषा में अपनी पत्रिका 'सरस्वती' के पाठकों के मनोनुकूल सामग्री प्रस्तुत करने के क्रम में द्विवेदीजी ने प्रधानतः इस सार्वजनिक शैली का ही परिपालन किया है। **डॉ० जेकब पी० जॉर्ज** ने लिखा है :

"सन् १९०३ से १९२१ ई० के अठारह वर्षो के अथक परिश्रम के फलस्वरूप हिन्दी के सार्वजनिक गद्य को एक परिनिष्ठित रूप देने में, उसमें उचित व्यवस्था जाने में द्विवेदीजी नितान्त सफल हुए।"[2]

पत्रकारिता का अप्रतिम आदर्श उपस्थित करने, हिन्दी-भाषा को जन-जन में प्रचारित करने, हिन्दी को विविध विषयों से सम्पन्न करने एवं सरस-सरल शैली को

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० १।

२. डॉ० जेकब पी० जॉर्ज : 'आधुनिक हिन्दी-गद्य और गद्यकार', पृ० १५५।

प्रवाहित करने की दिशा में द्विवेदीजी को सार्वजनिक गद्यशैली ही सर्वाधिक उपयुक्त दीख पड़ी। उनकी इस शैली ने हिन्दी को उन्नति की वर्त्तमान अवस्था तक पहुँचने में सहायता की है। द्विवेदीजी की सार्वजनिक सुबोध गद्यशैली का हिन्दी-जगत् सर्वदा ऋणी रहेगा।

निबन्ध-कला :

इतना तो सभी जानते हैं कि निबन्ध एक गद्य-रचना है, जिसमें किसी विषय या विषयांश पर विचार-विमर्श रहता है। निबन्ध के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए उसके जन्मदाता **मौतेन** के कथन को ध्यान में रखना चाहिए : '**इट इज माइसेल्फ आइ पारट्रे**'। अपने निबन्धों को उसने काव्य के समान अभिव्यक्ति का माध्यम स्वीकार किया है। सामान्यतः, 'निबन्ध शब्द का प्रयोग उस लघु या मर्यादित दीर्घ आकार की गद्यकृति के लिए होता है, जिसमें अनवस्थिति के साथ-ही-साथ निबन्धकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उसकी निजी भाषाशैली में होती है' कहकर **हडसन** ने एवं 'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिगत विशेषता हो'[१] कहकर **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने भी निबन्धों में व्यक्तित्व की महत्ता को स्वीकार किया है। **बाबू गुलाबराय** के शब्दों में :

"निबन्ध उस गद्य-रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन, एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"[२] स्पष्ट है कि निबन्धकार में भी निबन्ध के इन लक्षणों के अनुरूप स्वच्छन्दता, सरलता, आडम्बरहीनता तथा घनिष्ठता और आत्मीयता के साथ उसके वैयक्तिक आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण के प्रकाशन की क्षमता होनी चाहिए। इस भाँति निबन्धकार समाज का भाष्यकार और आलोचक भी होता है, अतएव समाजिक परिवेश का जैसा स्पष्ट प्रभाव निबन्धो पर दीख पड़ता है, वैसा अन्य विधाओं पर। नहीं इसका कारण यही होता है कि निबन्धकार से पाठक का सीधा सम्बन्ध रहता है। जो निबन्धकार पत्रिकाओं के माध्यम से भावाभिव्यक्ति करते है, पाठको के साथ उनका और भी अधिक प्रत्यक्ष तादात्म्य रहता है। निबन्ध व्यक्ति की मानसिक चेतना और भावात्मक अनुभूति का लिखित रूप होने के कारण अपने अनेक रूपों मे हमारे सामने लाया जाता है और इस क्रम मे वह केवल तथ्यों का आकलन नही, अपितु सरल शैली मे अभिव्यक्त लेखक का निजी दृष्टिकोण है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर **डॉ० कन्हैयालाल सहल** ने निबन्ध को परिभाषित करते हुए लिखा है :

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृ० ५५९।

२. श्रीगुलाबराय : 'काव्य के रूप', पृ० २२७।

"निबन्ध सरल शैली में अभिव्यक्त किया हुआ लेखक का निजी दृष्टिकोण है, जिसमें आकारलघुता के साथ-साथ गद्य की कलात्मकता के दर्शन होते है।"[१]

श्रीजयनाथ नलिन ने भी स्वीकार किया है : "निबन्ध स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।"[२] हिन्दी-साहित्य मे निबन्ध-लेखन का सूत्रपात भारतेन्दु-युग मे हुआ। स्वयं **भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, बालमुकुन्द गुप्त** प्रभृति ने निबन्ध-लेखन की दिशा में प्रशंसनीय समर्थ उपलब्धियों को सामने रखा। भारतेन्दु की निबन्ध-कला किसी विशेष नीति से सीमित नही थी। इसलिए, विषय एवं शैली की दृष्टि से भी उनके निबन्धों की कोई सीमारेखा नही है। उन्होंने ऐतिहासिक, गवेषणात्मक, चारित्रिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, यात्रा-सम्बन्धी, हास्यव्यग्यात्मक, आत्मकथात्मक आदि सभी प्रकार के निबन्ध लिखे। उनके सम-साम्यिक अन्य निबन्धकारों की भी यही प्रवृत्ति रही। भारतेन्दु-युग के निबन्धो मे व्याप्त जिन्दादिली एवं सजीवता ही उस युग की सर्वप्रमुख विशेषता थी। अन्यथा, हिन्दी के आधुनिक काल के इस प्रथम चरण में निबन्धकारों का क्षेत्र-विस्तार नही हो पाया था एवं भाषाशैली-सम्बन्धी न्यूनताएँ तो थी ही। **श्रीजनार्दनस्वरूप अग्रवाल** ने ठीक ही लिखा है :

"इन लेखकों के समय में हिन्दी-गद्य प्रायः अपनी शैशवावस्था में ही था। अतः, जो कुछ भी इन्होंने उल्टा-सीधा लिखा, वही बहुत है—उसी से गद्य-साहित्य की, निबन्ध-साहित्य की नही, श्रीवृद्धि तथा उन्नति हुई। .... हाँ, इन लोगों की कृतियो से हिन्दी-गद्य का मार्ग अवश्य प्रशस्त हो गया और आगे बननेवाले निबन्ध-प्रासाद के लिए क्षेत्र प्रस्तुत होकर उसकी नींव रखने का भी समुचित आयोजन हो गया।"[३]

हिन्दी मे सही अर्थों में जीवन के प्रत्येक पक्ष को उद्घाटित करनेवाले निबन्ध-साहित्य का श्रीगणेश बीसवीं शताब्दी में 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ हुआ। इस बात को कई लेखकों ने स्वीकार किया है। जैसे, **श्री के० बी० जिन्दल** ने लिखा है : 'Saraswati heralded the birth of the essey in Hindi Literature'[४]

डॉ० श्रीकृष्णलाल ने भी इसी बात को स्वीकार किया है : "निबन्धों के विकास का प्रथम काल 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के प्रकाशन से प्रारम्भ होता है, जब हिन्दी-

१. डॉ० कन्हैयालाल सहल : 'निबन्ध का स्वरूप-लक्षण', 'साहित्य-सन्देश', निबन्ध-अंक, अगस्त, १९६७ ई०, पृ० ४७।

२. श्रीजयनाथ नलिन : 'हिन्दी-निबन्धकार', पृ० १०।

३. श्रीजनार्दनस्वरूप अग्रवाल : 'हिन्दी में निबन्ध-साहित्य', पृ० २९।

४. K. B. Jindal : A History of Hindi Literature, p. 250।

साहित्य के क्षितिज-विस्तार के साथ-ही-साथ लेखकों ने जीवन के सभी अंगों पर दृष्टि डालना प्रारम्भ किया।''[१]

अभिनव शोधों के आधार पर द्विवेदी-युग की हिन्दी में निबन्धों का प्रारम्भ माननेवाले इन निष्कर्षों को अधिक मान्यता नही दी जा सकती है। ये मत सर्वमान्य नहीं, अतिवादी हैं। फिर भी, इनमें द्विवेदी-युग की महत्ता एवं हिन्दी-निबन्ध के विकास में इस युग के निबन्धकारों के विशिष्ट योग की झलक अवश्य मिलती है। हिन्दी में निबन्धों का प्रारम्भ भारतेन्दु-युग मे ही हुआ था, परन्तु द्विवेदी-युग में विषय-विस्तार, भाषा-परिष्कार एवं शैली-शृंगार की दृष्टि से उसका पर्याप्त संस्कार हुआ। अपने युग की समस्त साहित्यिक गतिविधियों के नेता **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने गद्य-लेखन की इस विधा को भी ग्रहण किया था। उनके सम्पूर्ण कृतित्व की भाँति निबन्धो का भी अपना युगीन औचित्य था। उनके समय तक इस क्षेत्र मे विचार और भाषा की जो अव्यवस्था व्याप्त थी, उससे द्विवेदीजी अपरिचित नहीं थे। उनके समय तक के अधिकांश निबन्धकार निबन्ध-लेखन को कलम की कारीगरी मानकर उसे चमत्कारिता और भावात्मकता से इतना बोझिल बना देते थे कि प्रतिपाद्य विषय का अपेक्षित रूप में प्रतिपादन तक नहीं हो पाता था। इन निबन्धो की भाषा में तत्कालीन अराजकतापूर्ण वातावरण की सभी कमियाँ थीं। **ब्रह्मदत्त शर्मा** ने लिखा है :

''भाषा की इस अव्यावहारिकता, अशुद्धता और शिथिलता को दूर करने के लिए द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' पत्रिका को अपना साधन बनाया, जिसके द्वारा उन्होंने अनेक लेखकों को साहित्य-रचना की ओर प्रेरित और प्रोत्साहित किया। इन लेखकों की कृतियो की आलोचना अथवा संशोधन करके तथा स्वयं भिन्न-भिन्न विषयों पर मौलिक एवं अनूदित विचारप्रधान निबन्धों की रचना करके इन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया।''[२]

भारतेन्दु-युग तक हिन्दी-निबन्ध का जहाँतक विकास हुआ था, द्विवेदी-युग में उसी की प्रोन्नति हुई। भाषा-सस्कार एवं विषय-विस्तार की दृष्टि से द्विवेदीजी ने निबन्धों के इस विकास-क्रम को सहारा दिया। विषयों की विविधता, दृष्टि की सूक्ष्मता, बौद्धिकता एवं सुसम्बद्धता आदि उनके निबन्धो की विशेषताएँ हैं। उनका निबन्ध-साहित्य मुख्य रूप से 'सरस्वती' के माध्यम से सामने आया है और इसी में प्रकाशित उनके निबन्धो का धीरे-धीरे पुस्तकाकार प्रकाशन भी होता गया है। द्विवेदीजी के प्रारम्भिक निबन्धो तथा आलोचना में अद्भुत समन्वय हुआ है। नैषध-चरितचर्चा', 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना' आदि उनकी प्रारम्भिक कृतियाँ उद्देश्य की दृष्टि से आलोचना होती हुई भी आकार की दृष्टि से निबन्ध ही हैं।

१. डॉ० कृष्णलाल : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० ३४९।

२. श्रीब्रह्मदत्त शर्मा : 'हिन्दी-साहित्य में निबन्ध', पृ० ७८।

द्विवेदीजी की निबन्ध-कला का पूर्ण विकास 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में ही हुआ। सम्पादक होने के नाते उन्हे न केवल सम्पादकीय टिप्पणियाँ लिखनी पड़ती थी, अपितु, रचनाओ की कमी के कारण स्वयं विभिन्न विषयों पर निबन्धात्मक सामग्री भी तैयार करनी पड़ती थी। दीर्घकाल तक 'सरस्वती' मे प्रकाशित होनेवाले उनके इस निबन्ध-साहित्य का अधिकांश पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। परन्तु, उनके कई निबन्ध अब भी अप्रकाशित पाण्डुलिपि की शक्ल में काशी-स्थित नागरी-प्रचारिणी सभा के सग्रहालय में सुरक्षित हैं। द्विवेदीजी के प्रकाशित निवन्ध-सग्रह निम्नांकित हैं :

१. प्राचीन पण्डित और कवि (सन् १९१८ ई०)
२. वनिता-विलास (सन् १९१९ ई०)
३. कालिदास और उनकी कविता (सन् १९२० ई०)
४. रसज्ञरंजन (सन् १९२० ई०
५. अतीत स्मृति (सन् १९२४ ई०)
६. सुकवि-संकीर्त्तन (सन् १९२४ ई०)
७. अद्भुत आलाप (सन् १९२४ ई०)
८. महिलामोद (सन् १९२५ ई०)
९. आख्यायिका-सप्तक (सन् १९२७ ई०)
१०. आध्यात्मिकी (सन् १९२७ ई०)
११. विदेशी विद्वान् (सन् १९२७ ई०)
१२. आलोचनांजलि (सन् १९२८ ई०)
१३. दृश्य-दर्शन (सन् १९२८ ई०)
१४. दृश्य-लेखांजलि (सन् १९२८ ई०)
१५. वैचित्र्य-चित्रण (सन् १९२८ ई०)
१६. साहित्य-सन्दर्भ (सन् १९२८ ई०)
१७. पुरावृत्त (सन् १९२९ ई०)
१८. पुरावृत्त-प्रसंग (सन् १९२९ ई०)
१९. प्राचीन चिह्न (सन् १९२९ ई०)
२०. साहित्यालाप (सन् १९२९ ई०)
२१. चरितचर्या (सन् १९३० ई०)
२२. वाग्विलास (सन् १९३० ई०)
२३. विज्ञानवार्त्ता (सन् १९३० ई०)
२४. समालोचना-समुच्चय (सन् १९३० ई०)
२५. साहित्य-सीकर (सन् १९३० ई०)

२६. विचार-विमर्श (सन् १९३० ई०)
२७. संकलन (सन् १९३१ ई०)
२८. चरित्र-चित्रण (सन् १९३४ ई०)
२९. [illegible] (सन् १९३५ ई०)

इन विविध विषयों के मौलिक निबन्धों के संकलनों के साथ-ही-साथ द्विवेजी ने अँगरेजी के निबन्धकार फ्रांसिस बेकन के ३६ निबन्धो का अनुवाद 'बेकन-विचार-रत्नावली, (सन् १९०१ ई०) में प्रस्तुत किया है।

आचार्य द्विवेदीजी के निबन्धों के सभी संकलनों में विषयों का आश्चर्यजनक वैविध्य दीख पड़ता है। इतने अधिक विषयों पर एक ही समय में लेखनी दौड़ानेवाला निबन्धकार हिन्दी मे दूसरा नही हुआ। हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करना ही इस प्रसंग में उनका लक्ष्य रहा। **डॉ० ओंकारनाथ शर्मा** ने ठीक ही लिखा है :

"निबन्ध-रचना के मूल में द्विवेदीजी की एकाधिक विचार-दृष्टियाँ रही हैं। सबसे प्रमुख दृष्टि है—हिन्दी के ज्ञान-भाण्डार को समृद्ध करना।... द्विवेदीजी ने स्वदेशी और विदेशी भाषाओं से, विशेषकर प्राचीन संस्कृत-परिपाटी से ज्ञान के विविध तथ्यों का आकलन किया। इसे हम संग्रहात्मक दृष्टि कह सकते है।"[1]

इसी संग्रहात्मक दृष्टि ने द्विवेदीजी के निबन्धों को कई नये-पुराने विषयो से सम्पन्न कर दिया है। विविधता के कारण उनके निबन्धों के विषय की दृष्टि से अनेक विभाजन हो सकते हैं; जैसे साहित्यिक, चरित्रप्रधान, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक एवं पुरातत्त्व-विषयक, आध्यात्मिक आदि। द्विवेदीजी के निबन्ध-संकलनों में इन सभी विषयों का अलग-अलग अथवा मिश्रित समाहार मिलता है।

(क) **साहित्यिक निबन्ध** : इस कोटि में द्विवेदीजी के उन सभी निबन्धों की गणना की जा सकती है, जिनमें हिन्दी-भाषा, उसके साहित्य एवं साहित्यकारों की साहित्यिक विवेचना मिलती है। ऐसे निबन्धों को भी पुस्तक-समीक्षा, टिप्पणी, शास्त्रीय विवेचन, कवि-लेखक-परिचय इत्यादि अनेक उपभेदों में विभक्त किया जा सकता है। 'प्राचीन कवि और पण्डित', 'कालिदास और उनकी कविता', 'रसज्ञरंजन', 'सुकवि-संकीर्त्तन', 'कोविद-कीर्त्तन', 'आलोचनांजलि', 'साहित्य-सन्दर्भ', 'साहित्यालाप', 'वाग्विलास' 'समालोचना-समुच्चय' जैसे निबन्धों के संग्रहों में संकलित सभी निबन्ध साहित्यिक ही है। कतिपय अन्य संकलनों में भी ऐसे निबन्ध मिलते हैं। आचार्य द्विवेदीजी के साहित्यिक निबन्ध उनके गहन अध्ययन, मनन एवं चिन्तन के फल हैं। ऐसे अधिकांश निबन्धों की शैली विवेचनात्मक एवं समीक्षात्मक है। तत्कालीन साहित्यिक पृष्ठभूमि में आचार्य महोदय के इन निबन्धों का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

---

१. डॉ० ओंकारनाथ शर्मा : 'हिन्दी-निबन्ध का विकास', पृ० १५०।

(ख) चरितप्रधान निबन्ध : प्राचीन काल के तथा आधुनिक युग के विभिन्न क्षेत्रों में विशिष्ट ख्याति अर्जित करनेवाले महापुरुषों की जीवनियाँ द्विवेदीजी ने इस कोटि के निबन्धों में प्रस्तुत की हैं। **गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, भीष्म पितामह, होमर, मिर्जा गालिब, महारानी दुर्गावती** आदि अनेक देशी-विदेशी, पौराणिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक, धार्मिक चरित्रों को द्विवेदीजी ने निबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया है। 'कोविद-कीर्त्तन', 'विदेशी विद्वान्' 'चरितचर्या', 'चरित्रचित्रण' जैसे निबन्ध-संग्रहों में द्विवेदीजी के ऐसे ही जीवन-चरितात्मक निबन्ध हैं। इन निबन्धों की रचना के पीछे उनका उद्देश्य चरित्र-निर्माण, ज्ञानवृद्धि तथा साहित्यिक भाण्डार को भरना था।

(ग) वैज्ञानिक निबन्ध : वैज्ञानिक अनुसन्धानों एवं ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी अन्य विषयों पर भी द्विवेदीजी ने लेखनी चलाई है। उनके समय में इन विषयों में हिन्दी का साहित्य बड़ा दरिद्र था। इसे वे समझ गये थे, इस कारण उन्होंने न केवल वैज्ञानिक पुस्तकों के प्रकाशन पर बल दिया, अपितु स्वयं भी वैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखे। उनके 'अद्भुत अलाप', 'वैचित्र्य-चित्रण', 'विज्ञानवार्त्ता' और 'प्रबन्ध-पुष्पांजलि' शीर्षक निबन्ध-संकलन ज्ञान-विज्ञान की ऐसी ही जानकारी से भरे हुए हैं। रसायन, भौतिकी, जीवविज्ञान, भूगोल, अनुसन्धान, शिल्प, यान्त्रिकी इत्यादि विषयों पर द्विवेदीजी ने निबन्ध इनमें प्रस्तुत किये हैं। ऐसे निबन्ध द्विवेदीजी ने जनरुचि के परिष्कार, सामान्य ज्ञान के विस्तार एवं हिन्दी के भाण्डार को भरने के उद्देश्य से ही लिखे थे।[१]

(घ) ऐतिहासिक एवं पुरातत्त्व-विषयक निबन्ध : द्विवेदीजी की निबन्ध-प्रतिभा का एक बहुत बड़ा अंश भारतीय प्राचीन इतिहास एवं पुरात्तत्व-सम्बन्धी अनुसन्धानों के नये-पुराने परिणामों को हिन्दीभाषी जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने में व्यय हुआ है। 'अतीत स्मृति', 'पुरावृत्त-प्रसंग', 'प्राचीन चिह्न' जैसे निबन्ध-संकलनों में द्विवेदीजी के भारत के प्राचीन इतिहास से सम्बद्ध निबन्धों का ही संग्रह हुआ है। निबन्धकार ने ऐसे निबन्धों में अपने देश के गौरवपूर्ण अतीत और उसके खण्डहरों में झाँकने का अथक प्रयास किया है। ये निबन्ध द्विवेदीजी के परम्परा और इतिहास-प्रेम के परिचायक हैं।

(ङ) आध्यात्मिक निबन्ध : इस कोटि के निबन्ध द्विवेदीजी के आध्यात्मिक चिन्तन, भक्ति-भावना और जिज्ञासा-वृत्ति के पोषक हैं। 'आध्यात्मिकी' नामक निबन्ध-संग्रह में उनके ऐसे धर्म और दर्शन-सम्बन्धी निबन्धों का संकलन हुआ है। इन निबन्धों में आत्मा, परमात्मा, ज्ञान, मुक्ति, निरीश्वरवाद जैसे विषयों पर द्विवेदीजी ने लेखनी उठाई है।

---

१. "हिन्दी में वैज्ञानिक पुस्तकों के प्रकाशन की बड़ी जरूरत है। जो लोग आजकल के उपन्यास तथा वर्त्तमान समय की रुचि के अनुसार और पुस्तकें प्रकाशित करके मालामाल हो रहे हैं, वे चाहें तो वैज्ञानिक पुस्तकें भी लिखाकर पढ़नेवालों की रुचि धीरे-धीरे वैसी पुस्तकों की तरफ आकृष्ट कर सकते हैं।"—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी : 'विचार-विमर्श', पृ० ६२।

(च) अन्य विषयों पर आधृत निबन्ध : द्विवेदीजी ने जीवनचरित, साहित्य, इतिहास, विज्ञान और अध्यात्म के साथ ही कई राजनीतिक, सामाजिक एवं महिलोपयोगी विषयों पर भी निबन्ध लिखे थे। उनके महिलोपयोगी कई निबन्धों का संकलन 'वनिताविलास' एवं 'महिलामोद' में हुआ है। इसी तरह सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक विषयों पर भी उन्होंने प्रचुर मात्रा में निबन्ध लिखे है। 'लेखांजलि', 'दृश्य-दर्शन', 'आख्यापिका-सप्तक', 'सकलन' और 'विचार-विमर्श' जैसे निबन्ध-संग्रहो मे इन विविध विषयों पर आधृत द्विवेदीजी के निबन्ध भरे हुए है।

स्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने विषय के वैविध्य से ओतप्रोत निबन्ध द्वारा हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि की। परन्तु, संख्या में अधिक तथा विषयों की दृष्टि से विविधतापूर्ण होते हुए भी उनकी निबन्ध-कला में निबन्ध की सच्ची आत्मा कहीं दृष्टिगत नहीं होती। द्विवेदीजी के अधिकांश निबन्धो का स्वरूप टिप्पणी जैसे है और उनमें व्यक्तिपरकता का पुट नहीं है। इसे ही लक्ष्य कर **श्रीहंसकुमार तिवारी** ने लिखा है :

"सच तो यह है कि चाहे जिस कारण से भी हो, द्विवेदीजी की निबन्धकारिता का स्वतन्त्र रूप से विकास न हो सका। उनकी छोटी-छोटी रचनाएँ संख्या में लगभग ढाई सौ हैं. मगर सब टिप्पणी जैसी हैं। उनका आरम्भ कथ्य-कथन से होता है और आदि से उपसंहार तक सग्राहक वृत्ति का परिचय मिलता है।"[१]

उनकी रचनाओं में, निबन्धों की इस कमी को अनेक आलोचकों ने लक्ष्य किया है। वास्तव में, उनकी शताधिक रचनाएँ टिप्पणियों जैसी हैं, उनमें निबन्ध के गुण सही अर्थों में नहीं हैं। 'दण्डदेव का आत्माभिमान' आदि गिनी-चुनी निबन्धात्मक रचनाओं में ही रोचकता, स्वतन्त्रता और आत्मीयता मिलती है, अन्यथा द्विवेदीजी के अधिकांश निबन्धों की आत्मा के दर्शन नहीं होते हैं। **श्रीजयनाथ नलिन** के शब्दों में :

"द्विवेदीजी यथार्थ मे आचार्य थे। आचार्य पथ-प्रदर्शन करता है, अन्यों को निर्माण-कार्य में लगाता है, स्वय चाहे अधिक निर्माण न कर सके। इनके अधिकतर लेख निबन्ध की कोटि में नही आते। जानकारी की बातें उनमें मिलेंगी, निबन्धात्मकता नहीं। ... इनके निबन्धों मे भाषा की शुद्धता, सार्थकता, शब्दों की प्रयोगपटुता और वाक्यों की सधी हुई प्रणाली तो मिलेगी, पर सूक्ष्म पर्यवेक्षण और विचारों का विश्लेषण नही। स्वाधीन चिन्तन, अनभिभूत विचार, अछूती भावना—जो निबन्ध की आन्तरिक स्वरूप-शक्तियाँ है, इनके निबन्धों में कम ही मिलती है। उनमें संग्रहबोध की विविधता, जानकारी की बहुलता और पत्रकारिता की सूचना-सम्पन्नता ही अधिक है।"[२]

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु : 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास', पृ० १०४, भाग १३।

२. श्रीजयनाथ नलिन : 'हिन्दी-निबन्धकार', पृ० १०२-१०३।

इस प्रकार, **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** के निबन्धों में परिगणित होनेवाली लगभग सभी रचनाओं में निबन्ध-कला के लक्षण सम्पूर्णता में नही मिलते हैं। विविध निबन्ध संग्रहों तथा 'सरस्वती' के स्तम्भों में प्रकाशित इन निबन्धों के चार विधागत रूप परिलक्षित होते है। इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी के कई लेख अपने आकार, गरिमा एवं लक्षणों की दृष्टि से निबन्ध की सीमा मे आ जाते हैं। ऐसे निबन्धों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। द्विवेदीजी के लेखों का पहला रूप तो निबन्धात्मक ही है और दूसरे रूप-वर्ग में वे भूमिकाएँ है, जो विविध पुस्तकों या ग्रन्थकारों के विषय में परिचय-स्वरूप लिखी गई हैं। रघुवश, किरातार्जुनीय, स्वाधीनता आदि पुस्तकों की भूमिकाएँ निबन्ध की इसी कोटि में हैं। द्विवेदीजी के निबन्धों का तीसरा रूपगत वर्ग उन विविध-विषयाश्रित टिप्पणियो का है, जिन्हें सम्पादकीय, विविध विषय, विनोद और आख्यायिका आदि स्तम्भों के रूप में द्विवेदीजी ने नियमित रूप से 'सरस्वती' में लिखा था। द्विवेदीजी के ऐसे टिप्पणी जैसे निबन्धों की संख्या ही सर्वाधिक अधिक है। उनके निबन्धों का चौथा एवं अन्तिम रूप भाषणों का है। इस कोटि में उनके द्वारा अभिनन्दन-समारोह, द्विवेदी-मेला एवं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन में स्वागताध्यक्ष-पद से दिये गये उनके भाषणों की गणना होती है। निबन्धो के रूप में संकलित एवं ख्यात इन सभी रूप-विधाओं मे द्विवेदीजी की विविध विषयों से सम्बद्ध पैठ तथा सरल भाषाशैली के दर्शन होते है। आकार में छोटी तथा निबन्धोचित गुणों मे किंचित् पृथक् होती हुई भी उनकी इन रचनाओं का विषय-वैविध्य के कारण अपना एक विशेष माधुर्य एवं महत्त्व है। **प्रेमनारायण टण्डन** ने लिखा है :

"द्विवेदीजी की तुलना विषय की दृष्टि से उनके समय के लेखको में किसी से नही की जा सकती। द्विवेदीजी का उद्देश्य साहित्यकता और मौलिक चिन्तन का आदर्श जनता के सामने उपस्थित करना ही नहीं था, वे यह भी चाहते थे कि उवयोगी और मनोरंजक विषय जनता तक पहुँचा दिये जायँ, जिससे हिन्दी के प्रति उनके हृदय में कुछ प्रेम हो और साथ ही उनका ज्ञान भी बढ़े। दूसरे शब्दों में, वे उद्देश्य-विशेष से जनता की रुचि तथा उसके स्टैण्डर्ड का ध्यान रखते हुए निबन्ध लिखते थे।"[१]

इसी कारण, उनकी निबन्ध-कला का प्रामाणिक ढंग से सुनियोजित विकास नहीं हुआ, अपितु उनके निबन्धो की इस विषयगत विविधता एवं सम्पन्नता का सहज अनुमान 'सरस्वती' में प्रकाशित उनके निबन्धों की किसी भी सूची को देखकर लगाया जा सकता है। उनके निबन्धों के प्रकाशन-क्रम को ध्यान में रखकर बनाई गई

---

१. श्रीप्रेमनारायण टण्डन : 'द्विवेदी-मीमांसा', पृ० १२८।

'सरस्वती' की प्रारम्भिक पाँच वर्षों में ही उनके प्रकाशित निबन्धों की इस सूची पर गौर करने से यह तथ्य और भी स्पष्ट होता है :

१. पण्डित वामन शिवराम आप्टे : जनवरी, १९०१ ई० ।
२. आत्मा : जनवरी, १९०१ ई० ।
३. ज्ञान : फरवरी, १९०१ ई० ।
४. नायिकाभेद : जून, १९०१ ई० ।
५. निरीश्वरवाद : अक्टूबर, १९०१ ई० ।
६. कवि-कर्त्तव्य : जुलाई, १९०१ ई० ।
७. भवभूति—१ : जनवरी, १९०२ ई० ।
८. हिन्दी-साहित्य : जनवरी, १९०२ ई० ।
९. भवभूति—२ : फरवरी, १९०२ ई० ।
१०. विद्यावल्लभ की विद्वत्ता : मार्च, १९०२ ई० ।
११. प्राचीन कविता : मार्च, १९०२ ई० ।
१२. प्राचीन कविता का अर्वाचीन अवतार : मार्च, १९०२ ई० ।
१३. काकतालीय घटना : अप्रैल, १९०२ ई० ।
१४. प्रतिभा : सितम्बर, १९०२ ई० ।
१५. खड़ी बोली का पद्य : सितम्बर, १९०२ ई० ।
१६. विष्णुशास्त्री चिपलूणकर : जनवरी, १९०३ ई० ।
१७. महात्मा रामकृष्ण परमहंस : फरवरी-मार्च, १९०३ ई० ।
१८. बन्दरों का पुल : फरवरी-मार्च, १९०३ ई० ।
१९. तारीख से दिन निकालने की रीति : फरवरी-मार्च, १९०३ ई० ।
२०. अध्यापक वसु के अद्भुत आविष्कार : फरवरी-मार्च, १९०३ ई० ।
२१. हिन्दी-भाषा और इसका साहित्य : फरवरी-मार्च, १९०३ ई० ।
२२. कुतुबमीनार : फरवरी-मार्च, १९०३ ई० ।
२३. सौभाग्यवती रखमाबाई : फरवरी-मार्च, १९०३ ई० ।
२४. स्त्रियों में संगीत-विद्या : फरवरी-मार्च, १९०३ ई० ।
२५. कोपर्निकस, गैलीलियो और न्यूटन : अप्रैल, १९०३ ई० ।
२६. तीन देवता : अप्रैल, १९०३ ई० ।
२७. हिसाब लगाने का यन्त्र : अप्रैल, १९०३ ई० ।
२८. जलमानुस : अप्रैल, १९०३ ई० ।
२९. मंगल : अप्रैल, १९०३ ई० ।
३०. लोलिम्बराज : अप्रैल, १९०३ ई० ।
३१. लेडीजेनग्रे : अप्रैल, १९०३ ई० ।

३२. पूना का अनाथबालिकाश्रम : अप्रैल, १९०३ ई० ।
३३. महामहोपाध्याय पण्डित दुर्गाप्रसाद : अप्रैल, १९०३ ई० ।
३४. जलचिकित्सा : अप्रैल, १९०३ ई० ।
३५. विमान और उड़नेवाला मनुष्य : अप्रैल, १९०३ ई० ।
३६. आँख की फोटोग्राफी : अप्रैल, १९०३ ई० ।
३७. कुमारी कारनेलिया सोहराबजी : अप्रैल, १९०३ ई० ।
३८. गुजरातियों में स्त्रीशिक्षा : अप्रैल, १९०३ ई० ।
३९. श्रीमान महाराज कमलानन्दसिंह : जून, १९०३ ई० ।
४०. जलचिकित्सा : रोगों के कारण : जून, १९०३ ई० ।
४१. रानी दुर्गावती : जून, १९०३ ई० ।
४२. वंगकवि माइकेल मधुसूदन दत्त : जून, १९०३ ई० ।
४३. जलचिकित्सा : जून, १९०३ ई० ।
४४. मनुष्येतर जीवों का अन्तर्ज्ञान : जून, १९०३ ई० ।
४५. जलगोमिनी पैरगाडी : जून, १९०३ ई० ।
४६. कुमार एफ० पी० काब : जून, १९०३ ई० ।
४७. वंगकवि माइकेल मधुसूदन दत्त : अगस्त, १९०३ ई० ।
४८. दीप्ति-मण्डल और सूर्याभास : अगस्त, १९०३ ई० ।
४९. जलचिकित्सा : अगस्त, १९०३ ई० ।
५०. श्रीमती निर्मला बाला सोम : अगस्त, १९०३ ई० ।
५१. गर्भ के आकार और परिमाण : अगस्त, १९०३ ई० ।
५२. पृथ्वी : सितम्बर, १९०३ ई० ।
५३. देशव्यापक भाषा—१ : सितम्बर, १९०३ ई० ।
५४. कर और सिरमयी मछली : अक्टूबर, १९०३ ई० ।
५५. देशव्यापक भाषा—२ : अक्टूबर, १९०३ ई० ।
५६. माणिक : अक्टूबर, १९०३ ई० ।
५७. महारानी माइसोर की कन्या-पाठशाला : अक्टूबर, १९०३ ई० ।
५८. प्राणघातक माला : नवम्बर, १९०३ ई० ।
५९. ध्वनि : नवम्बर, १९०३ ई० ।
६०. देशव्यापक भाषा (देवनागरी-लिपि के गुण) : नवम्बर, १९०३ ई० ।
६१. कविता : नवम्बर, १९०३ ई० ।
६२. प्रसूति : नवम्बर, १९०३ ई० ।
६३. ऐर्ना कैथेराइन लायड : नवम्बर, १९०३ ई० ।
६४. सिंहावलोकन : दिसम्बर, १९०३ ई० ।

६५. कीट-ग्राहक पौधा : दिसम्बर, १९०३ ई० ।
६६. कुतुबमीनार : दिसम्बर, १९०३ ई० ।
६७. रजोदर्शन : दिसम्बर, १९०३ ई० ।
६८. झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई—१ : जनवरी : १९०४ ई० ।
६९. यलोरा के गुफामन्दिर—१ : जनवरी, १९०४ ई० ।
७०. अक्षांश और रेखांश : जनवरी, १९०४ ई० ।
७१. सम्पादकों के लिए स्कूल : जनवरी, १९०४ ई० ।
७२. चतुर्भाषी : फरवरी, १९०४ ई० ।
७३. लाल बलदेव सिंह : फरवरी, १९०४ ई० ।
७४. झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई—२ : फरवरी, १९०४ ई० ।
७५. यलोरा के गुफा मन्दिर—२ : फरवरी, १९०४ ई० ।
७६. पुराना सती-संवाद : फरवरी, १९०४ ई० ।
७७. अफरीका के रूर्वाकार जंगली मनुष्य : फरवरी, १९०४ ई० ।
७८. कोरिया और कोरिया-नरेश : मार्च, १९०४ ई० ।
७९. फारसी कवि हाफिज : मार्च, १९०४ ई० ।
८०. आर्यो का आदिम स्थान : मार्च, १९०४ ई० ।
८१. मुंशी नानकचन्द, सी० आई० ई० : अप्रैल, १९०४ ई० ।
८२. रेडियम : अप्रैल, १९०४ ई० ।
८३. शिवाजी और अँगरेज : अप्रैल, १९०४ ई० ।
८४. राजा रामपाल सिंह : मई, १९०४ ई० ।
८५. पेरू का प्राचीन सूर्य-मन्दिर : मई, १९०४ ई० ।
८६. औरंगाबाद, दौलतबाद और रोजा : मई १९०४ ई० ।
८७. औरंगाबाद और मुल्लाजी : मई, १९०४ ई० ।
८८. श्रीगुरु हरिकृष्णजी : जून, १९०४ ई० ।
८९. जनरल कुरोपाटकिन : जुलाई, १९०४ ई० ।
९०. मारकुईस इटो : जुलाई, १९०४ ई० ।
९१. पूर्वी अफ्रीका की दो-चार बातें : जुलाई, १९०४ ई० ।
९२. तिब्बत : अगस्त, १९०४ ई० ।
९३. सामुद्रिक सुरंग और समुद्रोदरगामिनी डोंगी : अगस्त, १९०४ ई० ।
९४. ईश्वर—१ : अगस्त, १९०४ ई० ।
९५. राजा भगवानदास : सितम्बर, १९०४ ई० ।
९६. ईश्वर—२ : सितम्बर, १९०४ ई० ।
९७. यमलोक का जीवन : सितम्बर, १९०४ ई० ।

९८. श्रीरंगपत्तन : सितम्बर, १९०४ ई० ।
९९. सुखदेव मिश्र : अक्टूबर, १९०४ ई० ।
१००. ईश्वर—३ : अक्टूबर, १९०४ ई० ।
१०१. प्रसिद्ध पहलवान सैण्डो : अक्टूबर, १९०४ ई० ।
१०२. पठानी सिक्कों पर नागरी : नवम्बर, १९०४ ई० ।
१०३. चिदम्बर : नवम्बर, १९०४ ई० ।
१०४. ईश्वर—४ : नवम्बर, १९०४ ई० ।
१०५. राजकुमारी हिमांगिनी : नवम्बर, १९०४ ई० ।
१०६. सांवत्सरिक सिंहावलोकन : दिसम्बर, १९०४ ई० ।
१०७. सभा और सरस्वती : दिसम्बर, १९०४ ई० ।
१०८. महामहोपाध्याय पं० आदित्यराम भट्टाचार्य : दिसम्बर, १९०४ ई० ।
१०९. महाराज मानसिंह : दिसम्बर, १९०४ ई० ।
११०. ग्वालियर : दिसम्बर, १९०४ ई० ।

'सरस्वती' में सन् १९०० से १९०४ ई० तक की पाँच वर्षों की अवधि में प्रकाशित द्विवेदीजी के निबन्धों की इस विस्तृत सूची से उनकी विषय-विविधता एवं यान्त्रिक गति से लिखने की प्रतिभा का अनुमान लगाया जा सकता है। इस सूची के निबन्धों के अतिरिक्त 'विविध विषय' इत्यादि स्तम्भों की टिप्पणियाँ भी द्विवेजी ने लिखी थी। द्विवेदीजी के इन निबन्धो का आकार एक जैसा नही था। कुछ निबन्ध तो पुस्तकाकार थे और कुछ का विस्तार एक पन्ने में भी मुश्किल से सुरक्षित होता था। डेढ़ से दो पन्नों में फैले उनके निबन्धो की संख्या ही सबसे अधिक है । आकार की दृष्टि से द्विवेदीजी के निबन्धों की लघुता का एक ही उदाहरण पर्याप्त है। नवम्बर १९१३ ई० की 'सरस्वती में प्रकाशित उनका एक निबन्ध है—'कालिदास की जन्म-भूमि'। यह निबन्ध कुल इतना ही है :

"इलियड नामक महाकाव्य का कर्त्ता होमर ग्रीस देश का निवासी था। उस समय ग्रीस अनेक छोटी-छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। होमर बेचारा अन्धा था। वह अपने काव्य के पद गा-गाकर सभी रियासतों मे भीख माँगता भटकता फिरता था। उस समय तो उसकी कदर न हुई। पर जब वह मर गया और उसके काव्य का महत्त्व लोगों ने समझा, तब एक साथ ही कितनी ही रियासते उसकी जन्मभूमि होने का दावा करने लगी। प्रमाण माँगा गया, तो सभी ने उत्तर दिया—क्या तुम नहीं जानते, होमर ने इसी रियासत में अपनी कविता गाई थी ? तब तो उसे किसी ने न अपनाया। बेचारा होमर माँगता-खाता ही मर गया। पर पीछे से उसके माँगने और खाने और भटकते फिरने पर जन्मभूमि बनने का गर्व। कालिदास को माँगना-खाना

तो नही पड़ा। उनको जन्मभूमि बनने का दावा भारत के कई प्रान्त अवश्य कर रहे हैं। कुछ लोग कहते हैं—वे काश्मीरी थे, कुछ कहते हैं—दक्षिणी थे, कुछ कहते हैं—बगाली थे। अब इतने दिनों बाद बंगाल के नवद्वीपवालो ने कालिदास को अपनाने के लिए बड़ा जोर लगाया है। वहाँ के पण्डित कहते हैं, कालिदास की जन्म भूमि नवद्वीप ही है। उन लोगों ने इस विषय में बड़े-बड़े व्याख्यान, अभी हाल में दे डाले हैं, कालिदास के नाम पर सभाएँ बना डाली हैं, पुस्तकालय भी उन्होंने उनके नाम पर खोल दिये हैं। अभी और न मालूम, वे लोग क्या-क्या करनेवाले हैं। नदियावालों के इस उत्साह और उत्तेजना को देखकर कलकत्ते के संस्कृत-कॉलेज के अध्यक्ष डॉ० **सतीशचन्द्र विद्याभूषण** का आसन डोल उठा है। वे कालिदास की असली जन्मभूमि का पता लगाने के लिए मालवे की तरफ पधारे है। देखें, उनकी खोज का क्या फल होता है। कालिदास नवद्वीप के ठहरते है या मालवे के, या और कहीं के।''[१]

इसी आकार की अथवा इससे कुछ ही बड़ी रचनाओं का सर्जन द्विवेदीजी ने बहुत बड़ी संख्या मे की है। इन्ही में विषयों की विविधता तथा अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन भी किया। उन्होने अधिकांशतः ऐसे विषयों पर लेखनी उठाई, जिनमें न पाटकों की रुचि थी और न समझने की अभ्यस्त बुद्धि ही। यदि इनकी भाषाशैली द्विवेदीजी गम्भीर और क्लिष्ट रखते, तो इन विषयों का हिन्दी-क्षेत्र में विस्तार नहीं होता। भारतेन्दु-युग से चली आ रही हलकी-फुलकी एवं व्यंग्यप्रधान मनोरंजक शैली के सामने इन अछूने विषयों पर लिखे गये गम्भीर निबन्धों को पाठक भला क्यो ग्रहण करते। इसलिए, द्विवेदीजी ने अपनी इस प्रकार की रचनाओं में अत्यन्त सरल भाषा को अपनाया और विषय का इस प्रकार प्रतिपादन किया कि वह अत्यन्त सरल एवं बोधगम्य हो गया। यह बोधगम्यता इस सीमा तक सामान्य स्तर की है, सहसा इन निबन्धों को साहित्येतिहास के द्विवेदीजी जैसे युगनिर्माता की रचना मान लेने में हिचक होती है। परन्तु, द्विवेदीजी ने विषय-प्रतिपादन की यही प्रणाली इन निबन्धों में अपनाई थी। फ्रांसिस बेकन के अँगरेजी निबन्धों का 'बेकन-विचार-रत्नावली' के अन्तर्गत उन्होंने गाम्भीर्य से ओत-प्रोत शैली का प्रयोग कर उसकी अलोकप्रियता तथा दुरूहता का दृश्य देख लिया था। उस पुस्तक की भाषाशैली की उच्चस्तरीयता बेकन के भाव-गाम्भीर्य के साथ गठबन्धन कर साधारण योग्यता के पाठकों की समझ से बाहर हो गई थी। द्विवेदीजी ने इस तथ्य को लक्ष्य कर अपनी परवर्ती रचनाएँ अत्यन्त साफ और चलती हुई भाषाशैली में लिखीं। क्योंकि, वे जानते थे कि हम जिन लोगों के लिए लिख रहे हैं, उनमें साहित्यिक उच्च स्तर के गम्भीर भावों एवं शैली को समझने की क्षमता नहीं है। **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने द्विवेदीजी की निबन्ध-कला की इसी शैलीगत सुबोधता को लक्ष्य कर लिखा है :

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श' पृ० ९२-९३।

"द्विवेदीजी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है। एक-एक सीधी बात कुछ हेर-फेर, कहीं-कहीं केवल शब्दों के ही,के साथ पाँच-छः तरह से पाँच-छः वाक्यो मे कही हुई मिलती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनकी गद्यशैली निर्धारित करती है। उनके लेखो मे छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग अधिक मिलता है। नपे-तुले वाक्यो को कई बार शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ कहने का ढग वही है, जो वाद या संवाद मे बहुत शान्त होकर समझाने-बुझाने के काम में लाया जाता है।"[१]

द्विवेदीजी इस प्रकार लिखते थे—बात को इस प्रकार स्पष्ट करते थे, मानों पाठकों की बुद्धि पर उनको विश्वास न हो। यही कारण है कि वे अपनी बात बार-बार दुहराते जाते थे। पुनरुक्ति की यह प्रवृत्ति कई आलोचको एवं पाठको को खटकी है, परन्तु द्विवेदीजी की इस सरल शैली का अपना युगीन महत्त्व है। 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता', शीर्षक उनके प्रसिद्ध निबन्ध मे यह पुनरुक्तिपूर्ण सुबोध शैली स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, यथा :

"लक्ष्मण ने भ्रातृस्नेह के कारण बड़े भाई का साथ दिया। उन्होंने राजपाट छोड़ कर अपना शरीर रामचन्द्र को अर्पण किया, यह बहुत बड़ी बात थी। पर उर्मिला ने उससे भी बढ़कर आत्मोत्सर्ग किया। उसने अपनी आत्मा की अपेक्षा भी अधिक प्यारा अपना पति राम-जानकी के लिए दे डाला और यह आत्मसुखोत्सर्ग उसने तब किया, जब उसे ब्याह कर आये हुए कुछ ही समय हुआ था। उसने सांसारिक सुख के सबसे अच्छे, अंश से हाथ धो डाला।" एक शिक्षक जिस प्रकार अपने शिष्यों को विषय को बार-बार दुहराकर बोध कराता है, द्विवेदीजी ने भी सामान्य समझ में आने योग्य भाषाशैली का इसी प्रकार जमकर व्यवहार किया है। अपनी पत्रिका के माध्यम से उन्होंने जिस सरल-सुबोध-सरस शैली का उपस्थापन किया है, **डॉ० जैकब पी० जॉर्ज** ने 'सार्वजनिक गद्यशैली के नाम से अभिहित किया है।'[२] विषयों की अनेकरूपता, हिन्दी-भाषा की उन्नति एवं प्रचार तथा 'सरस्वती' की गौरव-स्थापना के उद्देश्य से द्विवेदीजी ने अपने निबन्धों में अनेक शैलियों का प्रयोग किया है। **डॉ० उदयभानु सिंह** के अनुसार :

"शैली की दृष्टि से द्विवेदीजी के निबन्धों की तीन प्रमुख कोटियाँ है—वर्णनात्मक भावात्मक और चिन्तनात्मक। यों तो, द्विवेदीजी के सभी निबन्धो का उद्देश्य निश्चित विचारों का प्रचार करना रहा है और उन सभी विचारों का न्यूनाधिक

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० ९५।

२. डॉ० जेकब पी० जॉर्ज : 'आधुनिक हिन्दी-गद्य और गद्यकार', पृ० १३७।

सन्निवेश भी हुआ है, तथापि वर्णनात्मकता, भावात्मकता या चिन्तनात्मकता की प्रधानता के आधार पर ही इन तीन विशिष्ट कोटियों की भावना की गई है।"[१]

सार्वजनिक गद्यशैली की सरलता एव स्पष्टता की पृष्ठभूमि में द्विवेदीजी के निबन्धों की स्पष्ट रूप से वर्णनात्मक, भावात्मक और चिन्तनात्मक तीन ही शैलियाँ प्रस्तुत हुई हैं।

वर्णनात्मक निबन्धों की सीमा में द्विवेदीजी के उन निबन्धों की गणना हो सकती है, जिनकी रचना भूगोल, चरित्र, यात्रा, इतिहास, विज्ञान और उत्सवों आदि का सामान्य परिचय पाठकों को देने के लिए निबन्धकार ने की थी। ऐसे ही निबन्धों की शैली परिचयात्मक अथवा विवेचनात्मक भी कही जाती है । इस शैली के निबन्ध विविध-विषयक, ज्ञानवर्द्धक एवं भाषा-संगठन की दृष्टि से सरल हैं। कतिपय आलोचकों ने इस शैली की विषय-स्पष्टीकरण-पद्धति के आधार पर इसे 'व्यासशैली' की संज्ञा भी दी है। विषय के आधार पर इस शैली के वस्तु-वर्णनात्मक, कथात्मक, आत्मकथात्मक तथा चरितात्मक इत्यादि कई उपभेद भी माने जा सकते हैं। इन विविध कोटियो में अपने वर्णनात्मक या विवेचनात्मक लेखन का परिचय द्विवेदीजी ने दिया है। वस्तु-वर्णन से सम्बद्ध द्विवेदीजी के निबन्ध ऐतिहासिक अथवा आधुनिक स्थानों, इमारतो आदि पर लिखे गये है। ऐमे निबन्धो के उदाहरण-स्वरूप 'ग्वालियर',[२] 'साँची के पुराने स्तूप',[३] 'बौद्धकालीन भारत के विश्वविद्यालय',[४] 'देवगढ़ की पुरानी इमारत'[५] आदि की चर्चा की जा सकती हैं । इस कोटि के निबन्धों में वर्णन की शैली किसी 'गाइड' जैसी अपनाई गई है । यथा :

"वर्त्तमान बगदाद टाइगरित नदी के दोनों किनारों पर घना बसा हुआ है। उसकी आबादी कोई डेढ़ लाख होगी। गलियाँ तंग और बेकायदे है । कूडा उठाने और गन्दा पानी निकलने का ठीक प्रबन्ध नहीं। आबोहवा अच्छी नहीं, पीने का पानी नदी से आता है। शहर के आसपास पेड़ नहीं।"[६]

स्पष्ट है कि इस कोटि के ऐतिहासिक वस्तुपरक समस्त निबन्धों में छोटे-छोटे वाक्यों एवं सरल भाषा का प्रयोग हुआ है। द्विवेदीजी के वर्णनात्मक निबन्धों का एक अन्य प्रभेद कथात्मक है। कहानी कहने जैसी सरलता तो द्विवेदीजी के सभी निबन्धों

१. डॉ० डदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० १५० ।
२. 'सरस्वती', दिसम्बर, १९०४ ई०, पृ० ४२५—४३५ ।
३. 'सरस्वती', जून, १९०६, पृ० २१७—२२७ ।
४. 'सरस्वती', जनवरी, १९०९ ई०, पृ० १५—३० ।
५. 'सरस्वती' अप्रैल, १९०९ ई०, पृ० १७९—१८३ ।
६. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० १४१-१४२ ।

में मिलती है, परन्तु उनके कुछ निबन्धों का सारा परिवेश ही कथात्मक है। वस्तु के सुगठित विन्यास तथा चरित्राकन आदि के अभाव मे इन्हे कथा की सज्ञा नही दी जा सकती है। इन्हें कथात्मक वर्णन-शैली का निबन्ध ही कहा जा सकता है। 'अद्भुत इन्द्रजाल', 'व्योम-विहरण'[२] 'हस का दुस्तर दूतकार्य'[३] जैसे निबन्ध इसी कोटि के हैं। द्विवेदीजी के कथात्मक वर्णनप्रधान निबन्धों की भाषा भी बड़ी सरल है। एक अवतरण उनके नल का दुस्तर दूतकार्य' शीर्षक निबन्ध से उदाहरणस्वरूप द्रष्टव्य है :

"नल एक दिन मृगया के लिए राजधानी से बाहर निकला। आखेट करते-करते वह अकेला दूर तक अरण्य में निकल गया। वहाँ उसने एक बड़ा मनोहर जलाशय देखा। उसके तट पर एक अलौकिक रूप-रंगधारी हस थक जाने के कारण आँखें बन्द किये बैठा आराम कर रहा था। नल की दृष्टि उसपर पड़ी। चुपचाप दबे पैरों जाकर राजा ने उसे पकड़ लिया।"[४]

सरल भाषा, वर्णनात्मकता और कथा-प्रवाह के आधार पर ही द्विवेदीजी के इस कोटि के निबन्धों को कथात्मक निबन्ध कहा गया है। इस शैली से मिलता-जुलता उनके निबन्धों का एक अन्य रूप आत्मकथात्मक भी है। कई विद्वानों ने द्विवेदीजी के सम्पूर्ण निबन्ध-साहित्य में मात्र इसी कोटि के निबन्धो को व्यक्तिपरक आत्मीय गुणों से किंचित् सम्पन्न माना है। यथा श्रीहसकुमार तिवारी ने लिखा है :

"'दण्डदेव का आत्माभिमान' आदि कुछ गिनी-चुनी रचनाएँ है, जिनमें रोचकता, स्वतन्त्र भावना और आत्मीयता का स्पर्श है, लेकिन नाममात्र का।"[५]

'दण्डदेव का आत्माभिमान',[६] 'मेरी जीवनरेखा'[७] प्रभृति कतिपय आत्मकथात्मक निबन्धों में संक्षिप्त चरित का उल्लेख मिलता है। चरित-वर्णन की दृष्टि से द्विवेदीजी के निबन्धों की वर्णनात्मक शैली का एक अन्य प्रभेद उनके चरितात्मक निबन्धों का ही है। 'प्राचीन पण्डित और कवि', 'विदेशी विद्वान्', 'चरित-चर्या, 'चरित्र-चित्रण' आदि

१. 'सरस्वती' जनवरी, १९०६ ई०, पृ० २६—३१।
२. 'सरस्वती', अगस्त, १९०५ ई०, पृ० ३१५—३१८।
३. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० ९८—१२६।
४. उपरिवत्, पृ० ७८।
५. डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु : 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास', भाग १३, पृ० १०२।
६. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'लेखांजलि' में संकलित।
७. सन् १९३३ ई० में नागरी-प्रचारिणी सभा के अभिनन्दन-समारोह का आत्मनिवेदन।

संग्रहों में इसी कोटि के निबन्ध संकलित हैं। 'रानी दुर्गावती',[१] 'श्रीगुरु हरिकृष्णजी'[२] 'सुखदेवमिश्र',[३] 'हर्बर्ट स्पेंसर',[४] 'बौद्धाचार्य शीलभद्र'[५] और 'राजा सर टी० माधवराव'[६] जैसे निबन्ध जीवनचरितात्मक ही है। अपने पाठकों के समक्ष आदर्श चरित्रों की उपस्थापना करने के उद्देश्य से द्विवेदीजी ने इस कोटि के निबन्धों की रचना की थी। इन जीवनचरितात्मक निबन्धो की सरलता एवं स्पष्टता भी दर्शनीय है :

"श्रीयुत विनायक कोण्डदेव ओक मराठी के नामी लेखक थे। उनका जन्म एक गरीब के घर हुआ। लड़कपन में ही माता-पिता मर गये। अपनी मातृभाषा मराठी और बहुत थोड़ी अँगरेजी पढ़कर वे ८) मासिक वेतन पर एक देहाती मदरसे के मुदर्रिस नियत हुए। कुछ समय बाद उनकी बदली बम्बई को हुई। वहाँ भी वे मुदर्रिसी ही पर आये, पर समय-समय पर आपकी तरक्की अवश्य होती रही।"[७] स्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने अपने वस्तुवर्णनात्मक, कथात्मक, आत्मकथात्मक, चरितात्मक आदि सभी कोटियो के निबन्धों में विवरणात्मक या परिचयात्मक निबन्धों के उपयुक्त सरल एवं स्पष्ट भाषाशैली का ही उपयोग किया है। इनकी शैली के सम्बन्ध में बाबू गुलाब राय ने लिखा है :

"परिचयात्मक निबन्ध पाठकों को विविध विषयों और विशेषकर प्राचीन साहित्य एवं इतिहास की जानकारी कराने के उद्देश्य से लिखे गये है। इनसे ज्ञानवर्द्धन के साथ-साथ पाठकों का मनोरंजन भी होता है। इन निबन्धों की शैली अध्यापकों या उपदेशकों की जैसी व्यासशैली है, जिसमे एक ही बात विभिन्न रंग-रूप में कई बार कही गई है।"[८] परिचयात्मक अथवा वर्णनात्मक निबन्धों में शैलीगत एक विशिष्ट प्रवाह परिलक्षित होता है। छोटे-छोटे वाक्यों में बँधी हुई, प्रचलित शब्दावली से गठित एवं प्रभावित करनेवाली शैली में लिखित इन निबन्धों का उद्देश्य ज्ञानवर्द्धन, प्रचार एवं मनोरंजन था। अतएव, जनसाधारण से सम्बन्ध रखनेवाले इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इनकी शैली को सरल बनाये रखने की दिशा में द्विवेदीजी सतत

१. 'सरस्वती', जून, १९०३ ई०, पृ० २१५ २१८।
२. 'सरस्वती', जून, १९०४ ई०, पृ० १८१-१८२।
३. 'सरस्वती', अक्टूबर, १९०४ ई०, पृ० ३२७—३३७।
४. 'सरस्वती', जुलाई, १९०६ ई०, पृ० २५५—२६२।
५. 'सरस्वती', अप्रल, १९०८ ई०, पृ० १७४- १७६।
६. 'सरस्वती', अगस्त, १९०९ ई०, पृ० ३३२—३३७।
७. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० २७३।
८. श्रीगुलाब राय : 'हिन्दी-गद्य का विकास और प्रमुख शैलीकार', पृ० १०२

सचेष्ट रहे हैं। इन निबन्धो की भाषा को भी उन्होंने सुबोध एवं सरल बनाये रखा है। स्वयं सस्कृत के प्रति आकृष्ट होते हुए भी उन्होने इन निबन्धों में उर्दू-फारसी, अँगरेजी तथा सामान्य व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों का उपयोग किया है। इस प्रकार, द्विवेदीजी की वर्णनात्मक अथवा परिचयात्मक निबन्ध-शैली को सरल, बोधगम्य तथा व्यावहारिक शैली के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की दूसरी उल्लेखनीय शैली भावात्मक है। शैली की दृष्टि से भावात्मक कहे जानेवाले निबन्धों में लेखक ने मधुमती कविकल्पना या गम्भीर विचार-मस्तिष्क का सहारा लिये बिना ही वर्ण्य विषय के प्रति अपने भावों को अबाध गति से व्यक्त किया है। इन भावात्मक निबन्धो की प्रधान विशेषता यह है कि उच्च कोटि के कवित्व और मननीय वस्तु का अभाव होते हुए भी इनमे किसी अंश तक काव्य की रमणीयता और विचारों की अभिव्यक्ति एक साथ हुई है। गद्य मे काव्य का आनन्द प्रदान करनेवाले द्विवेदीजी के इन या भावप्रधान निबन्धों की शैली इतनी अधिक काव्यमय है कि कई आलोचको ने इन निबन्धों की चर्चा 'गद्यकाव्य' के रूप मे की है और इन्हीं के आधार पर द्विवेदीजी को 'गद्यकाव्यकार' माना है। **श्रीहरिमोहन-लाल श्रीवास्तव** ने लिखा है :

"व्रजभाषा-काव्य की परिधि से हिन्दी-कविता को निकालकर एवं उसे खड़ी बोली का प्रचलित रूप देकर भी आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने गद्यकाव्य के सृजन में सीधा योग दिया...। उनके समकालीन **सरदार पूर्णसिंह, बाबू ब्रजनन्दन सहाय** प्रभृति लेखकों के गद्य में काव्य का जो उन्माद बिखर रहा है, उसके श्रेय का एक बड़ा अंश निस्सन्देह द्विवेदीजी की है। द्विवेदीजी स्वयं गद्यकाव्य-रचना की ओर ऐसा ध्यान नहीं दे सके। इसका कारण उनकी वह शिक्षात्मक पद्धति रही, जिसके अवलम्बन ने उन्हें युगप्रवर्त्तक की गौरवपूर्ण पदवी से विभूषित किया। गद्यकाव्यात्मक अभिव्यंजना की चिन्तित विरलता के होते हुए भी आचार्य द्विवेदीजी की रचना-शैली उससे शून्य नहीं, और वह जो कुछ है, वह गद्यकाव्य के क्षेत्र में अपने विशिष्ट स्थान का अधिकारी है।"[१]

भाव में सौन्दर्य, लय एवं कोमलता के सुन्दर सम्मिश्रण का एक आदर्श उदाहरण द्रष्टव्य है :

"कविता-रूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों, दोनों तरफ फलों-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों, प्राकृतिक दृश्यों की नई-नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों। दुनिया में आजतक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं, उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है।"[२]

---

१. हरिमोहनलाल श्रीवास्तव : 'गद्यकाव्य के उन्नायक', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० ७२-७३।

२. आचार्य महावीर प्रसादद्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० ५८।

ऐसे गद्यांशों को देखने से ऐसा लगता है कि द्विवेदीजी केवल मस्तिष्क ही सजग नहीं रखते थे, कभी-कभी हृदय के प्रवाह को बिना रुकावट बहने देते थे। अनेक स्थलों पर उनकी हार्दिक अनुभूतियाँ झलकती है। जहाँ कल्पना का सहारा लेते हुए वर्ण्य विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं, वहाँ उनका गद्य अलंकृत एवं काव्यात्मक हो गया है। यथा :

"कविता-कामिनी कमकमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भवन के सदृश है, जिसमें पथ-रूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न जिनका मोल ताजमहल में लगे हुए रत्नों से भी कहीं अधिक है। ईंट और पत्थर की इमारत पर जल का असर पड़ता है, आँधी-तूफान से उसे हानि पहुँचती है, बिजली गिरने से वह नष्ट-भ्रष्ट हो सकती है,पर इस अलौकिक भवन पर इनमे से किसी का कुछ भी जोर नही चलता।"[1]

द्विवेदीजी के भाव-प्रधान निबन्ध छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा परस्पर गुम्फित है। इनमे शब्द और वाक्य चंचल शिशुओं की भाँति एक-दूसरे को ढकेलते हुए आगे बढ़ते है। इनकी भाषा में अँगरेजी, उर्दू आदि के शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर मिलता है। कुल मिलाकर, शैली की दृष्टि से द्विवेदीजी के भावात्मक निबन्ध अपने-आप में गद्यकाव्य जैसे सौन्दर्य एवं माधुर्य का वहन करते हैं।

शैली की दृष्टि से द्विवेदीजी के निबन्धों का तीसरा भेद चिन्तनात्मक अथवा विचारात्मक है। व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक एवं तार्किक शैली के सभी गुणों का संवहन करनेवाली इस शैली के निबन्धों का द्विवेदीजी के निबन्ध-साहित्य मे अपना विशिष्ट स्थान है। ऐसे निबन्ध उनके पूर्व बहुत कम लिखे गये थे। इस कोटि के निबन्धों के उपयुक्त गम्भीर एवं तार्किक वातावरण द्विवेदीजी ने निर्मित किया, जिसकी भित्ति पर परवर्त्ती काल में **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** ने ज्ञान-गम्भीर और तर्क-कर्कश निबन्धों की रचना की। विविध साहित्य एवं साहित्येतर विषयों का गम्भीर अध्ययन और मनन करके द्विवेदीजी ने उनका प्रस्तुतीकरण विचारात्मक अथवा चिन्तनप्रधान शैली मे किया। उनकी इस शैली के निबन्ध 'साहित्य-सीकर', 'साहित्य-सन्दर्भ', 'रसज्ञरंजन', 'समालोचना-समुच्चय', 'लेखांजलि', 'आलोचनांजलि' आदि पुस्तकों में सकलित है। अँगरेजी के निबन्धकार **फ्रांसिस बेकन** के ३६ निबन्धों का 'बेकन-विचार-रत्नावली' के रूप में अनुवाद भी उन्होंने इसी शैली में किया था। साहित्य, मनोविज्ञान, अध्यात्म आदि विषयो पर लिखे गए उनके निबन्धों की शैली यही है। इस शैली मे उन्होंने विशुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग ही किया है, उर्दू के तद्भव शब्दों तक का नहीं के बराबर प्रयोग किया है। इस शैली में किंचित् क्लिष्टता भी परिलक्षित होती है। इस शैली में यह क्लिष्टता भाषाजन्य ही है। द्विवेदीजी की प्रस्तुत पंक्तियों पर दृष्टिपात कर उनकी निबन्धगत चिन्तनात्मक शैली का परिचय पाया जा सकता है :

---

१. 'साहित्य-सन्देश', अक्टूबर, १९६४ ई०, पृ० १५९ पर उद्धृत।

"कवियों के लिए जैसे शब्दों, वृत्तों और स्वाभाविक वर्णनों की आवश्यकता होती है, वैसे ही चित्रकारों के लिए चित्रित वस्तु के स्वाभाविक रंग-रूप की तद्वत् प्रतिकृति निर्मित करने की आवश्यकता होती है। फिर भी, चित्रकार और कवि के लिए ये गुण गौण है। इन दोनो का ही मुख्य गुण तो है भावव्यंजकता। जिसमे भावव्यंजना जितनी ही अधिक होती है, वह अपनी कला का उतना ही अधिक ज्ञाता समझा जाता है।"[1]

इस अवतरण द्वारा द्विवेदीजी की तार्किकता तथा गम्भीर विवेचन-पद्धति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। गाम्भीर्य और गूढता का यही वातावरण द्विवेदीजी ने अपने साहित्येतर विषयों पर निर्मित विचारप्रधान निबन्धों मे भी तैयार किया है। यथा :

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग है। उनका सम्बन्ध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इसमें विकारों की परस्पर सलग्नता इतनी है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिमाण समझ लेना बहुत ही कठिन है।"[2]

स्पष्ट ही, इस शैली की भाषा अधिक सरल नहीं है और इसमें गम्भीर भावाभिव्यंजन के कारण कुछ दुरूहता भी आ गई है। द्विवेदीजी की चिन्तनात्मक अथवा विचारात्मक शैली से सम्पन्न निबन्धों की यही प्रमुख प्रवृत्तियाँ है।

विषय और शैली की दृष्टि से बहुविध विस्तृत द्विवेदीजी के निबन्ध-कौशल में सार्वजनिक गद्य एवं विषयबहुलता का प्राधान्य दीख पड़ता है। इन निबन्धो में अधिकांश यद्यपि टिप्पणी की कोटि में परिगणित होने योग्य है, तथापि युगीन सन्दर्भ में इनके महत्त्व से मुँह नही मोड़ा जा सकता। पत्रकारिता, अलोचना, भाषा-सुधार एवं हिन्दी के क्षेत्र-विस्तार के समान तत्कालीन समस्याओं के समाधान मे लीन रहने के कारण ही द्विवेदीजी अपने निबन्धों के सही और कलात्मक विन्यास की ओर ध्यान नहीं दे सके। जो व्यक्ति आजीवन औरो की विविध विधागत रचनाओ का रूप-निर्माण करता रहा, उसके लिए अपनी निजी कृतियों को कलात्मक निखार देना कोई कठिन कार्य नही था। परन्तु, द्विवेदीजी की साहित्य-साधना का प्रमुख उद्देश्य सामयिक समस्याओं का हल ही था, इसलिए वे शुद्ध कलात्मकता को अधिक महत्त्व नही दे सके। युग की आवश्यकताओं की ओर उन्मुख होने के कारण ही द्विवेदीजी ने व्यक्तित्व-अनुप्राणित निबन्धों की रचना नहीं के बराबर की। **डॉ० उदयभानु सिंह** ने लिखा है :

"द्विवेदीजी की निबन्धकारिता स्वतन्त्र रूप से विकसित नहीं हुई, यह एक सिद्ध तथ्य है। उसे आलोचक, सम्पादक, भाषासुधारक आदि ने समय-समय पर आक्रान्त कर रहा था, अतएव उसका पूर्ण विकास न हो सका। साथ ही, उस युग का पाठक उस

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'समालोचना-समुच्चय', पृ० ३१।

२. 'सरस्वती', सितम्बर, १९०२ ई०, पृ० २६६।

साधारण स्तर से ऊपर की वस्तु स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं था। निबन्ध की कलात्मकता एवं साहित्यिकता पाठक तथा निबन्धकार के सहयोग पर ही अवलम्बित है।"[१]

समसामयिक परिवेश के बन्धन के कारण एव अपने समक्ष खड़े युगान्तरकारी उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न होने के कारण आचार्य द्विवेदीजी ने निबन्ध-कला को मात्र विचारो एवं जानकारियों का सरल संवाहक बनाये रखा। उनके यही निबन्ध तत्कालीन साहित्यकारों के लिए रचनाकार्य के आदर्श थे और द्विवेदीजी उनके प्रेरणास्रोत थे।

आलोचना :

गद्य की अन्यान्य विधाओं की तरह आलोचना का प्रारम्भ भी भारतेन्दु-युग में ही हुआ। अपने प्रारम्भिक चरण मे हिन्दी-आलोचना एकमेव पत्रकारिता के साथ ही संयुक्त रही। इस अवधि मे समालोचना केवल 'पुस्तक-परिचय' अथवा 'पुस्तक-समीक्षा' के रूप मे विकसित होती रही। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबन्ध में तथा यत्र-तत्र अपने काव्य-सिद्धान्तो के प्रतिपादन में समीक्षा का बीज-वपन किया। उनके युग के अन्य समालोचको मे **पं० बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री** इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। पुस्तक-समीक्षा पर ही आधृत समालोचना-शैली का विकास इस युग में अधिक हुआ। सन् १८७७ ई० में **लाला श्रीनिवासदास** के नाटक 'संयोगिता-स्वयंवर' की समीक्षाएँ तत्कालीन पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं और उनके द्वारा ही गुणदोष-दर्शन पर आधृत समालोचना का प्रारम्भ हुआ। भारतेन्दु-युग की पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक-परीक्षा के स्वरूप का एक उदाहरण प्रस्तुत है। **श्रीदेवीप्रसाद उपाध्याय**-कृत '**सुन्दर सरोजिनी**' की समीक्षा हिन्दी-बंगवासी (१९ जून, १८९३ ई०) में इस प्रकार निकली थी :

"'**सुन्दर सरोजिनी**' अपनी चाल-ढाल की हिन्दी में पहली पुस्तक है, जानने के योग्य एवं भूगोल एव इतिहास की बाते योग्यता के साथ रखी गई है, स्थान २ की कविताएँ भी बहुत ललित हैं। इसके प्रत्येक पृष्ठ से लेखक की विद्या-बुद्धि और जानकारी का परिचय मिलता है। समूची पुस्तक ऐसी सुन्दर भाषा में लिखी गई है कि वाह-रे-वाह।"[२] समालोचना की इसी प्रशंसात्मक विधि को तत्कालीन अधिकांश आलोचकों ने अपनाया था। **बालकृष्ण भट्ट** ने प्रशंसा के साथ-साथ दोष-दर्शन की नीति भी अपनाई थी। बाद में, सन् १८९७ ई० में 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के प्रकाशनारम्भ से हिन्दी-समालोचना-साहित्य में विशेष अभिवृद्धि हुई। ज्यों-ज्यों भारतीय और

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० १५८।

२. डॉ० गोपाल राय : 'हिन्दी-कथासाहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव', पृ० ३४० पर उद्धृत।

पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तो का अध्ययन होता गया, त्यो-त्यों हिन्दी मे आलोचना-साहित्य समृद्ध होता गया। भारतेन्दु-युग में आलोचना अपनी शैशवावस्था में थी। इसमे प्राय प्रशसा और दोप-दर्शन की प्रवृत्ति के दर्शन होते है, आलोचना की प्रौढता और गम्भीरता के नही। फिर भी, आलोचना का श्रीगणेश करने की दृष्टि से भारतेन्दु-युग के महत्त्व को अस्वीकार नही किया जा सकता है। **डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र** ने लिखा है :

"भारतेन्दु-काल की समीक्षा का महत्त्व समीक्षा की प्रौढ शैली के कारण नहीं, अपितु उन तत्त्वो के कारण है, जो भावी विकास का स्वर्णिम और उज्ज्वल सन्देश लेकर आये है।"[१]

हिन्दी-आलोचना को विकसित करने और उसे सही दिशा प्रदान करने का श्रेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके समसामयिक समालोचकों को है। हिन्दी-समीक्षा के इतिहास मे द्विवेदी-युग को पुनरुत्थानवादी युग कहा जा सकता है। पुनरुत्थानवादी आवेश मे इस काल के साहित्यकारों ने अतीत के साहित्यसेवियों की रचनाओं की समीक्षा का सूत्रपात किया तथा आधुनिक रचनाओ की भी आलोचना समय समय की जाती रही। अपने युग की अन्य साहित्यिक प्रक्रियाओं की भाँति आलोचना का भी नेतृत्व द्विवेदीजी ने ही किया। सस्कृत की प्राचीन साहित्य-शास्त्रीय परम्परा एव अँगरेजी के नूतन समीक्षा-सिद्धान्त से हिन्दी-संसार को लाभान्वित करने के उद्देश्य से द्विवेदीजी ने हिन्दी-आलोचना मे इन दोनों ही आलोचना-पद्धितयों का समावेश किया। द्विवेदीजी ने स्वयं सस्कृत-काव्यों की समीक्षा की एवं अन्य प्रकार से संस्कृत के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को हिन्दी मे प्रस्तुत किया। अन्य लोगों से उन्होंने अँगरेजी के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का अनुवाद कराया। सैद्धान्तिक दृष्टि से उन्होंने हिन्दी-समीक्षा मे नीति, सुरुचि, औदात्त्य आदि की प्रतिज्ञा करके शास्त्रीयता की भूमि मे समन्वयवादी, नवीनतावादी और पुनरुत्थानवादी समीक्षा-शैलियों का बीज-वपन किया। उनकी यह सारी आलोचना-प्रणालियाँ तत्कालीन हिन्दी-आलोचना मे व्याप्त है। **डॉ० रामदरश मिश्र** के अनुसार :

"द्विवेदीजी अपने काल के प्रतिनिधि साहित्य-विचारक और आलोचक थे। अतएव, उस काल मे लक्षित होनेवाली सारी आलोचनात्मक चेष्टाएँ और उपलब्धियाँ आपकी समिक्षा-कृतियों में पाई जा सकती हैं।"[१]

समालोचक के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह सम्पादक भी हो, परन्तु जो समालोचक सम्पादक भी होते हैं, उनकी आलोचना अधिक सुगम, प्रामाणिक और सही

---

१. डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र : 'हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास', पृ० २४६।

२. डा० रामदरस मिश्र 'हिन्दी-आलोचना : स्वरूप और विकास', पृ० १५।

होती है। द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' के सम्पादक-पद पर रहते हुए अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया। इस कारण उनकी समीक्षाओं मे सम्पादकीय गाम्भीर्य तथा साहित्यनिर्माता-बुद्धि का अद्भुत योग दिखाई पड़ता है। वे अँगरेजी, सस्कृत एवं मराठी के अपने सम्पूर्ण ज्ञान का उपयुक्त आश्रय लेकर अपनी सम्पादन-कला एवं समीक्षा को अपेक्षित निखार एव प्रौढता दे पाये हैं। **डॉ० राजकिशोर कक्कड़** ने लिखा है :

"हिन्दी के आलोचकों में द्विवेदीजी का विशेष महत्त्व है। वे हिन्दी के विशाल आलोचना-भवन की सुदृढ नीव के सस्थापक हैं। परम्परागत साहित्यिक धारणाओं तथा आदर्शो की उपेक्षा करके उन्होंने ही पहले-पहल चिन्तन तथा मनन के आधार पर निजी विचारों का प्रतिपादन करके परम्परागत आलोचना की शैली तथा विषय-तत्त्व में परिवर्त्तन उपस्थित किया। यद्यपि उनकी आलोचना आज के मानदण्डों के विचार से आधुनिक नही कही जायगी, किन्तु हिन्दी के लिए वह पहली आधुनिक आलोचना थी।"[1]

इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी की समीक्षाओं का मूल प्रेरक स्रोत उनका सम्पादकीय जीवन था। 'सरस्वती' के सजग, सप्राण एवं निर्भीक सम्पादक होने के कारण द्विवेदीजी विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक गतिविधियों की समीक्षा करने तथा उनपर टिप्पणी करने के अभ्यस्त थे। आलोचना के क्षेत्र में भी उन्होंने अपनी इन्ही प्रवृत्तियों का परिचय दिया। आलोचना करते समय वे शत्रु या मित्र का भेदभाव भूल जाते थे। तत्कालीन परिस्थितियों में, साहित्यिक समालोचना में तीव्रता और सत्यता का ईमानदारी से पालन करना सरल नहीं था। फिर भी, द्विवेदीजी ने आलोचक-धर्म को न्यायाधीश के कर्म के समान निष्पक्षता-सापेक्ष मानकर निर्भयता एवं सत्यता दिखलाई। वे मानते थे कि :

"समालोचक की उपमा न्यायाधीश से दी जा सकती है। जैसे, न्यायाधीश राग-द्वेष और पूर्व-सस्कारों से दूर रहकर न्याय का काम करता है, समालोचक भी वैसा ही करता है।. . . बड़े-बड़े कवि विज्ञानवेत्ता, इतिहास-लेखक और वक्ताओं की कृतियों पर फैसला सुनाने का उसे अधिकार है।"[2]

द्विवेदीजी की आलोचना भी अधिकांशतः न्यायाधीश के फैसले के अनुसार निर्णयात्मक होती थी। यही शैली उनके युग की सम्पूर्ण आलोचना में व्याप्त है। **डॉ० रामदरश मिश्र** ने इस काल की पूरी समीक्षा निर्णयात्मक ढंग से की है : "सभी आलोचक (चाहे किसी प्रवृत्ति के रहे हों) अपनी-अपनी कसौटी पर कृतियों के गुणदोषों को कसकर उनकी

---

१. डॉ० राजकिशोर कक्कड़ : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य में आलोचना का विकास', पृ० ५८१।

२. 'सरस्वती', अप्रैल, १९११ ई०, पृ० १४३।

श्रेष्ठता या अश्रेष्ठता का निर्णय देते थे। द्विवेदीजी भी इस निर्णयात्मक वृत्ति से मुक्त नहीं है।"[१]

परन्तु, द्विवेदीजी अपनी ये समालोचनाएँ तथा टिप्पणियाँ गहन चिन्तन, सहृदयता, निर्भीकता तथा आधारपुष्टता के साथ प्रस्तुत करते थे। यही कारण है कि द्विवेदीजी की आलोचना बड़ी ठोस एवं मस्तिष्क-उद्वेलक होती थी। इस प्रसग मे उन्होने अपने युग के परिवेश से कभी स्वयं को असम्पृक्त नही किया। हिन्दी की आवश्यकताओं को समझकर ही उन्होने अपनी आलोचना को उनपर आधृत किया एव हिन्दी को उन्नतिशील बनाने के अपने लक्ष्य को पूरा किया। **डॉ० राजकिशोर कक्कड़** के **शब्दों** में :

"उनका लक्ष्य हिन्दी-साहित्य को उन्नतिशील बनाना, उसमे नई परम्पराओं को स्थापित करना, रीतिकाल की परम्परा और रूढिवादिता से काव्य तथा
को मुक्त करना तथा अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों के साथ साहित्य का सम्बन्ध स्थापित करना था।"[२] स्पष्ट है कि द्विवेदीजी का सम्पूर्ण आलोचना-साहित्य मात्र आलोचक-धर्म के निर्वाह के लिए नहीं लिखा गया था। उनके साहित्य की अपनी सोद्देश्यता एवं विधायकत्व की गरिमा थी। **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** ने लिखा है :

"द्विवेदीजी की समीक्षाएँ तथा काव्य-विवेचनाएँ केवल कर्त्तव्य-पालन के निमित्त नही होती थी। वे सोद्देश्य तथा निर्माणकारी होती थी। वे उनके द्वारा काव्यकारों का मार्गदर्शन भी करना चाहते थे। इसलिए उन्होने कठोर, मर्यादावादी तथा संयमित आलोचक का चोला धारण किया था।"[३]

द्विवेदीजी के इसी आलोचक व्यक्तित्व के आलोक में उनकी आलोचनाओं का अध्ययन सही एवं प्रामाणिक तथ्यो तक पहुंचने मे सहायक होगा। उनके सम्पूर्ण आलोचना-साहित्य को वस्तु-सगठन की दृष्टि से दो प्रमुख विभागों में विभक्त किया जा सकता है :

१. परिचयात्मक आलोचना तथा
२. सिद्धान्तमूलक आलोचना।

व्यावहारिक आलोचना के नाम पर लिखी गई द्विवेदीजी का सारा समीक्षात्मक साहित्य परिचयात्मक ही है। इस कोटि की आलोचना द्वारा द्विवेदीजी ने परम्परागत

---

१. डॉ० रामदरश मिश्र : 'हिन्दी-आलोचना : स्वरूप और विकास', पृ० १७।
२. डॉ० राजकिशोर कक्कड़ : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे आलोचना का विकास', पृ० ५८३।
३. **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** : **'द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन'**, पृ० १५९।

टीका-प्रणाली को ही परिष्कृत किया और इसी प्रसंग में उन्होंने केवल अर्थ बतलाकर, गुण-दोष दिखाकर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नही समझी। इन्होंने जिन कृतियों की आलोचनाएँ लिखी है, उनमें रचना के गुणदोष-विवेचन की अपेक्षा परिचय देने की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित होती है। अपनी यह नीति उन्होने कालिदास, श्रीहर्ष जैसे प्राचीन कवियों तथा अपने समसामयिक साहित्यकारों पर एक साथ लागू की थी। द्विवेदीजी का लक्ष्य इन ग्रन्थों का परिचय हिन्दीभाषी जनता को देकर, उनके गुण-दोष की चर्चा कर, उनके सुरुचिपूर्ण सौन्दर्य का दिग्दर्शन कराना भी था। इस प्रकार की परिचयात्मक आलोचना के अन्तर्गत द्विवेदीजी द्वारा लिखित 'नैषधचरितचर्चा', 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' और 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना' जैसे सभी पुस्तकों तथा 'सरस्वती' के 'पुस्तक-परिचय' स्तम्भ मे की गई तत्कालीन साहित्य की समीक्षाओं की गणना हो सकती है। परिचयात्मक आलोचना में अधिकाशतः गूढ चिन्तन एवं गाम्भीर्यपूर्ण विश्लेषण के लिए स्थान नही होता है। द्विवेदीजी ने भी अपनी परिचयात्मक आलोचनाओं के लिए सरल भाषा एवं आदेशात्मक, व्यंग्यात्मक अथवा निर्णयात्मक शैली का ही विनियोग प्रस्तुत किया है। आलोचना की यह परिचयात्मक शैली ही तद्युगीन परिवेश में सर्वाधिक उपयुक्त थी। **डॉ० राजकिशोर कक्कड़** ने भी लिखा है :

"उन दिनों आलोचक का कार्य केवल आलोचना ही नही, वरन् ग्रन्थों का परिचय देना भी था। यह कार्य हिन्दी की उस समय की स्थिति के अनुकूल भी था। द्विवेदीजी की परिचयात्मक आलोचना-शैली हिन्दी के उस नवीन युग के प्रवर्त्तन के समय थी और इसकी विशेषताओं में वे सभी गुण थे, जो इस प्रकार की स्थिति तथा साहित्य के स्वरूप के उपयुक्त होते हैं।"[1]

इस युगानुकूल परिचयात्मक आलोचना के साथ ही द्विवेदीजी की आलोचनाओं का एक अन्य वस्तुपरक उन्मेष उनकी [illegible] आलोचना मे दीख पड़ती है। इस आलोचना के दर्शन उनकी 'रसज्ञरंजन', 'समालोचना-समुच्चय', 'नाट्यशास्त्र' प्रभृति पुस्तकों में होते हैं। साहित्य तथा उसके विभिन्न रूपों—अंगों की शास्त्रीय चर्चा द्विवेदीजी ने अपनी सिद्धान्तमूलक आलोचना में की है। इस प्रसंग में उन्होंने अपने विचारों को संस्कृत, उर्दू, अँगरेजी और मराठी के काव्यशास्त्र से भली भाँति समृद्ध किया है और युग की आवश्यकताओ के अनुकूल यथास्थान मौलिक सिद्धान्तो का प्रस्तुतीकरण भी किया है। इस दिशा मे उनकी दृष्टि अधिकांशतः संस्कृत के समीक्षा-शास्त्र पर टिकी रही है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यो ने संस्कृत की सैद्धान्तिक

---

१. **डॉ० राजकिशोर कक्कड़ : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य में आलोचना का विकास', पृ० ५८४-५८५।**

विवेचन-शैली ग्रहण की थी और द्विवेदीजी के आविर्भाव के पूर्व तक हिन्दी-आलोचना का सिद्धान्त-निरूपण रीतिकालीन आदर्शों पर अवलम्बित था। द्विवेदीजी ने हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा का सीधा नाता संस्कृत के साहित्यशास्त्र के साथ जोड़ दिया। इसी कारण **श्रीशिवनाथ** जैसे विचारकों को ऐसा लगा है :

"द्विवेदी-युग में जो सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक समीक्षा का साहित्य प्राप्त है, उसको देखने से यह ज्ञात होता है कि उसमें हिन्दी-समीक्षा का मान वही है, जो संस्कृत-समीक्षा का मान था। उसमें संस्कृत के समीक्षकों की उद्धरणी ही बार-बार मिलती है।"[१]

संस्कृत-काव्यशास्त्र को सामने रखकर अपने युग की साहित्य-सृष्टि के जिन सिद्धान्तों की रचना द्विवेदीजी ने की, उसमें जनहित एवं लोकरुचि का सर्वाधिक ध्यान उन्होंने रखा। समीक्षा के जो उद्देश्य निश्चित हुए, उनमें साहित्य की उन्नति, साहित्य को साधारण जनता तक पहुँचाना तथा साहित्य को रमणीय शिक्षाओं द्वारा जीवनोपयोगी बनाने की दिशा में प्रयत्नशील करना इत्यादि पर विशेष बल दिया गया। नीति, सुरुचि, लोकमंगल एवं आदर्शवाद को इसी कारण द्विवेदीजी की आलोचना के प्रमुख स्वरों के रूप में स्वीकार किया जाता है। **डॉ० मक्खनलाल शर्मा** ने लिखा है :

"द्विवेदीजी की साहित्य-कसौटी जनमत पर आधारित होने के कारण व्यक्तिवादी समीक्षा की अपेक्षा सैद्धान्तिक समीक्षा के समाजवादी रूप को ही श्रेष्ठ मानती थी।"[२]

द्विवेदीजी की आलोचना में नैतिकता एवं सामाजिक उपयोगिता का कितना स्थान है, इसका अनुमान उनकी काव्य, कवि, साहित्य और नाटक-सम्बन्धी मान्यताओं से लगाया जा सकता है। द्विवेदीजी की सिद्धान्तमूलक आलोचना उनके आचार्यत्व को प्रमाणित करती है। इस क्रम में उन्होंने सिद्धान्तों को साध्य और लक्ष्य तथा रचनाओं को साधन न मानकर रचनाओं को ही साध्य एवं सिद्धान्तों को साधन माना है। सत्यं, शिवं और सुन्दरम् पर आधृत उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा का यही सौन्दर्य एवं आदर्श कहा जा सकता है।

अपनी परिचयात्मक एवं सिद्धान्तमूलक दोनों ही आलोचनाओं में द्विवेदीजी ने अपनी प्रतिभा, पाण्डित्य एवं कौशल का परिचय दिया है। समालोचक यदि किसी पत्रिका का सम्पादक भी रहता है, तो उसे समीक्षा के लिए एक विस्तृत क्षेत्रफल मिल जाता है। द्विवेदीजी को यह सौभाग्य प्राप्त था। 'सरस्वती' के पन्नों पर उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा के दर्शन प्रतिमास होते थे। वे अपनी पत्रिका में अपनी आलोचना-

---

१. श्रीशिवनाथ : 'आधुनिक आलोचना का उदय और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' 'आलोचना', आलोचना-विशेषांक, अक्टूबर, १९५३ ई०, पृ० ८९।

२. डॉ० मक्खनलाल शर्मा : 'द्विवेदीयुगीन समीक्षा', पण्डित जगन्नाथ तिवारी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ४०२।

सम्बन्धी रचनाओं को किस सीमा तक स्थान प्रदान करते थे, इसकी एक सामान्य रूपरेखा निम्नांकित सूची में प्रस्तुत है :

१. नैषधचरितचर्चा और सुदर्शन : अक्टूबर, १९०० ई० ।
२. नायिकाभेद : जून, १९०१ ई० ।
३. कवि-कर्त्तव्य : जुलाई, १९०१ ई० ।
४. 'महिषसतक' की समीक्षा : अक्टूबर, १९०१ ई० ।
५. भवभूति (१) : जनवरी, १९०२ ई० ।
६. हिन्दी-साहित्य : जनवरी, १९०२ ई० ।
७. भवभूति (२) : फरवरी, १९०२ ई० ।
८. प्राचीन कविता : मार्च, १९०२ ई० ।
९. प्राचीन कविता का अर्वाचीन अवतार : मार्च, १९०२ ई० ।
१०. खड़ी बोली का पद्य : सितम्बर, १९०२ ई० ।
११. हिन्दी-भाषा और उसका साहित्य : फरवरी-मार्च, १९०३ ई० ।
१२. समालोचना : जून, १९०३ ई० ।
१३. बिहार के विज्ञान-पाठ : सितम्बर, १९०३ ई० ।
१४. देशव्यापक भाषा (१) : सितम्बर, १९०३ ई० ।
१५. देशव्यापक भाषा (२) : अक्टूबर, १९०२ ई० ।
१६. देशव्यापक भाषा (३) : नवम्बर, १९०३ ई० ।
१७. सम्पादकों के लिए स्कूल : जनवरी, १९०४ ई० ।
१८. 'सरोजनी' और 'राजपूत' : दिसम्बर १९०४ ई० ।
१९. सभा और सरस्वती : दिसम्बर, १९०४ ई० ।
२०. स्कूली किताबें : मार्च, १९०५ ई० ।
२१. पूर्वी हिन्दी : मई, १९०५ ई० ।
२२. कालिदास की वैवाहिक कविता : जून, १९०५ ई० ।
२३. देशव्यापक लिपि : अगस्त, १९०५ ई० ।
२४. देवनागरी-लिपि का उत्पत्तिकाल : अक्टूबर, १९०५ ई० ।
२५. 'जमाना' और देवनागरी-लिपि : अक्टूबर, १९०५ ई० ।
२६. वाल्मीकिरामायण और बौद्धमत : अक्टूबर, १९०५ ई० ।
२७. भाषा और व्याकरण : नवम्बर, १९०५ ई० ।
२८. आख्यायिका : दिसम्बर, १९०५ ई० ।
२९. भाषा और व्याकरण : दिसम्बर, १९०५ ई० ।
३०. उर्दू और 'आजाद' : अप्रैल, १९०६ ई० ।
३१. प्राचीन पद्य : नवम्बर, १९०६ ई० ।

३२. सम्पादकीय योग्यता : जून, १९०७ ई० ।

३३. कवि और कविता : जुलाई, १९०७ ई० ।

३४. पुस्तक-प्रकाशन : जनवरी, १९०८ ई० ।

३५. साहिबी हिन्दी (१) : जनवरी, १९०८ ई० ।

३६. साहिबी हिन्दी (२) : फरवरी, १९०८ ई० ।

३७. ओंकार-महिमा-प्रकाश : जुलाई, १९०८ ई० ।

३८. अँगरेजों का साहित्य-प्रेम : सितम्बर, १९०८ ई० ।

३९. वैदिक कोश : मार्च, १९०६ ई० ।

४०. महाराष्ट्र-साहित्य-सम्मेलन : दिसम्बर, १९०९ ई० ।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के सम्पादन-काल एवं उसके पूर्व की 'सरस्वती' के प्रारम्भिक दस वर्षों में प्रकाशित द्विवेदीजी का यह आलोचनात्मक साहित्य इस तथ्य का प्रमाण है कि द्विवेदीजी ने विपुल सख्या में आलोचनात्मक साहित्य लिखा। इस सूची में उनकी सैकड़ों लघु टिप्पणियों तथा 'सरस्वती' में प्रतिमास 'पुस्तक-परिचय' स्तम्भ में छपनेवाली समीक्षाओ का उल्लेख नहीं है। पुस्तकाकार प्रकाशित द्विवेदीजी का आलोचनात्मक साहित्य कुल मिलाकर इतना ही है :

१. नैषधचरितचर्चा (सन् १८९६ ई०) ।

२. हिन्दी-शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना (सन् १८९९ ई०) ।

३. हिन्दी-कालिदास की समालोचना (सन् १९०९ ई०) ।

४. विक्रमाकदेवचरितचर्चा (सन् १९०७ ई०) ।

५. हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति सन् १९०७ ई०) ।

६. कालिदास की निरंकुशता (सन् १९११ ई०) ।

७. नाट्यशास्त्र (सन् १६११ ई०) ।

८. कालिदास (सन् १६२० ई०) ।

९. कालिदास और उनकी कविता (सन् १९२० ई०) ।

१०. रसज्ञरंजन (सन् १९२० ई०) ।

११. आलोचनांजलि (सन् १९२८ ई०) ।

१२. साहित्य-सन्दर्भ (सन् १६२८ ई०) ।

१३. साहित्यालाप (सन् १९२६ ई०) ।

१४. वाग्विलास सन् १९३० ई०) ।

१५. समालोचना-समुच्चय (सन् १९३० ई०) ।

१६. साहित्य-सीकर सन् १९३० ई०) ।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त 'विचार-विमर्श', 'संकलन' इत्यादि कई संकलनों में भी द्विवेदीजी की भाषा एवं साहित्य-सम्बन्धी आलोचनात्मक रचनाएँ संगृहीत हैं।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से इन समीक्षात्मक कृतियों में कहीं प्राचीन कवियों से सम्बद्ध विचारों का प्रस्तुतीकरण हुआ है, कहीं समकालीन साहित्यकारों का विवेचन हुआ है और कहीं समीक्षा के सैद्धान्तिक स्वरूप का उपस्थापन हुआ है। परन्तु, द्विवेदीजी की समीक्षात्मक कृतियों की प्रस्तुत सूची के विशेष सन्दर्भ में **डॉ० उदयभानु सिंह** की अधोलिखित पंक्तियाँ ध्यातव्य है :

"द्विवेदीजी का महान् आलोचक ठोस आलोचनात्मक ग्रन्थों का प्रणयन न कर सका। वह भाषा-सुधार, रुचि-परिष्कार और लेखक-निर्माण तक ही सीमित रह गया। उसने जान-बूझकर इन संकुचित सीमाओं को स्वीकार किया—युग की माँगों को पूरा करने के लिए।"[1]

अपने युगीन महत्त्व के आलोक में द्विवेदीजी के आलोचनात्मक साहित्य का हिन्दी-आलोचना के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान है। इनके समूचे आलोचनात्मक कृतित्व को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकना है। पहले भाग में उनकी पुस्तक अथवा कविपरीक्षा-विषयक समीक्षाएँ आनी है और दूसरे भाग में उनके समीक्षा-सिद्धान्तों की गणना की जा सकती है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन ही समीचीन होगा। वस्तु एवं विवेचन की दृष्टि से इन दोनों विभागों को क्रमशः परिचयात्मक आलोचना एवं सैद्धान्तिक समीक्षा कहा जा सकता है।

परिचयात्मक आलोचना :

द्विवेदीजी के आलोचनात्मक साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग प्राचीन और नवीन साहित्यिक कृतियों की परिचयात्मक गुणदोष-विवेचना से व्याप्त है। परिचयात्मक आलोचना के अन्तर्गत उन्हीं की गणना की जा सकती है। 'सरस्वती' के 'पुस्तक-परिचय' स्तम्भ से कतिपय पुस्तकों तक में इस कोटि की आलोचना का विस्तार परिलक्षित होता है। द्विवेदीजी ने साहित्यिक रचनाओं के गुणदोष-परीक्षण के लिए टीका, शास्त्रार्थ, खण्डन, सूक्ति, लोचन इत्यादि कई आलोचना-पद्धतियाँ अपनाईं। उन्होंने अपनी परिचयात्मक आलोचना का प्रारम्भ अनूदित ग्रन्थों की समीक्षा से किया। द्विवेदीजी द्वारा लिखित 'कुमारसम्भवभाषा' की समालोचना सन् १८९६ ई० के आरम्भ मे 'काशी-पत्रिका' में छपी थी। यही द्विवेदीजी की पहली आलोचनात्मक उपलब्ध रचना कही जा सकती है। **लाला सीताराम** द्वारा महाकवि कालिदास-कृत 'कुमारसम्भवम्' के हिन्दी-अनुवाद की यह दोषमूलक आलोचना थी। लाला सीताराम के ही अनूदित ग्रन्थ 'ऋतुसंहारभाषा' की समीक्षा भी द्विवेदीजी ने लिखी, जिसका—

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० १४१।

प्रकाशन बम्बई के 'वेंकटेश्वर-समाचार' में नवम्बर, १८९७ से मई, १८९८ ई० तक होता रहा। कुछ समय बाद 'मेघदूतभाषा' और 'रघुवंशभाषा' की समीक्षाएँ भी लिखी गई। द्विवेदीजी की इन सारी प्रारम्भिक समीक्षात्मक रचनाओं का पुस्तकाकार संकलन 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना' के नाम से सन् १९०१ ई० में प्रकाशित हुआ। परन्तु, उनकी पहली परिचयात्मक समीक्षा-पुस्तक 'हिन्दी-शिक्षावली, तृतीय भाग' की समीक्षा थी, जिसका प्रकाशन सन् १८९९ ई० में हुआ था। परिचयात्मक आलोचना के अन्तर्गत परिगणित की जानेवाली द्विवेदीजी की पुस्तकों में क्रमश. 'हिन्दी-शिक्षावली, तृतीय भाग' की समालोचना, 'नैषधचरितचर्चा', 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना', 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा', 'कालिदास की निरंकुशता', 'कालिदास', 'कालिदास और उनकी कविता' और 'आलोचनांजलि' की चर्चा की जा सकती है। इन सबमें ही द्विवेदीजी ने आलोचना की परिचयात्मक एव गुणदोष-दर्शन की नीति अपनाई है। 'सरस्वती' के 'पुस्तक-परिचय' स्तम्भ में भी उनकी यही आलोचना-पद्धति दीख पड़ती है। प्राचीन अथवा नवीन लेखकों के गुणों तथा दोषो का परि-दर्शन करने में द्विवेदीजी ने पक्षपातरहित आलोचना की है। उन्होंने समझ लिया था कि आलोच्य विषय लेखक नही, उसकी रचना है। **डॉ० प्रभाकर माचवे** ने उनकी इसी आलोचना-नीति के सम्बन्ध में लिखा है :

"आचार्य द्विवेदीजी की आलोचना-शैली पर विचार करते समय हमें इसपर ध्यान रखना होगा कि उनकी आलोचना का मानदण्ड गुणदोष-निरूपण है। ऐसी स्थिति में यह सत्य है कि दोष दिखने पर वे उसे बिना दिखाये और उसकी कड़ी समीक्षा किये नहीं रहते थे और गुण मिलने पर वे उसकी प्रशंसा में भी कोताही नहीं दिखाते थे।"[१]

स्पष्ट है कि मित्रों के स्नेह अथवा शत्रुओं के द्वेष से द्विवेदीजी की आलोचनाएँ कभी प्रभावित नहीं हुईं। आलोचना के क्षेत्र में दलबन्दी उन्हें पसन्द नही थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक बार 'सरस्वती' में लिखा था :

"मित्रता के कारण किसी पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं। ईर्ष्या-द्वेष अथवा शत्रुभाव के वशीभूत होकर किसी कृति में अमूलक दोषोद्भावना करना उससे भी बुरा काम हैं।"[२]

इसी गुटनिरपेक्षता का परिपालन द्विवेदीजी ने अपनी सभी परिचयात्मक आलोचनाओं में किया है। उनकी यह न्यायपूर्ण समालोचनात्मक दृष्टि और अप्रिय सत्य को भी स्पष्टतः कह देने की आदत दूसरों को बहुत खटकती थी। परन्तु, द्विवेदीजी ने जिस

१. डॉ० प्रभाकर माचवे : 'समीक्षा की समीक्षा', पृ० १८२।

२. निर्मल तालवार : 'आचार्य द्विवेदीजी', पृ० १४६ पर उद्धृत।

उच्च आदर्श एवं महान् उद्देश्य को लेकर इन समालोचनाओं को प्रस्तुत किया था, उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी कटु आलोचनाओं की भी परवाह नहीं की। वे हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि करने एवं उसकी आलोचना को नया स्वरूप प्रदान करने की दिशा में सतत प्रयत्नशील रहे। डॉ० शिवकरण सिंह ने लिखा है :

"वे बँधी-बँधाई अथवा पिटी-पिटाई विचारधारा के व्यक्ति न थे। उनके समक्ष तो हिन्दी-साहित्य के रिक्त भाण्डार को मूल्यवान् साहित्यिक चर्चा से भरने और आदर्शपूर्ण ग्रन्थों के विवेचन के आधार पर एक निश्चित आदर्श स्थापित करने का ज्वलन्त प्रश्न मुँह बाये खड़ा था। वे एक मनीषी एवं युगद्रष्टा व्यक्ति की तरह अपने इस प्रयत्न में संलग्न हुए और प्राचीन और अर्वाचीन सभी विषयों के विवेचन के आधार पर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि करने का भगीरथ प्रयास करने लगे।"[१]

उनकी ये आलोचनाएँ हिन्दी-जगत् के लिए उपकारी सिद्ध हुईं, इसमें सन्देह नहीं। आलोचना के क्रम में उन्होंने एक ओर कालिदास जैसे अतीत काल के साहित्यिकों की उपलब्धियों का पुनर्मूल्यांकन किया और दूसरी ओर अपने युग के नये-से-नये कवि को को भी समीक्षा की कसौटी पर रखा। आचार्य द्विवेदीजी की इस परिचयात्मक आलोचना का प्रारम्भिक रूप अधिकांशतः दोष-दर्शन की प्रवृत्ति से ही ग्रस्त था। इसी कारण 'हिन्दी-कालिदास की समालोचना', 'कालिदास की निरंकुशता' इत्यादि कई प्रारम्भिक कृतियों में उनका सम्पूर्ण ध्यान रचना के दोषों का सन्धान करने में ही लगा रहा है। द्विवेदीजी दोष-दर्शन की इस नीति को उन दिनों बुरा नहीं मानते थे, जैसा कि उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है :

"समालोचना करने की प्रणाली इस देश में पुराने समय से है, किन्तु वह प्रणाली अब पुराने ढग की है। समालोचना करने की कई प्रणाली अँगरेजी-शिक्षा की बदौलत हमने सीखी है। अँगरेजी-साहित्य में सच्चे समालोचकों को बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है। यह सब समालोचनाएँ प्रशंसात्मक ही नहीं। इनमें शेक्सपियर जैसे कवियों के दोष-दर्शन भी दिखाये जाते हैं और दोष भी एक तरह के नहीं, सब तरह के—शेक्सपियर की भाषा के दोष, शेक्सपियर की कविता के दोष और शेक्सपियर के पात्रों के दोष; पर इन दोषों को कोई बुरा नहीं मानता।"[२]

प्रस्तुत अवतरण से एक ओर द्विवेदीजी की दोष-दिग्दर्शन-सम्बन्धी भावना प्रकट होती है और दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भ से ही वे पाश्चात्य आलोचना से प्रभावित थे। भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत-साहित्यशास्त्र में पूर्ण आस्था रखते हुए

---

१. डॉ० शिवकरण सिंह : आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी-साहित्य, पृ० ३९१।

२. डॉ० रामदरश मिश्र : 'हिन्दी-आलोचना का इतिहास', पृ० ५० पर उद्धृत।

भी प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी कवियों के दोष दिखाने के लिए द्विवेदीजी ने अपने ऊपर पड़े आग्ल प्रभाव को स्वीकारा है। दोष दिखाने का यह कार्य उन्हें अँगरेजी-शिक्षा से प्राप्त ज्ञान से ही ज्ञात हुआ था।"[१] परन्तु, उनकी इस दोष-दर्शन की प्रवृत्ति ने बहुत लोगों को अप्रसन्न कर दिया। 'कालिदास की निरकुशता' नामक पुस्तक पर तो अनेक लोगों ने क्षोभ प्रकट किया, यद्यपि उसकी भूमिका में द्विवेदीजी ने लिख दिया था :

"पाठक, विश्वास कीजिए, यह लेख हम कालिदास के दोष दिखाकर उनमे आपकी श्रद्धा कम करने के इरादे से नहीं लिख रहे है। ऐसा करना हम घोर पाप समझते है, भारी कृतघ्नता समझते हैं। इसे आप वाग्विलास समझिए। यह केवल आपका मनोरंजन करने के लिए है।"[२] इतना करने पर भी जब लोगों ने रुष्टता प्रकट की, तब द्विवेदीजी ने अपने 'प्राचीन कवियों में दोषोद्भावना' शीर्षक लेख में लिखा था :

" 'कालिदास की निरंकुशता' नामक लेख मे जिन दोषों का उल्लेख हुआ है, उनमे से दो-चार को छोड़कर शेष सब दोषों को संस्कृत के साहित्यशास्त्र-प्रणेताओं ने स्वीकार किया है। जो बाते इन महात्माओ ने पहले ही लिख रखी है, उन्हीं का निदर्शन कराना भी यदि हिन्दी मे मना हो, तो उसके साहित्य से समालोचना का बहिष्कार ही कर देना चाहिए।"[३]

इस प्रकार, द्विवेदीजी ने अपनी प्रारम्भिक आलोचनाओं मे दोषदर्शन अथवा खंडनात्मकता को महत्त्व दिया। इस प्रवृत्ति को उनकी परवर्त्ती आलोचनाओं में अधिक प्राश्रय नही मिला। फिर भी, जहाँ कही उन्हे किसी भी पुस्तक में अवगुण दीखते थे, उनकी ओर संकेत करना वे नही भूलते थे। द्विवेदीजी की दोष-पर्यवेक्षण-शैली से ग्रस्त उनकी सभी आलोचनाओं को **डॉ० उदयभानु सिंह** ने 'संहारात्मक समीक्षा' की संज्ञा दी है और लिखा है :

"उनकी संहारात्मक समीक्षाओं ने लेखकों को सावधान करके, भाषा को सुव्यवस्थित करके हिन्दी-साहित्य की ईदृक्ता और इयत्ता को उन्नत करने की भूमिका प्रस्तुत की, साहित्यिक जगत् में जागृति उत्पन्न की, जिसके फलस्वरूप आगे चलकर माननीय ठोस ग्रन्थों की रचना हो सकी।"[४]

दोष-दर्शन से भरपूर समीक्षाओं से ऊपर उठने पर द्विवेदीजी ने नीर-क्षीर-विवेक आलोचक का बाना धारण कर लिया। उन्होंने पक्षपात-रहित भाव से रचनाओ

---

१. विशेषतः द्रष्टव्य : डॉ० रामचन्द्र प्रसाद : 'हिन्दी-आलोचना पर पाश्चात्त्य प्रभाव', पटना-विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध।

२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'कालिदास की निरंकुशता', पृ० २।

३. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'आलोचनांजलि', पृ० ४३।

४. डॉ० उदयभानुसिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० १९२।

की समीक्षा करना प्रारम्भ किया। प्राचीन और नवीन सभी कवियों-लेखकों की आलोचना उन्होंने इसी आदर्श पर की। परन्तु, प्राचीन काव्यकृतियों की आलोचना के सन्दर्भ में उनकी एक प्रवृत्ति सर्वत्र परिलक्षित होती है। वे प्राचीन कवियों के काव्य की विवेचना करने के साथ ही कवि का ऐतिहासिक परिचय एवं तत्सम्बन्धी विस्तृत गवेषणा भी प्रस्तुत करते जाते थे। इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य कर डॉ० प्रभाकर माचवे ने लिखा है :

"आलोचनाओं में आचार्य द्विवेदी की दृष्टि काव्य-समीक्षा पर अत्यल्प रही और कवि या उसके आश्रयदाता के समय, उसके जीवनवृत्त आदि पर अत्यधिक। आज समालोचना के क्षेत्र में कवि के जीवन तथा उसके काल-निर्णय पर विशेष दृष्टि डालने की पद्धति नहीं है। ये साहित्य के इतिहास-क्षेत्र की वस्तुएँ समझी जाती हैं।"[१]

परन्तु, द्विवेदीजी की आलोचनाओं में इनका बड़ा विस्तार मिलता है। 'विक्रमांकदेवचरितचर्चा', 'नैषधचरितचर्चा' एव 'कालिदास' में कवि, उसके काल, आश्रयदाता का काल एवं कवि के जीवन पर ही अधिक पृष्ठ भरे गये है। जैसे, 'कालिदास' में कालिदास के काल-निर्णय पर ही १०८ पृष्ठों का उपयोग किया गया है, जबकि कुल पुस्तक मात्र २३५ पृष्ठों की है। इस प्रकार, द्विवेदीजी द्वारा की गई प्राचीन कवियों की परिचयात्मक आलोचनाओं मे कवि की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति दीख पड़ती है। आधुनिक ग्रन्थों की समीक्षा करते समय द्विवेदीजी ने ऐसा नहीं किया है। 'सरस्वती' के 'पुस्तक-परिचय' स्तम्भ में तथा अन्यत्र कई स्थानो में अपने समय के साहित्य की परिचयात्मक आलोचना करते समय द्विवेदीजी ने रचना की गुण-दोष-समस्या आदि का ही विवेचन किया है। प्राचीन कवियों की समीक्षा करते समय जिस प्रकार वे ऐतिहासिकता के चक्कर में विषयान्तर हो जाते थे, उसी प्रकार सामयिक कृतियो की समीक्षा करते समय वे रचना की मूल समस्या को लेकर विषयान्तर हो जाया करते थे। आलोचना मे समस्याओं का प्रवेश द्विवेदीजी ने ही कराया था। ऐसे कई उदाहरण मिलते है कि विविध विषयों की पुस्तकों की विवेचना करते-करते द्विवेदीजी पुस्तक के वर्ण्य विषय अथवा उठाई गई समस्या पर ही गम्भीर विस्तृत चिन्तन करने लगे है। यथा, सन् १९०७ ई० की 'सरस्वती' में 'स्त्रीशिक्षा' की आलोचना में उन्होने पुस्तक की अपेक्षा स्त्रीशिक्षा की आवश्यकता पर विस्तार से विचार किया है। ऐसा करने के पीछे उनका उद्देश्य नितान्त सुधारवादी एवं आदर्शमूलक था। इसी कारण, वे अपने युग की सभी अशोभन एवं आदर्शच्युत रचनाओं की कड़ी समीक्षा करते थे और नैतिक दृष्टि से सम्पन्न तथा सुरुचिपूर्ण कृतियों की प्रशंसा करते थे। डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश' के अनुसार :

---

१. डॉ० प्रभाकर माचवे : 'समीक्षा की समीक्षा', पृ० ८६।

"वे आलोचनार्थ आये ग्रन्थों की समालोचना तो करते ही थे, यदि कोई गलत और अमर्यादित ग्रन्थ कहीं से प्रकाशित हुआ हो, तो उसे मँगाकर उसकी बखिया-उधेड़ आलोचना करते थे।"[1]

निर्णायक भाव मे द्विवेदीजी ने अपने युग की समस्त उपलब्धियों की समीक्षा की और हिन्दी-संसार के समक्ष आदर्श, नीतिमूलक एवं सत्साहित्य की स्थापना का मानदण्ड निर्धारित किया। विषय, भाषा और शैली की दृष्टि से हिन्दी की तत्कालीन पुस्तकों का संस्कार उन्होंने किया। तार्किक, व्यंग्यपूर्ण और ओजपूर्ण शैलियों में उन्होंने पुस्तक-परीक्षण का यह युगान्तरकारी कार्य किया। द्विवेदीजी की पुस्तकालोचन-कला का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। मार्च, १९१५ ई० की 'सरस्वती' में उन्होंने 'वैदिक प्राणैषणा' नामक पुस्तक की अधोलिखित समीक्षा प्रकाशित की थी :

"**वैदिक प्राणैषणा** : आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या ५२०, मूल्य २ रुपया, लेखक, **श्रीमद्वैद्याचार्य पण्डित हेमनिधि शर्मा उपाध्याय**, बुलन्दशहर; प्रकाशक, लेखक महाशय के पुत्र **पण्डित सुधानिधि शर्मा उपाध्याय**, प्रकाशकजी से प्राप्त। इस पुस्तक का नाम जैसा क्लिष्ट है, भाषा भी इसकी वैसी ही क्लिष्ट है, वह कहीं-कहीं व्याकरण-विरुद्ध भी है। इनमें न मालूम क्या-क्या लिखा गया है। इसका प्रधान उद्देश्य निरामिष भोजन की महत्ता दिखाना है। परन्तु, जिन बातों का मूल विषय से बहुत ही कम या बिलकुल ही सम्बन्ध नहीं, वे भी इसमें सन्निविष्ट कर दी गई हैं। उदाहरणार्थ, वाजीकरण-विधि, वैदिक गर्भाधान-विधि, मद्यपान-विचार, वाममार्ग का प्रचार आदि।... इस पुस्तक की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि श्रुतियों में, स्मृतियों में, नाट्यसूत्रों में और वैद्यक-ग्रन्थों आदि में जहाँ-जहाँ माँस खाने या हिंसा करने का उल्लेख है, वहाँ-वहाँ के वचनों का नया ही अर्थ वैद्याचार्यजी ने कर डाला है। मतलब यह है कि यदि कहीं किसी को आपके मत के विरुद्ध कोई वचन मिले, तो उसे समझना चाहिए कि या तो उसका वह अर्थ ही नहीं, जो आजतक अधिकांश विद्वान् समझते आये हैं या वह वचन का प्रक्षिप्त अंश है : दुर्धर्ष कार्य के उपलक्ष्य में आपको बधाई।"[2]

पुस्तक की तह तक जाकर उसके दुर्गुणो का पता लगाने में द्विवेदीजी किस सीमा तक कुशल थे, इसका सहज अनुमान इस समीक्षा से लगाया जा सकता है। इसी प्रकार, गुणों का बोध होते ही वे प्रशंसनीय वाक्यों की झड़ी लगा देते थे। यथा, जून, १९१५ ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'कुमारपालचरित' की समीक्षा की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

"जैनसाहित्य में भारत के मध्यकालीन इतिहास की बहुत कुछ सामग्री है। जैनों को उसका सदुपयोग करना चाहिए। इससे अनेक दुर्लभ बातों का पता लग सकता है।

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु : 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास', भाग १३, पृ० १४७।

२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० २०५।

कुमारपाल के विषय में संस्कृत, प्राकृत और गुजराती में अनेक पुस्तकें है। प्रस्तुत पुस्तक के सदृश उनके आधार पर भी पुस्तक निकलनी चाहिए। इस पुस्तक की भाषा कुछ गुजरातीपन लिये हुए है, पर समझ में अच्छी तरह आती है। हिन्दीभाषा-भाषी जैनों के लिए ही यह लिखी गई है। लेखक महाशय का यह कार्य प्रशंसनीय है।"[1]

इस प्रकार, द्विवेदीजी ने अपनी परिचयात्मक आलोचना को हिन्दी की बहुविध उन्नति का माध्यम बनाया एवं प्राचीन-नवीन कृतियों की पक्षपात-रहित आलोचना करके आदर्श-संस्थापन का युगान्तरकारी कार्य किया। अपने इस महान् उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्होंने पथ की बाधाओं को झेला एवं किसी भी काल की किसी भी रचना को अपनी निष्पक्ष गुणदोष-निर्णायक कसौटी पर ही कसा। **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** ने लिखा है :

"उन्होंने नये और अधकचरे लेखकों की आलोचना ही प्रखरता से नहीं की, वरन् महाकवि कालिदास के दोषों का भी निर्भीकता से उद्घाटन किया। उनकी दोषान्वेषण-दृष्टि बहुत सूक्ष्म और प्रबल थी, इसलिए वे आदर्श और मर्यादित साहित्य की सृष्टि कर सके तथा तत्कालीन परिस्थिति में प्रौढ़ तथा व्याकरणसम्मत व्यावहारिक भाषा का शिलान्यास कर सके।"[2]

सैद्धान्तिक आलोचना :

व्यावहारिक समीक्षाओं द्वारा प्राचीन और नवीन साहित्यिक कृतियों में गुणदोष-विवेचन करके नये आदर्श स्थापित करने के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने साहित्यिक मर्यादा के युगानुरूप साहित्यशास्त्र को भी निर्मित किया था। उन्होंने अपनी सिद्धान्तमूलक समीक्षा में साहित्य, काव्य, नाटक आदि से सम्बद्ध सिद्धान्तों का प्रस्तुतीकरण किया है। इस क्रम में उनकी विवेचन-पद्धति संस्कृत-काव्यशास्त्रियों जैसी आचार्य-पद्धति के अनुरूप ही है। परन्तु, कोरा सिद्धान्त-निरूपण उनका लक्ष्य नहीं रहा। उन्होंने अपने सारे सिद्धान्तों को युगीन परिवेश तथा आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत किया, अतः उनकी आचार्य-प्रणाली एवं संस्कृत के आचार्यों की सिद्धान्त-निरूपण-पद्धति में स्पष्ट ही एक बड़ा अन्तर था। संस्कृत के आचार्यों ने युगबोध को दृष्टिपथ में नहीं रखते हुए साहित्यिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया था, परन्तु हिन्दी के वास्तविक आचार्य **पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने अपने सामाजिक वातावरण के अनुकूल साहित्यिक सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया। इस क्रम में उनकी चेष्टा हिन्दी में एक स्पष्ट तथा आदर्श साहित्यशास्त्र की स्थापना की रही। इसलिए, वे किसी विशेष वाद या मत के

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० २१६-२१७।

२. डॉ० शंकरदयाल चौऋषि : 'द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन' पृ० १६०।

बन्धन में नहीं बँध सके। वे न तो **भरत**, **विश्वनाथ** आदि की भाँति रसवादी हैं, न **भामह** आदि की तरह अलंकारवादी है, न **वामन** आदि की भाँति रीतिवादी है, न **कुन्तक** आदि की तरह वक्रोक्तिवादी है, न **आनन्दवर्द्धन** की भाँति ध्वनिवादी है, न **जगन्नाथ** की तरह चमत्कारवादी है और न ही पश्चिमी समीक्षा-प्रणाली से प्रभावित आलोचकों की तरह अन्तःसमीक्षावादी। उनकी सैद्धान्तिक समीक्षा में सभी वादों एवं प्रणालियों का सार प्रस्तुत करने की अद्भुत चेष्टा दीख पड़ती है। साथ ही, उन्होंने यथासम्भव सरल भाषाशैली में अपने विविध सिद्धान्तों का प्रस्तुतीकरण किया है। उनके इन सभी सिद्धान्तों मे भी विशेष उलझाव नहीं दीख पड़ता है। **डॉ० प्रभाकर माचवे** ने लिखा है :

"वे हिन्दीवालों को शास्त्रीय जटिलताओं मे उलझाना नहीं चाहते थे। वे साहित्य का सरल, सीधा और सामान्य मार्ग स्थापित करना चाहते थे। उनके काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तो मे निश्चय ही बड़ी सादगी है। इस सादगी के मूल मे व्यावहारिकता तथा यथार्थ की प्रेरणा विशेष रूप से निहित है।"[1]

इसी कारण, द्विवेदीजी ने भारतीय सिद्धान्तो को भी ग्रहण किया और प्रसंगवश पाश्चात्य सिद्धान्तों का भी सहारा लिया। उनके समक्ष भारतेन्दुयुगीन स्थिति नही थी, इसी कारण उनके आदर्श भी भारतेन्दुयुगीन नही रह सके। नाममात्र की मौलिक चिन्तना देने के अतिरिक्त भारतेन्दुयुगीन काव्यशास्त्रीय चिन्तन अधिकांशतः भारतीय काव्यशास्त्र पर आधृत था। परन्तु, भारतेन्दु-युग मे जिस रीतिकालीन काव्यशिल्प तथा भाषा-सौष्ठव को कविता का मूल उपादान माना गया था, उसके अनुकूल परिस्थितियाँ द्विवेदी-युग में नही थी। इस कारण, द्विवेदीजी का तत्सम्बन्धी चिन्तन भारतेन्दुयुगीन काव्यशास्त्रीय चिन्तन से अधिक निखरा, गहरा और आगे बढ़ा हुआ है। द्विवेदीजी की सिद्धान्तमूलक आलोचना का उपस्थापन अधोलिखित पुस्तकों में हुआ है :

१. नाट्यशास्त्र (सन् १९११ ई०)।
२. रसज्ञरंजन (सन् १९२० ई०)।
३. समालोचना-समुच्चय (सन् १९३० ई०)।

इनके अतिरिक्त, अन्यान्य व्यावहारिक या परिचयात्मक आलोचना से सम्बद्ध पुस्तकों में भी यथावसर द्विवेदीजी ने अपनी सैद्धान्तिक समीक्षा की अभिव्यक्ति की है। **डॉ० उदयभानु सिंह** ने इस सन्दर्भ में लिखा है :

"इनका सिद्धान्त-निरूपण सभी आलोचनाओ में यथास्थान बिखरा हुआ है। इसका कारण यह है कि उन्होंने संस्कृत-आचार्यों की भाँति सिद्धान्तों को साध्य और लक्ष्य तथा रचनाओं को साधन न मानकर रचनाओं को ही साध्य और सिद्धान्तो को ही

१. डॉ० प्रभाकर माचवे : 'समीक्षा की समीक्षा', पृ० १८०।

साधन माना है। लेखक या उसकी कृति की आलोचना करते समय जहाँ कहीं अपने कथन को प्रमाणित या पुष्ट करने की आवश्यकता पड़ी है, वहाँ पर उन्होने अपने या अन्य आचार्यों के सिद्धान्तो का उपस्थापन किया है।"[१] अतएव, पुस्तक-परिचय से विविध निबन्धो तक मे द्विवेदीजी की सैद्धान्तिक आलोचना बिखरी हुई है। उनके सिद्धान्तों का निरूपण बड़े ही विशाल फलक पर हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

आचार्य द्विवेदीजी ने काव्य एवं साहित्य के बहिरंग तथा अन्तरंग स्वरूप पर आदर्श-नीतिमूलक सिद्धान्तों का उपस्थापन किया है। द्विवेदीजी ने काव्य के लक्षण पर विचार करते हुए लिखा है :

"अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के विकारों के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नही समाते, तब वे आप-ही-आप मुख के मार्ग से बाहर निकलने लगते है।"[२]

उनकी इस मान्यता की पृष्ठभूमि मे शोक-श्लोक-समीकरण का आदर्श प्रस्तुत है। वे **वर्ड्स्वर्थ**[3] की तरह इस तथ्य से पूर्णत. अभिज्ञ है कि काव्य अन्तर्वृत्तियों का स्वतः स्फुरित स्रोत है। उन्होंने भाव को कविता का मेरुदण्ड माना है। भाषा के भावमय प्रयोग तथा काव्य की भाव-व्यंजना पर उन्होंने स्थान-स्थान पर बल दिया है। काव्य के आन्तरिक सत्य भाव की महत्ता स्थापित करते हुए उन्होने लिखा है :

"कवियों के लिए जैसे शब्दों, वृत्तो और स्वाभाविक वर्णनों की आवश्यकता होती है, वैसे ही चित्रकारो के लिए चित्रित वस्तु के स्वाभाविक रग-रूप की तद्वत् प्रतिकृति निर्मित करने की आवश्यकता होती है। फिर भी, चित्रकार और कवि के लिए ये गुण गौण है। इन दोनों का मुख्य गुण तो है भाव-व्यंजकता। भाव-व्यंजना जिसमें जितनी ही अधिक होती है, वह अपनी कला का उतना ही अधिक ज्ञाता समझा जाता है।"[3]

काव्यनिर्मिति में भाव की सत्ता को स्वीकारते हुए द्विवेदीजी ने रस को काव्य की आत्मा माना है। इस प्रकार, वे भारतीय काव्यात्मवाद की दृष्टि से रसवादी कहे जा सकते हैं। उन्होंने कई स्थानों पर कविता का आधार रस ही माना है, जैसे :

"कविता का अच्छा और बुरा होना विशेषतः अच्छे अर्थ और रस-बाहुल्य पर अवलम्बित है।"[४]

---

१. डॉ० उदयभानु सिह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ० १२०।
२. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० ६२।
३. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'समालोचना-समुच्चय', पृ० ३१।
४. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० २०।

"रस ही कविता का प्राण है, और जो यथार्थ कवि है, उसकी कविता में रस अवश्य होता है।"[1]

"कविता पढ़ते समय तद्गत रस में यदि पढ़नेवाला डूब न जाय, तो वह कविता, कविता नहीं।"[2]

इन उक्तियों से स्पष्ट है कि उन्होंसे रस को काव्य का जीवन मानकर यह स्पष्ट प्रतिपादित किया है कि रसविहीन रचना में काव्यत्व नहीं होता। उनका रस-सम्बन्धी यह विवेचन कविता के सन्दर्भ में ही हुआ है, पृथक् रूप से रस का विवेचन उन्होंने नहीं किया है। इसी प्रकार, उन्होंने अलंकारों का भी प्रसंगवश उल्लेख किया है। रसवादी होने के नाते वे काव्य में सरलता, स्पष्टता एवं मनोरंजकता के पक्षधर थे, इसी कारण अलंकारों के अनावश्यक चमत्कार-बोधक प्रयोग को उन्होंने मान्यता नहीं दी है। वे काव्य के अस्वाभाविक अलकरण के स्थान पर उसमें आन्तरिक गौरव के प्रतिष्ठापन पर बल देते थे। उन्होंने एक जगह लिखा भी है :

"अर्थ के सौरस्य ही की ओर कवियों का ध्यान अधिक होना चाहिए, शब्दों के आडम्बर की ओर नहीं।[3] साथ ही, वे अलंकारों के नवीन युगानुकूल विन्यास के भी पक्षपाती थे। '**भारतीभूषण**' नामक एक तत्कालीन पुस्तक की प्रस्तावना में द्विवेदीजी का एक पत्र उद्धृत है, उसी में द्विवेदीजी की यह भावना सामने आई है :

"भारती को कुछ नवीन भूषणों से अलंकृत करने से हमें संकोच नहीं करना चाहिए।... फिर, क्या कारण है कि बेचारी भारती के जेवर वही भरत, कालिदास भोज इत्यादि के समय के ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं। भारती को क्या नवीनता पसन्द नहीं ?'[4]

अलंकारों की तरह द्विवेदीजी ने रीति का भी विवेचन किया है। उन्होने रीति को आधुनिक शैली के रूप मे स्वीकार करके उसके प्रमुख तत्त्व भाषा का ही वीवेचन किया है। उनका विचार था कि वही भाषा उत्तम शैली की सूचक हो सकती है, जो शुद्ध, व्याकरणसम्मत, सरल, सीधी तथा बोलचाल की हो। शैली या रीति के अन्य तत्त्वों की व्याख्या उन्होंने इसलिए नही कि उस समय भाषा को शुद्ध, व्यवस्थित, सरल तथा युगानुरूप भावों की व्यंजक बनाना ही आलोचकों का प्राथमिक कार्य था। इस तरह, जब द्विवेदीजी ने गुणों की चर्चा की है, तब भी उनका ध्यान शुद्धता के महत्त्व-स्थापन की ओर सर्वाधिक दीख पड़ता हैं। उन्होंने प्राचीन परम्परित गुणों की चर्चा न करके भाषा के गुणों का मौलिक ढंग से विवेचन किया है। इस सन्दर्भ में उन्होंने

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'प्राचीन पण्डित और कवि', पृ० ३५।

२. 'सरस्वती', जनवरी, १९०० ई०, पृ० ३२।

३. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० ४१।

४. श्रीअर्जुनदास केडिया : 'भारतीभूषण', पृ० ४१।

शुद्धता, सरलता, सुबोधता, स्पष्टता आदि भाषा के गुणों का उल्लेख पाश्चात्य आचार्यों के प्रभाववश काव्य एवं भाषा की युगीन स्थिति को देखते हुए किया है। मूलतः रसवादी होते हुए भी द्विवेदीजी ने अलंकारों, रीतियों और गुणों के साथ-साथ वक्रोक्ति पर विचार किया है। वे चमत्कार तथा वक्रता को भी काव्य का आवश्यक मानते थे। उन्होंने लिखा है :

"शिक्षित कवियों की उक्तियों में चमत्कार का होना परमावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं ... तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।"[1]

सिद्धान्त-रूप से ऐसा मानते हुए युग की सीमाओं तथा आवश्यकताओं से बँधा होने के कारण द्विवेदीजी ने न अपनी कविता में और न अपने शिष्यों की कविता में ही चमत्कार तथा वचनवक्रता को पनपने दिया। अन्य काव्य-सम्प्रदायों के प्रमुख गुणों को ग्रहण करते हुए भी द्विवेदीजी ने सरसता को ही काव्य की प्रमुख विशेषता माना है। इस सम्बन्ध में उनका निष्कर्ष है :

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे,
शरीर तेरा सब शब्दमात्र है,
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही।[2]

इस प्रकार, काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में द्विवेदीजी की विचारधारा नीतिवादी, उपयोगितावादी तथा आनन्दवादी दृष्टिगोचर होती है। काव्य-हेतु का विवेचन करने के सन्दर्भ में उन्होंने कवि को प्रातिभ ज्ञान-सम्पन्न एवं नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से परिपूर्ण कलाकार माना है। यथा :

"कवि के लिए जिस बात की सबसे अधिक जरूरत होती है, वह प्रतिभा है।"[3] प्रतिभा-सम्पन्न कवि की रचना कविता को द्विवेदीजी ने एक ओर कान्तासम्मित उपदेश की दृष्टि से महत्ता दी है और दूसरी ओर शिवत्व की रक्षा भी इसका मुख्य उद्देश्य घोषित किया है। द्विवेदीजी ने काव्य में लोकहित, परिष्कृत आनन्द और भक्तिप्रेरक भावों के अभिनिवेश को ही उसका मूल प्रयोजन माना है। काव्य से प्राप्त होनेवाले आनन्द के बारे में उन्होंने लिखा है :

"जिस कविता से जितना ही अधिक आनन्द मिले, उसे उतना ही ऊँचे दरजे की समझना चाहिए।"[4]

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'संचयन', पृ० ६६।
२. देवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २९५।
३. 'सरस्वती', मार्च, १९०६ ई०, पृ० ९६।
४. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'संचयन', पृ० १५०।

परन्तु, आनन्दोपलब्धि के साथ-साथ लोकोपकार को भी उन्होने काव्य का प्रमुख लक्ष्य माना है। अर्थलाभ एवं यश प्राप्ति की दृष्टि से भी लोकहित की प्रवृत्ति से रचित काव्य का विशेष महत्त्व होता है। यथा :

भाषा है रमणी-रत्न महा-सुखकारी,
भूषण हैं उसके ग्रन्थ लोक उपकारी।
उनको लिख उसकी तृप्ति भलीविधि कीजै,
अति विमल सुयश की राशि क्यों न ले लीजै।[१]

आनन्द एवं लोकहित के प्रयोजन से रचित कविताओं को द्विवेदीजी विविध विषयों से परिपूर्ण देखना चाहते थे। हिन्दी-साहित्य की सर्वांगीण उन्नति के लिए उन्होंने विविध वर्ण्य विषयों के उपयोग की सलाह दी थी :

"जो जिस विषय का ज्ञाता है अथवा जो विषय जिसे अधिक मनोरंजक जान पड़ता है, उसे उसी विषय की ग्रन्थ-रचना करनी चाहिए। साहित्य की जितनी शाखाएँ हैं—ज्ञानार्जन के जितने साधन है—सभी को अपनी भाषा में सुलभ कर देने की चेष्टा करनी चाहिए।"[२]

इस कारण उन्होंने अपने युग के कवियों को नये-नये विषयों पर काव्य-रचना की प्रेरणा दी थी। 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' उनका एक ऐसा ही प्रेरक निबन्ध है। विषय की विविधता और उज्ज्वल भावों की भाँति कविता की कलात्मक परिष्कृति की भी द्विवेदीजी ने चर्चा की है और इस सन्दर्भ मे भाषा के प्रसाद गुण और उसकी परिष्कृति की ओर भी द्विवेदीजी ने विशेष ध्यान दिया है। भाषा के सरल, व्याकरणसम्मत एवं विषयानुकूल होने के सम्बन्ध में उनकी सूक्तियाँ द्रष्टव्य है :

"लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए।"[३]

"कविता लिखने मे व्याकरण के नियमों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए।"[४]

"विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना करनी चाहिए।"[५] काव्य-शिल्प के सम्बन्ध में भाषा के समान अन्य अलंकार आदि तत्त्वों का विवेचन द्विवेदीजी ने विस्तार से नहीं किया है। हाँ, छन्द-प्रयोग की सामान्य रूपरेखा निर्धारित करते हुए उन्होंने अतुकान्त काव्य का विवेचन किया है। वे छन्दों को कविता का बाह्य उपकरण मानकर उसमें भाव-सौन्दर्य की उपस्थापना को अधिक महत्त्व देते थे। इस प्रकार, आचार्य द्विवेदीजी

---

१. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३७३।
२. 'सम्मेलन-पत्रिका', चैत्र-वैशाख, सं० १९२०, पृ० ३१६।
३. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० २०।
४. उपरिवत्, पृ० १८।
५. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० १८।

के काव्य-सिद्धान्तों को हम संस्कृत की सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय परम्परा, युगीन परिवेश तथा पाश्चात्त्य समीक्षा-सिद्धान्तों से एक साथ प्रभावित देखते हैं। सुरेशचन्द्र गुप्त ने लिखा है :

"यद्यपि उन्होंने काव्य-प्रयोजन, काव्य-वर्ण्य और काव्य-शिल्प के विवेचन में उनसे (भारतेन्दु-युगीन कवियों से) यथावसर प्रेरणा और सामग्री ली है, तथापि एक ओर काव्यात्मा, काव्यहेतु, काव्याभाषा, काव्यानुवाद और काव्यलोचन के विवेचन में अपने पूर्ववर्त्ती कवियों के सिद्धान्तों को विकसित और समृद्ध किया है, और दूसरी ओर काव्यभेद, नायिकाभेद, समस्यापूर्त्ति और काव्य के अधिकारी का प्रथम बार उल्लेख कर हिन्दी-कवियों को काव्य-चिन्तन की नवीन दिशा दी है। उन्होंने अपने विचारों को संस्कृत, हिन्दी, अँगरेजी, उर्दू और मराठी के काव्यशास्त्र से भली भाँति समृद्ध किया है और युग की आवश्यकताओं के अनुकूल यथास्थान मौलिक सिद्धान्त-समीक्षा की है।"[१]

द्विवेदीजी की सैद्धान्तिक समीक्षा की आत्मा भारतीय है, परन्तु उन्होंने अपने काव्य-विवेचन में पाश्चात्य काव्यतत्त्वों के प्रारम्भिक तथा सरल रूपों का सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया है। युगबोध उनके इन सभी सिद्धान्तों के ऊपर अकुश की तरह लगा हुआ प्रतीत होता है। अपनी इन्हीं मान्यताओं के द्वारा उन्होंने अपने समकालीन हिन्दी-काव्य का नियमन किया एवं उसे आदर्शवादी, नीतिमूलक, इतिवृत्तात्मक नवीन मोड़ दिया। काव्य की ही भाँति द्विवेदीजी की साहित्य-विषयक मान्यताएँ भी आदर्श तथा उपयोगितावादी है। वे साहित्य को 'ज्ञानराशि का सचित कोष'[२] मानते थे। उन्होंने साहित्य को मनोरंजन तथा ज्ञानवर्द्धन के माध्यम के रूप में स्वीकार किया है। उनकी इस मान्यता में मानव-जीवन एवं परम्परा की उपलब्धि की संवलित विशिष्टता से साहित्य का सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा परिलक्षित होती है। कविता की ही तरह गद्य की विविध विधाओं का भी द्विवेदीजी ने अपने ढंग से विवेचन किया है। जैसे, उपन्यास को उन्होंने विविध विषयो के विस्तार का एक सहज माध्यम स्वीकार किया है :

'उसकी सहायता से सामान्य नीति, राजनीति, सामाजिक समस्याएँ, शिक्षा, कृषि, वाणिज्य, धर्म, कर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों के दृश्य दिखाये जाते हैं।'[३] परन्तु, वे कथा-साहित्य को विविध विषयों से परिपूर्ण होते हुए भी नैतिक आदर्शो से च्युत नहीं देखना चाहते थे। इसी कारण, उनकी तत्सम्बन्धी विवेचना भी नैतिक आदर्शो पर आधृत रही है। गद्य की अन्य विधाओं पर द्विवेदीजी के सिद्धान्तो का स्फुट प्रस्तुती-

१. डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त : 'आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त', पृ० १२५।
२. 'सम्मेलन-पत्रिका', चैत्र-वैशाख, सं १९८०, पृ० ३०७।
३. श्रीप्रभात शास्त्री : (सं०) 'संचयन', पृ० १४६।

करण ही हुआ है, परन्तु नाटक-विषयक अपने सिद्धान्तों का विवेचन उन्होंने 'नाट्य-शास्त्र' नामक अपनी पुस्तक में किया है। **शत्रुघ्नप्रसाद** ने लिखा है :

"भारतेन्दु के निबन्ध 'नाटक' के बाद यह हिन्दी में नाट्यशास्त्र की पहली पुस्तिका है। भारतेन्दु अपने निबन्ध में संस्कृत-नाट्यशैली को अपनाते हुए भी नवीन परिवर्त्तन के पोषक थे, ये पूरे-पूरे से संस्कृत-पद्धति के समर्थक हैं।"[1]

द्विवेदीजी ने इस पुस्तक मे अपनी नाटक-सम्बन्धी समस्त मान्यताओं को **भरत**-प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' तथा **धनंजय**-विरचित 'दशरूपक' पर निर्मित किया है। वे नाट्य-चिन्तन की प्राचीन भारतीय परम्परा के ही परिपालक थे। परन्तु, कहीं-कहीं उन्होंने परम्परित विचारों के स्थान पर नवीन चिन्तन को भी स्वीकार किया है। ऐसा उन्होंने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के चिन्तन के आधार पर किया है। जैसे, द्विवेदीजी ने वियोगान्त तथा युगानुरूप नाटकों की परम्परा से हटकर स्वीकृति दी है। इस प्रकार, नाटक, उपन्यास आदि गद्य की विविध विधाओं तथा काव्य, साहित्य के उपकरणों से सम्बद्ध सिद्धान्तों को द्विवेदीजी ने यथावसर प्रस्तुत किया है और इस सन्दर्भ में युगीन परिवेश के आवश्यकतानुसार भारतीय तथा पाश्चात्त्य मतों को ग्रहण किया है। उन्होने जहाँ एक ओर संस्कृत-साहित्य से विचार लिये हैं, वहाँ अँगरेजी से भी लेने की बात कही है :

> **इंगलिश का ग्रन्थ-समूह अतिभारी है,**
> **संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी हैं।**
> **इन दोनों में से अर्थरत्न लीजै,**
> **हिन्दी में अर्पण इन्हें प्रेमयुक्त कीजै॥**[2]

इस प्रकार, द्विवेदीजी के समीक्षा-सिद्धान्तों में भारतीय और पाश्चात्त्य, प्राचीन और नवीन मतों का उपयोगी मिश्रण परिलक्षित होता है। उनकी समीक्षात्मक कसौटी भाव, विषय और अभिव्यक्ति की दृष्टि से सामाजिक नैतिकता तथा हिन्दी-साहित्य की सर्वांगीण उन्नति के साथ अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है।

"साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र में युगानुरूप मार्ग-निष्कासन की दृष्टि से द्विवेदीजी का जितना महत्त्व है, हिन्दी-भाषा की समीक्षा के क्षेत्र में भी उनका महत्त्व उससे कम नहीं है। वे हिन्दी-भाषा के शीर्षस्थ समीक्षक तथा संस्कारक कहे जा सकते हैं। **डॉ० शिवकरण सिंह** ने लिखा है :

"विचारों से निर्भीक, चित्तवृत्ति से निरंकुश और भावना से राष्ट्रप्रेमी होने के कारण उनका भाषासुधार-सम्बन्धी विचार सर्वतोभावेन भाषा की उन्नति की

१. डॉ० शत्रुघ्नप्रसाद : 'द्विवेदीयुगीन हिन्दी-नाटक', पी-एच्० डी०. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, पृ० ७३७।

२. डॉ० कृष्णवल्लभ जोशी : 'नव्य हिन्दी-समीक्षा', पृ० १२ पर उद्धृत।

ओर उन्मुख हुआ। उनके इस प्रयत्न से कतिपय लोग नाराज भी रहे और उन्हें तरह-तरह के अपवादों का विषय बनना बड़ा, पर वे गज की मस्ती से अपने उद्देश्य की ओर निरन्तर बढ़ते रहे।''[१]

द्विवेदीजी के सात्त्विक स्पर्श से हिन्दी-भाषा का रूप परिवर्तित हुआ। उनके समय में हिन्दी का स्वरूप संस्कृतनिष्ठता, उर्दू, अँगरेजी, व्रजभाषा एवं अन्य दूषणों से बिगड़ गया था। उन्होंने हिन्दी को इन विकृतियों से बचाया और उसके निजी व्यवस्थित तथा सुस्पष्ट मार्ग का निर्देश किया। भाषा-सुधार उनके आलोचक एवं सम्पादकीय जीवन का प्रधान कर्म रहा। व्याकरण, शब्दविन्यास तथा अशोभन प्रयोगों जैसी गलतियों को वे बड़ी जल्दी पकड़ लेते थे। अपनी इसी सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा उन्होंने भाषा के सुधार का ऐतिहासिक कार्य किया और हिन्दी का एक नया सुरुचिपूर्ण रूप सामने रखा। भाषा-समीक्षा के इस कार्य में उनकी कतिपय समीक्षात्मक पुस्तकों की चर्चा उल्लेखनीय है, जिनमें द्विवेदीजी के भाषा और लिपि-सम्बन्धी विचारों का उपस्थापन हुआ है। इन पुस्तकों में 'हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति', 'साहित्यालाप' और 'वाग्विलास' की गणना की जा सकती है। अपनी भाषा-समीक्षा के द्वारा द्विवेदीजी ने भाषा के लिए जिस परिष्कृत सुधरे हुए रूप को निर्मित किया, वही उनकी सम्पूर्ण साहित्य-साधना का नवनीत कहा जा सकता है। द्विवेदीजी गद्य और पद्य की सभी विधाओं में हिन्दी के इसी निखरे हुए रूप के परिपालन का उपदेश वे अपने समसामयिकों को देते रहते थे, उसी का उन्होंने स्वयं भी उपयोग किया है। व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक समीक्षा की दिशा में भी उनकी भाषा का यही रूप मिलता है। इस सम्बन्ध में डॉ० **शंकरदयाल चौऋषि** ने लिखा है :

"आलोचना के क्षेत्र में उनकी भाषा अपेक्षया अधिक प्रखर, प्रवाहमयी व्यंग्यपूर्ण तथा चुटीली होती है। पहाड़ी झरने के सदृश उसमें गति, स्वाभाविकता और प्रक्षालन की शक्ति होती है। विशेषता इसमें यह रहती है कि उनके व्यंग्य और कटाक्ष भी उनकी प्रकृति के समान सरल, स्पष्ट तथा व्यावहारिक होते हैं, जिन्हें समझने में न तो समय लगता है, न श्रम। ओज, गाम्भीर्य तथा संयत भाषा की कठोर चट्टानों के मध्य से उनके व्यंग्य, कचोट और मसखरी के शीतल-मधुर निर्झर बहते रहते हैं। इन वाक्य-निर्झरों में कहीं भी गतिहीनता, लचरपन, अशुद्धि आदि अवांछनीय तत्त्वों का समावेश नहीं मिलता। उनके भाव स्पष्ट, विचार, सरल तथा भाषा साधु है।"[२]

---

१. डॉ० शिवकरण सिंह : 'आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी-साहित्य' पृ० ३८८।

१. डॉ० शंकरदयाल चौऋषि : 'द्विवेदी-युग का हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन' पृ० १६०।

भाषा की ही भाँति द्विवेदीजी की आलोचना-शैली भी उनकी परिचयात्मक तथा सैद्धान्तिक समीक्षाओं में पर्याप्त निखरी हुई तथा विषयानुकूल बनकर सामने आई है। द्विवेदीजी की आलोचना-शैली के स्पष्टतः दो प्रमुख रूप दीखते हैं :

१. तार्किक एवं गम्भीर शैली, तथा

२. व्यंग्यपूर्ण शैली।

अपनी सैद्धान्तिक स्थापनाओं में द्विवेदीजी ने प्रधानतः तार्किक एवं गाम्भीर्यपूर्ण शैली का ही प्रयोग किया है। अपने विरोधियों का मुँहतोड़ जवाब देने के लिए उन्होंने प्रायः तार्किक शैली का अनुसरण किया है और अपनी अथवा औरों की सैद्धान्तिक मान्यताओं को प्रस्तुत करने के लिए गम्भीर शैली का उपयोग किया है। इसी गम्भीर एवं तर्कपूर्ण शैली के दर्शन उनकी कतिपय परिचयात्मक समीक्षाओं में भी होते हैं। अपनी गाम्भीर्यपूर्ण शैली के लिए उन्होंने भाषा भी गम्भीर रखी है। परिचयात्मक आलोचना के क्षेत्र में ही द्विवेदीजी की व्यंग्यपूर्ण शैली का सर्वाधिक प्रसार दीखता है। आलोच्य रचना में कहीं दोष या वैपरीत्य देखते ही द्विवेदीजी ने उसके रचयिता पर व्यंग्य-बाणों की वर्षा की है। उनकी इस व्यंग्यपूर्ण शैली में हास्य का ही किंचित् पुट मिला हुआ है। उदाहरणार्थ :

"व्याख्याता महोदय ने एकमात्र दयानन्द सरस्वती को वेदों के सच्चे अर्थ का ज्ञाता बताया। औरों की आपने बुरी तरह खबर ली है। पश्चिमी देशों के ही वेदज्ञों की अल्पज्ञता और भ्रम का निर्देशन आपने नहीं किया, सायण तक को आपने वेदार्थ-ज्ञान में बिलकुल ही कोरा बताया है। शायद बिना ऐसी लताड़ के स्वामीजी महाराज की और आपकी वेदज्ञता साबित हो न पाती। खैर, अभागी भारत के सौभाग्य! से एक सच्चे वेदज्ञ का अवतार हो गया। आर्य समाज को बधाई।"[१]

'ऋग्वेद पर व्याख्यान' शीर्षक पुस्तक की समीक्षा करते समय द्विवेदीजी ने अपनी चुभती हुई हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली का सुन्दर प्रस्तुतीकरण इस अवतरण में किया है। अपनी इस व्यंग्यपूर्ण तथा तार्किक गम्भीर शैली द्वारा उन्होंने अपने आलोचनात्मक साहित्य का बहुविध गठन किया है।

स्पष्ट है कि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-भाषा एवं साहित्य के नियमन तथा दिशानिर्देश के उद्देश्य से अपने आलोचनात्मक साहित्य का निर्माण किया। अपनी परिचयात्मक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं द्वारा उन्होंने साहित्यिक प्रगति को एक नया मोड़ दिया। इस दिशा में उनकी आलोचना के दो प्रयोजन स्पष्ट होते हैं : संहारात्मक तथा सर्जनात्मक। द्विवेदीजी का सम्पूर्ण समीक्षा-साहित्य इन्हीं दोनों लक्ष्यबिन्दुओं पर आधृत है। उन्होंने एक ओर अपनी विभिन्न संहारात्मक आलोचनाओं के माध्यम से प्राचीन एवं नवीन लेखन के दोषों की ओर

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : विचार-विमर्श, पृ० २४१।

संकेत कर उनसे बचने का आदेश दिया और दूसरी ओर अपनी बहु-विस्तृत सर्जनात्मक कोटि की समीक्षाओं के द्वारा नवयुग के अनुकूल आदर्श उपयोगितावादी साहित्य की रचना के मानदण्ड उपस्थित किये । इस प्रकार, आचार्य द्विवेदीजी का आलोचना-साहित्य हिन्दी-आलोचना के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है । इसमें सम्पूर्ण द्विवेदी-युग की साहित्यशास्त्रीय मान्यताएँ छिपी हुई है तथा उसी में हिन्दी-साहित्य के मूल्यो-आदर्शो के युगान्तरकारी परिवर्त्तन का इतिहास भी समाविष्ट है ।

उपदेशमूलक आलोचना :

'रसज्ञरंजन' में संगृहीत आलोचनात्मक निबन्धों का सम्बन्ध साहित्य की विभिन्न विधाओं से न होकर केवल कविता से है । द्विवेदीजी 'कवि-कर्त्तव्य', 'कवि बनने के सापेक्ष साधन' आदि का विवेचन तो करते है, परन्तु न तो वे अन्यान्य विधाओं के प्रति सजग दीखते हैं और न प्रमाता के प्रति उतना जागरूक ही, जितना वे कवि की ओर है । 'कवि-कर्त्तव्य' की शैली नितान्त नीतिमूलक एवं उपदेशात्मक है। आलोचक का उद्देश्य कवि को यह बतलाना है कि उसकी कविता कैसी होनी चाहिए । उसका यह लक्ष्य कि पाठको को भी 'कवि-कर्त्तव्य' का ज्ञान हो, गौण-सा हो गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि 'कवि-कर्त्तव्य' की रचना सामान्य पाठकों के लिए न होकर उन कवियो के लिए हुई है, जिन्हे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान न था अथवा जो अपने कर्त्तव्य को विस्मृत कर चुके थे । 'कवि-कर्त्तव्य' का आलोचक कवि का पथप्रदर्शन बन जाता है और अभिजात आलोचकों की तरह कवि के उन कर्त्तव्य पर बल देता है, जिन्हें सम्भवतः वे विस्मृत कर चुके थे । अभिजात आलोचना कवि को विस्मृत तथ्यों का ज्ञान कराती है, वस्तुपरक होती है । जहाँ स्वच्छन्दतावादी आलोचना आत्मनिष्ठ होती है और आलोच्य रचना के प्रभावो के प्रति अत्यन्त संवेदनशील और उन्मुक्त भी, वही दूसरी ओर अभिजात आलोचना आलोच्य रचना के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण अपनाती हुई प्रभावो से अछूती रहने का प्रयास करती है । यही कारण है कि अभिजात आलोचना मे पुरुष-तत्त्व की प्रधानता होती है और स्वच्छन्दतामूलक आलोचना में स्त्री-तत्त्व की ।

इस सन्दर्भ में हम, उदाहरणार्थ, उन वाक्यों पर विचार कर सकते हैं, जिनका अन्त 'होना चाहिए' से होता है :

१. "अश्लीलता और ग्राम्यता-गर्भित अर्थो से कविता को कभी न दूषित करना चाहिए और न देश,काल तथा लोक आदि के विरुद्ध कोई बात कहनी चाहिए ।"
२. "कविता का विषय मनोरंजन और उपदेशात्मक होना चाहिए ।"
३. "गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए ।"

४. "विषय के अनुकूल शब्द-स्थापना करनी चाहिए।"
५. "कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिए।"
६. "जहाँतक सम्भव हो, शब्दों का मूल रूप न बिगाड़ना चाहिए।"
७. "शब्दों को यथास्थान रखना चाहिए।"
८. "आजकल की बोलचाल की हिन्दी की कविता उर्दू के विशेष प्रकार के छन्दों में अधिक खुलती है, अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छन्दयुक्त होना चाहिए।"
९. "सारांश यह कि कविता लिखते समय कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहना चाहिए।"
१०. "एक भाषा की कविता का दूसरी भाषा में अनुवाद करनेवालों को यह बात स्मरण रखनी चाहिए।"

इनके अतिरिक्त, 'कवि-कर्त्तव्य' में सहस्रों ऐसे वाक्य मिलते हैं, जिनका मूलभूत स्वर उपदेशमूलक है और जो कवि को लक्ष्य बनाकर लिखे गये हैं।

द्विवेदीजी की उपदेशमूलक आलोचना के महत्त्व को हम तद्युगीन साहित्यिक परिस्थितियों के सन्दर्भ मे भी आँक सकते हैं। इस प्रकार की आलोचनाएँ विशिष्ट परिस्थितियों की देन होती है और उनकी जड़ें उनमें ही आबद्ध पाई जाती हैं। जिस देश में और जिस-जिस युग में इन परिस्थितियों का आविर्भाव होता है उस-उस देश और काल में ऐसी समालोचनाओं का प्रणयन होता रहा है। रोजर ऐस्कम (Roger Ascham), पटनम (Puttenham), वेब (Webbe), चेक (Cheke) आदि पुनर्जागरण के अँगरेजी-आलोचक कुछ ऐसी ही आलोचनाएँ लिखते थे। द्विवेदीजी के समक्ष जो परिस्थितियाँ थीं, कुछ वैसी ही परिस्थितियों में उपर्युक्त अँगरेजी-आलोचकों ने कवि-कर्त्तव्य का ज्ञान कराया था। जब कवि अपना कर्त्तव्य भूल जाते हैं अथवा जब अपने शैशव में कविता अपक्व होती है, तब द्विवेदीजी जैसे सुधी आलोचकों का अवतरण होता है। ऐसे आलोचक कवि का पथ-प्रदर्शन करते हैं और साथ ही पाठकों को इस तथ्य का ज्ञान कराते हैं कि वे कवि से किन-किन बातों की अपेक्षा कर सकते हैं।

'कवि-कर्त्तव्य' जैसे निबन्धों का प्रभाव द्विमुखी, द्विस्तरीय होता है। इनसे पाठक को भी कवि-कर्त्तव्य का यथेष्ट ज्ञान हो जाता है और वह कवि से उन्हीं बातों की अपेक्षा करता है, जिनका सम्बन्ध कवि के कर्त्तव्य से है। इस प्रकार, आलोचक कवि का नहीं, अपितु पाठकों का भी पथ प्रदर्शक बन जाता है। वह पाठकों के अवचेतन में प्रविष्ट होकर उनके दृष्टिकोण को प्रभावित करता है और पाठक अनायास ही जान जाते हैं कि उन्हें कवि से किन-किन बातों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

'कवि-कर्त्तव्य' को परिभाषित करने के क्रम में द्विवेदीजी ने अनेकानेक महत्त्वपूर्ण स्थापनाओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। इन स्थापनाओं में उनकी

एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि स्वाभाविक कवि भी एक प्रकार के अवतार हैं।

"संसार में ईश्वर या देवताओं का अवतार कई प्रकार का और कई कारणों से होता है। अलौकिक कार्य करनेवाले प्रतिभाशाली मनुष्य भी अवतार है। स्वाभाविक कवि भी एक प्रकार के अवतार है। इसपर कदाचित् कोई प्रश्न करे कि अकेले कवि ही क्यों अवतार माने गये, और लेखक इस पद पर क्यों न बिठाये गये ? तो यह कहा जा सकता है कि लेखक का समावेश कवि में है, पर कवियों में कुछ ऐसी विशेष शक्ति होती है, जिसके कारण उनका प्रभाव लोगों पर बहुत पड़ता है। अब मुख्य प्रश्न यह है कि कवि का अवतार होता ही क्यों है ? पहुँचे हुए पण्डितों का कथन है कि कवि भी 'धर्मसंस्थापनार्थाय' उत्पन्न होते है। उनका काम केवल तुक मिलाना या 'पावसपचासा' लिखना ही नहीं। तुलसीदास ने कवि होकर वैष्णव-धर्म की स्थापना की है, मत-मतान्तरों का भेद मिटाया है और 'ज्ञान के पन्थ को कृपाण की धारा' बताया है। प्रायः उसी प्रकार का काम, दूसरे रूप में, सूरदास, कबीर और लल्लू-लाल ने किया है। हरिश्चन्द्र ने शूरता, स्वदेशभक्ति और सत्यप्रेम का धर्म चलाया है।"[1] निश्चय ही, इस स्थापना में और **सिडनी** प्रभृति आलोचकों के इस कथन में कि कवि पैगम्बर होता है, पर्याप्त साम्य है। द्विवेदीजी कवियों में 'कुछ ऐसी विशेष शक्ति' देखते हैं, जिसके कारण उनके मतानुसार, उनका प्रभाव व्यापक एवं गम्भीर होता है।

आलोचकों का एक प्रमुख वर्ग साहित्यकार के नैतिक दायित्व पर समधिक बल देता है और कहता है कि साहित्य का लक्ष्य आनन्द अथवा रस न होकर नीति या उपदेश है। साहित्य की सार्थकता साहित्य के लिए, प्रत्युत जीवन के लिए है। द्विवेदीजी फलवादी सत्समालोचक न होकर जीवनवादी और नीतिवादी है। उसके अनुसार, महान् कवि का अवतरण एक निश्चित उद्देश्य से होता है। द्विवेदीजी के 'अवतार' शब्द से धार्मिक अवतारों का स्मरण हो आता है। वस्तुतः, स्वयं द्विवेदीजी ने जान-बूझकर इस शब्द का प्रयोग किया है। और, धार्मिक अवतारों की याद दिलाई है। गीता के निम्नांकित श्लोक में कहा गया है कि सन्मार्ग में स्थित साधुओं के परित्राण के निमित्त, पाप कर्म में लीन रहनेवाले दुष्टों के विनाश और धर्म की स्थापना के लिए युग-युग में भगवान् का अवतार होता है :

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥[2]

---

१. रसज्ञरंजन (उपरिवत्), पृ० २६-२७।

२. गीता, ४।८।

अवतारों के मूल में 'धर्मसंस्थापनार्थाय' की भावना क्रियाशील होती है, और चूँकि कवि भी अवतार होता है, इसलिए उसका उद्देश्य भी साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश होना रहता है। यदि उसके काव्य से धर्म की संस्थापना न हो सकती, तो वह द्विवेदीजी के कथनानुसार निश्चय ही तुक मिलानेवाला और 'पावसपचासा' लिखनेवाला कवि है।

जिन कवि-अवतारो की 'धर्मसंस्थापनार्थाय' रची गई कविताओं के आधार पर द्विवेदीजी ने कवि को अवतार घोषित किया है, उनमें तुलसीदास का नाम अग्रणी है। द्विवेदीजी ने सगर्व उद्घोषणा की है कि "तुलसीदास ने कवि होकर वैष्णव-धर्म की स्थापना की है, मत-मतान्तरों का भेद मिटाया है और 'ज्ञान के पन्थ को कृपाण की धार' बताया है। प्रायः उसी प्रकार का काम, दूसरे रूप में, सूरदास, कबीर और लल्लूलाल ने किया है। हरिश्चन्द्र ने शूरता, स्वदेशभक्ति और सत्यप्रेम का धर्म चलाया है।"[1] तात्पर्य यह कि कवि किसी-न-किसी रूप में १. उपदेशक होता है, २. देश, काल, अवस्था और पात्र के अनुसार कविता करता है और ३. इस बात का खयाल रखता है कि उसकी रचना से पाठकों का मनोरंजन हो। अपने इन्हीं गुणों के कारण कवि संसार का कल्याण करते हैं—स्वयं अमर हो जाते हैं। विश्व के जिन कवियों ने अविनश्वर यश की उपलब्धि की है, वे तत्त्वतः उपदेशक रहे हैं।

यह सत्य है कि सभी उपदेशों और नीतिमूलक कथनों को काव्य की संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता। कवियों के दिये गये उपदेश जो 'कवि-कर्त्तव्य' शीर्षक निबन्ध में मिलते हैं, कविता नहीं है। आचार्यों और गुरुओं से प्राप्त नीरस, इतिवृत्तात्मक उपदेश हमारा मनोरंजन नहीं करते। उनमें न संगीत की स्वरमाधुरी होती है और न ललित पद-योजना ही, न अलंकारों की सहज कमनीयता होती है और न छन्दःशास्त्र के नियमों का पालन ही। वस्तुतः, कोरे उपदेश नीरस और उबानेवाले होते हैं। द्विवेदीजी कवियों को अवतार और उपदेशक तो कहते हैं, पर साथ ही उसके लिए कतिपय शर्त्तों का भी उल्लेख करने में संकोच नहीं करते। हम उसी कवि को अवतार कह सकते हैं, जो उपदेश तो दे ही, साथ हीं निम्नलिखित शर्त्तों का भी पालन करे।

१. कविता का विषय मनोरंजन हो।
२. कवि देश, काल, अवस्था और पात्र के अनुसार कविता करे।
३. कवि के सामने एक ऊँचा उद्देश्य अवश्य रहे।
४. अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा कवि अपनी जटिल अनुभूतियों को भी ऐसे अनोखे ढंग से प्रस्तुत करे कि वे सहज ही बोधगम्य हो जाय।

---

१. रसज्ञरंजन, पृ० २७।

५. इसी सत्य के द्वारा वह अपरिचित अनजाने पदार्थो अथवा दृश्यों का ऐसा मनोहर चित्र खीचे कि पाठक अथवा श्रोता एकाग्रचित्त हो जाय और चित्रित विषय पर प्रेमपूर्वक विचार करे।

६. कवि अपने अवलोकन और अपनी कल्पना से ऐसी शिक्षा देता है कि वह न तो आशा का रूप धारण करती है और न अपना स्वाभाविक रूखापन प्रकट करती है, किन्तु भीतर-ही-भीतर मन को उकसा देती है।[1]

७. मनोहर वर्णन और शिक्षा के साथ-साथ कवि अपने शब्द और वाक्य भी ऐसे मनोहर बनाता है कि पढ़नेवाले के आनन्द की सीमा नहीं रहती।[2]

जहाँ कवि में इन गुणो का होना अनिवार्य है, वहाँ द्विवेदीजी के अनुसार पाठकों में भी सहृदयता जैसे गुणों का होना अपेक्षित है। यदि पाठक सजग एवं सहृदय नहीं है, तो कविता चाहे कितनी भी उत्कृष्ट क्यों न हो, रसोद्रेक नही कर सकती। सहृदय एवं संवेदनशील पाठक ही कवि द्वारा संचारित रस में अवगाहन करने में समर्थ होता है, उसकी ही हृत्तन्त्री झंकृत हो सकती है। इसी प्रकार, कवि में भी सहृदयता की अपेक्षा होती है—ऐसी सहृदयता की, जो कवि के स्वर में अपूर्व माधुर्य एवं संगीत संचारित कर दे। इस सहृदयता के अभाव में कवि कवि नहीं रह जाता और न पाठक पाठक ही। हिन्दी की छायावादी और अँगरेजी की रोमाण्टिक कवियों की सहृदयता ख्यात है, पर हिन्दी के सन्त कवियो में भी इस गुण की प्रचुरता मिलती है। सहृदयता के लिए आवश्यक नहीं कि कवि के हृदय में स्थूल जगत् के प्रति, पार्थिव वस्तुओं के प्रति ही अगाध प्रेम हो। प्रेम यदि सूक्ष्म हो और भक्ति का रूप धारण कर ले, तब भी वह हृदय को उतना ही कोमल और कमनीय बना देता है, जितना पार्थिव प्रेम।

द्विवेदीजी ने जिन पाँच शर्तो के उल्लेख के अनन्तर 'कवि-कर्त्तव्य' शीर्षक निबन्ध का अन्त किया है, वे हैं :

१. कविता में साधारण लोगों की अवस्था, विचार और मनोविकारों का वर्णन हो।

२. उसमें धीरज, साहस, प्रेम और दया आदि गुणों के उदाहरण रहें।

३. कल्पना सूक्ष्म और उपमादिक अलंकार गूढ़ न हो।

४. छन्द सीधा, परिचित, सुहावना और वर्णन के अनुकूल हो।

इस शर्त्तो के सूक्ष्म विश्लेषण से जो कतिपय तथ्य प्रकट होते हैं, उनका लगे हाथों विचार कर लेना वांछनीय प्रतीत होता है। द्विवेजी के अनुसार कविता कुलीन और अभिजात लोगों से सम्बद्ध न होकर साधारण लोगों की अवस्था, विचार और मनो-

---

१. रसज्ञरंजन, पृ० २८।

२. उपरिवत्, पृ० २९।

विकारों से सम्बद्ध होती है। स्पष्ट ही, द्विवेदीजी जिस प्रकार कविता को परिभाषित करने का प्रयास कर रहे है, वह गीतिकाव्य है, न कि महाकाव्य। महाकाव्य और प्रबन्धकाव्य मे औदात्त्य का सम्यक् निर्वाह होता है और उनके पात्र ही नही, उनमें वर्णित घटनाएँ भी उदात्त हुआ करती है। औदात्त्य के परिपाक के लिए चमत्कार और असाधारण तत्त्वों का सन्निवेश हो जाता है। नायक की असाधारण वीरता, क्षमाशीलता, न्यायप्रियता आदि गुण प्रमाता को चमत्कृत कर डालते है। रोमाण्टिक प्रगीतो, जैसे **वर्ड्स्वर्थ** की कविताओं में, **पन्त** और **निराला** के गीतों में उदात्त की जगह साधारण का ही प्राधान्य मिलता है। किन्तु, यह आवश्यक नहीं कि जिस कविता में साधारण लोगों की अवस्था आदि का वर्णन हो, उसका प्रभाव भी साधारण रहे। कभी-कभी चिरपरिचित एवं अति सामान्य प्राकृतिक दृश्यों को देखकर कवि भाव-विभोर हो उठता है और उसकी लेखनी से कविता की जो रसधार फूट पड़ती है, उससे सहृदय पाठक विचलित हो उठता है, रससिक्त हो जाता है। कभी-कभी साधारण तत्त्वों के तालमेल से असाधारण कविता की सर्जना होती है और कभी-कभी साधारण लोगो की कविता असाधारण प्रभाव छोड़ जाती है। उदाहरण के लिए, पन्तजी द्वारा विरचित 'एकतारा', 'ग्रामश्री', 'झञ्झा में नीम' जैसी कविताएँ द्रष्टव्य है। वस्तुतः, प्रकृति के काव्य का कोई भी संकलन इसे प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त होगा कि विषय चाहे साधारण ही क्यों न हो, कवि की प्रतिभा उसमें असाधारणत्व की प्राण-प्रतिष्ठा कर देती है। जिस कविता में साधारण साधारण-मात्र रह जाता है और जिसमें उच्च कोटि की कविता की प्रभविष्णुता नहीं रहती, वह असफल रचना होती है। द्विवेदीजी कविता में अनोखेपन के हिमायती थे, इसका अनुमान उनके निबन्धों से अनायास ही हो जाता है। वे कवि-कर्त्तव्य में इस तथ्य को यह कहकर प्रकाशित करते है कि कवि अपनी कल्पना-शक्ति द्वारा कठिन बातों को अनोखे और सरल ढंग से पाठकों के सामने रखता है। वे नई कविता के उद्भावकों और सर्जकों की तरह उस दुरूहता का समर्थन नही करते, जिसके कारण कविता पहेली बन जाती है। वे शुक्लजी के उन विचारों का समर्थन करते हैं, जो उन्होंने 'कमिग्स' के सम्बन्ध में व्यक्त किये हैं। **शुक्लजी** कुछ वैसी ही सुबोधता को काव्य की उत्कृष्टता का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निकष बना लेते हैं। निस्सन्देह, उनके विचारो से नये आलोचक ही नही, उनके पाठकों का एक महत्त्वपूर्ण वर्ग भी असहमत होगा। कविता के पाठक एक तो ऐसे लोग नहीं होते, जिन्हें उसमें रुचि नहीं होती और जिस व्यक्ति में कविता के प्रति प्रेम होता है, उसे सम्भवतः साधारण नहीं कहना ही युक्तियुक्त होगा। वर्त्तमान युग में देश-विदेश में कविता के पाठकों की संख्या अत्यल्प हो गई है और दिन-प्रतिदिन अल्पात्यल्प होती जा रही है। वस्तुतः, कवि का लक्ष्य अपनी अनुभूतियों के प्रति यथाशक्य ईमानदार रहना चाहिए। इस ईमानदारी के फलस्वरूप यदि उसकी रचना बोधगम्य

नहीं रह जाती, तो वह द्विवेदीजी को भले ही अरुचिकर लगे और गर्हणीय बन जाय, किन्तु अनेकानेक उदार और सुधी आलोचक जिनकी सूझ और पैठ सर्वथा प्रशंसनीय मानी जाती है, उसका अभिनन्दन करेंगे। दूसरी बात ध्यातव्य है कि सहजता और दुर्बोधता दोनों ही सापेक्ष शब्द है। जिसे पाठको का एक वर्ग सुबोध कह सकता है, वही दूसरे वर्ग के लिए दुर्बोध प्रतीत होता है। छायावाद के आविर्भाव-काल मे अनेक तरुण पाठकों के लिए नई कविता नये युग की नव्यतर संवेदनाओं की अभिव्यक्ति थी और इसी कारण उनके लिए अभिनन्दनीय भी। जिन नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के लिए नई शैली और अभिव्यक्ति की नई भंगिमा का विनियोग हुआ था, उन भावनाओ से प्रभावित लोग छायावाद के समर्थक ये। किन्तु, जो इनसे अछूते रहे, जिनपर उनका प्रभाव न पड़ा, जो नई पीढ़ी के प्रति स्वभावतः अनुदार थे, उनके लिए वे भावबोध दुर्बोध और जटिल थे। आज की नई पीढ़ी की अपनी कविता है और अपनी विशिष्ट शैली भी। आज के नये कलाकारों का भावबोध नया है और इसी कारण उनकी कला भी नव्यता से मण्डित है। पुराने कलाकार पुरानी पीढ़ी और प्राचीन भावबोधों के अनद्यतन कवि न तो इस नई सृष्टि की मूलभूत अनुभूतियों का और न तो उनकी सम्प्रेषण-शैली का ही स्वागत कर सकते है।

किन्तु, उपर्युक्त आलोचना का यह अर्थ नही कि द्विवेदीजी की मान्यताएँ नितान्त दोषमुक्त हैं और न यही कि द्विवेदीजी न तो अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न आलोचक थे और न उच्च कोटि के प्रबुद्ध एवं तर्ककुशल साहित्यकार ही। द्विवेदीजी की सीमाएँ और उनके दोष मुख्यतः कालगत हैं और उनका सम्बन्ध स्थितियों से भी है, जिनमें द्विवेदीजी का अवतरण हुआ था। स्वयं द्विवेदीजी ने अपने युग को संक्रान्ति का युग कहा है। इस सन्दर्भ में उनका यह कथन कि 'हिन्दी-कवि का कर्त्तव्य है कि वह लोगों की रुचि का विचार रखकर अपनी कविता ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े-लिखे लोगों में भी पुरानी कविता के साथ-साथ नई कविता पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाय', विचारणीय है। उनके इसी कथन के आधार पर हम यह भी कह सकते है कि इस संक्रान्ति-काल मे हिन्दी का आलोचक भी लोगों की रुचि का विचार रखे और अपनी आलोचनाओं को यथासम्भव सहज और मनोहर बनाये।

द्विवेदीजी के कतिपय आलोचनात्मक निबन्ध तद्युगीन साहित्यिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए ऐतिहासिक पीठिका का निर्माण तो करते ही हैं, साथ ही उन कवियों और साहित्यिकारों की मनःस्थिति को प्रकाशित करते हैं, जिनकी कालजयी रचनाएँ हिन्दी-साहित्य का अविच्छिन्न अंग बन चुकी है। 'कवि बनने के सापेक्ष साधन' शीर्षक निबन्ध का आरम्भ द्विवेदीकालीन साहित्यिक वातावरण के सम्यक् विवरण से होता है और कहा जाता है कि 'आजकल हिन्दी के कवियों ने बड़ा जोर पकड़ा है।

जिधर देखिए, उधर कवि-ही-कवि। जहाँ देखिए, वहाँ कविता-ही-कविता।'[1] निःसन्देह, जहाँ इस कथन की यथातथ्यता मे सन्देह नही, वहाँ इसमें कुछ अतिशयोक्ति भी दीख पड़ती है, जिसे आचार्य द्विवेदी ने यहाँ कविता की अभिधा प्रदान की है, वह वस्तुतः तुकबन्दी-मात्र थी और जिसे उन्होंने कवि की संज्ञा प्रदान की है, वह वस्तुतः तुक बैठानेवाला 'अकवि' ही रहा होगा। फिर भी, उस युग में ऐसे भी कवि थे, जिनकी रचनाएँ किसी भी साहित्य के लिए गौरव का विषय बन सकती है और जिन्हें रचकर कोई भी कवि गौरवान्वित हो सकता है, उस युग में ही छायावाद का ऐतिहासिक अवतरण हुआ था और उस युग के साहित्याकाश पर ही छायावाद के मूर्धन्य कलाकार अपनी देदीप्यमान रचनाओं को लेकर प्रकट हुए थे। द्विवेदीजी की उपर्युक्त पंक्तियाँ इन कवियों को भी उसी श्रेणी में समेट लेती है, जिनमे हम तुकबन्दी करनेवाले कवि-नामधारी व्यक्ति को रखते हैं। कवि बनने के लिए जिन सापेक्ष साधनों की अपेक्षा थी और रहेगी, वे नवोदित कवियों मे अल्पाधिक मात्रा में वर्त्तमान थे। **पन्त, निराला** और **महादेवी** मे प्रतिभा थी और साथ ही कविसुलभ संवेदनशीलता भी, उनमें अनुभूति की तरलता और भावाभिव्यक्ति मे यथोचित नैपुण्य उपलब्ध था। परन्तु, जिन अनुभूतियो में उनकी कविताएँ आबद्ध थी, वे अनुभूतियाँ कुछ रहस्यात्मक, कुछ दुर्बोध और कुछ विचित्र होती थीं। द्विवेदीजी सरलता और सम्प्रेषणीयता के पक्षपोषक थे और दुरूहता एवं क्लिष्टता इस कारण सन्दिग्ध थी कि उनके कारण कविता की प्रषणीयता लुप्त हो जाती है। जिस कविता को अधिकाधिक पाठक न समझ पायें, वह, द्विवेदीजी की दृष्टि में अवर समझी जायगी। इसका सीधा अर्थ यह है कि कविता सम्प्रेषणीय हो, कवि प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति हो और साथ ही सहृदय भी।

द्विवेदीजी ने कवि बनने के लिए जिन सापेक्ष साधनों का उल्लेख किया है, उनका आधार **क्षेमेन्द्र** का 'कविकण्ठाभरण' नामक ग्रन्थ है। चूँकि क्षेमेन्द्र स्वयं भी कवि थे, इसलिए उनकी एतद्विषयक मान्यताओं में पर्याप्त प्रमाणिकता दीख पड़ती है। क्षेमेन्द्र की मान्यताओं से द्विवेदीजी पूर्णतया सहमत हैं और चाहते हैं कि हिन्दी के कवि क्षेमेन्द्र की बातों पर ध्यान दें:

१. कवित्व-शक्ति
२. शिक्षा
३. चमत्कारोत्पादन
४. गुणदोष-ज्ञान
५. परिचय-चारुता

१. **कवित्व-शक्ति** : कवि के लिए इस शक्ति की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। इसे भी भारतीय काव्यशास्त्र में कारयित्री प्रतिभा की संज्ञा दी गई है और इसके सम्बन्ध

---

१. रसज्ञरंजन, पृ० २९।

में शास्त्रविदों का कथन है कि कविता के लिए यह प्रतिभा ही उद्गम-स्रोत है। इससे उच्च कोटि की कविताएँ स्वतः निःसृत होती हैं। इसके अभाव में कविता प्रयासजन्य एवं कृत्रिम वाग्जाल-मात्र हो जाती है। इसलिए, कई आचार्यो ने प्रतिभा को कवि के लिए उपयोगी साधनों मे सर्वोपरि स्थान दिया है। कुछ अन्य रीतिकारों के कथनानुसार, प्रतिभा ही पर्याप्त नहीं, उसके साथ अभ्यास और रीतिशास्त्र का अल्पाधिक ज्ञान भी अत्यावश्यक है।

द्विवेदीजी को कवित्व-शक्ति की उपादेयता एवं अनिवार्यता में कथमपि सन्देह नहीं, परन्तु वे यह भी जानते हैं कि सभी कवियों मे यह शक्ति समान रूप से नही पाई जाती। किसी-किसी मे यह शक्ति बीजरूप में रहती है और इसी कारण उसे अंकुरित करना पड़ता है। द्विवेदीजी ने यह स्वीकार किया है कि जिसमें कवित्व-शक्ति का सर्वथा अभाव होता है, वह अच्छा कवि नही हो सकता। उन्होने 'कवित्व-शक्ति' के स्फुरण के लिए दो उपायों की ओर इंगित किया है। ये उपाय हैं दिव्य और पौरुषेय। दिव्य उपाय मे सरस्वती देवी की कृपापात्रता के लिए मन्त्रजप करना, उसकी मूर्त्ति का ध्यान करना और उसके यन्त्र का पूजन करना आदि सम्मिलित है। इसमें सन्देह नही कि द्विवेदीजी की यह विचारधारा— उनका यह मतवाद कि कतिपय दिव्य उपायों की सहायता से 'कवित्व-शक्ति' जाग्रत् की जा सकती है, तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक नही है। सरस्वती के पूजन और मन्त्रजप से यदि कवित्व-शक्ति का उन्मेष हो पाता, तो विश्व में महान् कवियों की बाढ़ आ जाती। प्रत्येक विद्यार्थी अपनी उत्तर-पुस्तिकाओं में कविताएँ प्रस्तुत करता और सब-के-सब कवि हो गये होते। किन्तु, हम जानते हैं कि 'कवित्व-शक्ति' जन्मजात होती है और पौरुषेय उपायों से ही उसमें यत्किंचित् परिपक्वता आ सकती है। तथाकथित दिव्य साधन अन्धविश्वास से उद्गत जान पड़ते हैं। किन्तु, द्विवेदीजी जिसे दिव्य उपाय कहते हैं, वह सर्वथा निरर्थक नहीं है। स्मरण रखना होगा कि वे 'कवित्व-शक्ति' के उदय के उपाय न बतला कर उसको जाग्रत् करने के उपायों की चर्चा करते है। वे उस व्यक्ति के लिए दिव्य उपायों का उल्लेख करते हैं, जिसमें 'कवित्व-शक्ति' पहले से मौजूद है। जिसमे इस शक्ति का नितान्त अभाव है, उसके लिए न तो दिव्य उपाय कारगर हो सकते है और न पौरुषेय ही।

द्विवेदीजी पौरुषेय उपायों में काव्यशास्त्र के अध्ययन को उतना ही महत्त्व देते हैं, जितना किसी अच्छे कवि को गुरु बनाने को। पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र मे भी अनुकृति के सिद्धान्त की भिन्न-भिन्न विवृतियाँ होती रही हैं, जिनमें यह भी मान्यता लोकप्रिय नहीं है कि नवोदित कवियों को अनुकृति से अपनी रचनाओं का आरम्भ करना चाहिए और शनैः-शनैः मौलिकता की ओर अग्रसर होना चाहिए। महाकवि को अपना गुरु मानकर नवोदित कवि अपनी शैली का विकास करे और उसे सिद्ध कवि की शैली के

अनुरूप बनाये। द्विवेदीजी के अनुसार काव्यशास्त्र के अध्ययन से अपनी 'कवित्व-शक्ति' का विकास करनेवाले शिष्य तीन प्रकार के होते हैं : अल्पप्रयत्नसाध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य।

कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदीजी के द्वारा उपन्यस्त यह वर्गीकरण क्षेमेन्द्र के कविकण्ठाभरण से उद्धृत है। भारतीय आचार्य यह कहते हैं कि कतिपय शिष्य अल्प प्रयत्न से ही काव्यकला में पारंगत हो जाते है और कुछ (शिष्य) 'वर्षों सिर पीटने पर भी' कुछ नहीं कर पाते। शिष्यों का एक वर्ग विशेष परिश्रम करने से काव्यकला में नैपुण्य प्राप्त कर लेता है। प्रथम कोटि अल्पप्रयत्नसाध्य, द्वितीय कोटि कृच्छ्रसाध्य एवं तृतीय कोटि असाध्य शिष्यों की है। द्विवेदीजी ने प्राचीन मतवादों का आश्रय लेकर अल्पप्रयत्नसाध्य शिष्यों के कर्त्तव्य का सविस्तर विवरण प्रस्तुत किया है। जिस युग में कवियों की एक अटूट शृंखला दीख पड़ती हो, उनकी बाढ़ आ गई हो, पर साथ ही कविता के नाम पर तुकबन्दियाँ हो रही हों और सन्त कवि उपेक्षित हो रहे हों, उस युग के लिए द्विवेदीजी का यह विवरण अत्यन्त प्रासंगिक एवं समीचीन जान पड़ता है। खडी बोली की कविता के विकास-काल में, जबकि देश के कोने-कोने में राष्ट्रीय जागरण की भावना वड़ी व्याप्त थी और जनसाधारण में इस भावना का उन्मेष हो चुका था, कवि बनने की लालसा भी —यश और जयत्व पाने की अभिलाषा भी बहुतों के हृदय में उन्मीलित हो चुकी थी। ऐसे समय में प्रोत्साहन की आवश्यकता कम, अनुशासन की अपेक्षा अधिक होती है। द्विवेदीजी की आलोचना यदि प्रोत्साहन है, तो अंकुश भी। यह उनलोगों के लिए प्रोत्साहन थी, जिनमें 'कवित्व-शक्ति बीजरूप से' निहित थी। उनका लक्ष्य इस शक्ति को 'अंकुरित' करना था।' जिन कवियों में इस शक्ति का सर्वथा अभाव था, पर जो असाध्य होकर भी तुकबन्दी करने में दत्तचित्त थे, उनके लिए उनकी आलोचना निःसन्देह अंकुश थी।

'कवित्व-शक्ति' के जिस विशद वर्णन का उल्लेख हम कर रहे है, उसकी प्रासंगिकता इसी कारण असन्दिग्ध है। कुछ कवि नामधारी व्यक्ति का दुरुपयोग कर रहे थे और कुछ इसके अभाव में मात्र तुकबन्दी। प्रस्तुत निबन्ध के माध्यम से द्विवेदीजी यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि कवि में प्रतिभा और सर्जना-शक्ति होना अनिवार्य है। कवि की यह शक्ति अपने-आप में एक स्थायी मानदण्ड है। जिस कविता में अत्यधिक आयास हो, जिसकी पंक्तियाँ रुक-रुक कर चलती हों, जिसमें प्रवाह न हो, वह ऐसे कवि की रचना है, जिसमें 'कवित्व-शक्ति' नहीं।

आचार्य द्विवेदी और छायावाद :

कहा जा चुका है कि द्विवेदीजी न केवल परिनिष्ठित सम्पादक थे, वरन् एक उच्च कोटि के शास्त्रनिष्णात समीक्षक भी थे। सम्पादक के रूप में ही नहीं, आलोचक के रूप में भी हिन्दी-वाङ्मय के संवर्द्धन के लिए उन्होंने उदीयमान लेखकों को यथाशक्य प्रोत्साहित

किया, उनके निबन्धों का परिष्कार किया, उनकी भाषाशैली सुधारी और स्वयं भी विचारोत्तेजक आलोचनात्मक निबन्ध रचे। उनके निबन्धों के आधुनिक अध्येता को उनमें उस कसावट की अनुभूति भले ही न हो, जो विश्व के वरेण्य आलोचकों की रचनाओं में मिलती है, पर वे अत्यन्त विचारोद्‌बोधक अवश्य होते हैं। उच्च कोटि की आलोचना-शैली कसी हुई होनी चाहिए। उसमें भावों या विचारों की पुनरुक्तियाँ न हों और प्रत्येक महत्त्वपूर्ण स्थापना के लिए पर्याप्त उदाहरण प्रस्तुत किये जायँ। द्विवेदीजी परिपक्व गद्यशैली के इन गुणों से सर्वथा परिचित थे। फिर भी, किसी बात पर बल देने के निमित्त वे उसे दुहराना, उसकी पुनरावृत्ति करना स्वाभाविक समझते हैं।

'साहित्यालाप' के अट्ठारह निबन्धों मे कुछ ही ऐसे निबन्ध हैं, जिनका आलोचनात्मक महत्त्व है। इस संग्रह का अन्तिम निबन्ध, जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, छायावादी कवि और कविता के प्रति द्विवेदीजी के दृष्टिकोण को प्रोद्‌भासित करता है। इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी छायावादी निकाय के कवियों के प्रति अनुदार हैं और नव्य के अभिनन्दन के लिए अप्रस्तुत भी। इस कारण १. उनके इस निबन्ध का महत्त्व ऐतिहासिक-मात्र हैं। फिर भी, इसकी स्थापनाएँ विवादास्पद होकर भी उपेक्ष्य नहीं हैं, इसमें न केवल द्विवेदीजी के दृष्टिकोण का आभास मिलता है, वरन् साथ ही उस युग-विशेष की अभिवृत्ति का भी आभास होता है, जिसमें छायावाद का अभ्युदय हुआ था। २. महावीरप्रसाद द्विवेदीजी की इस आलोचना में नव्यता के प्रति जो सन्देह प्रतिबिम्बित हुआ है, वह कुछ अंशों में स्वाभाविक प्रतीत होता है। विश्व-साहित्य में ऐसी आलोचना के अनेकानेक उदाहरण भरे पड़े है। जब इँगलैण्ड में उस रोमाण्टिक काव्य-धारा का अवतरण हुआ, जिससे हिन्दी की छायावादी कविता अनुप्राणित है, जब **वर्ड्‌स्वर्थ** और **कोलरिज** के रोमाण्टिक प्रगीत प्रकाशित हुए, तब उनके समसामयिकों ने कुछ ऐसी बातें कही थी, जैसी द्विवेदीजी ने छायावादी कवियों के सम्बन्ध में कही है। नई कविता अपनी नवीनता के कारण ही दुरूह और अस्पष्ट होती है। पुरानी कविता के अध्ययन से निर्मित हमारी अभिरुचि नई रचनाओं के अभिनन्दन के लिए तैयार नही रहती। भाव और शिल्प की नव्यता, नव्यातिनव्य बिम्बों की शृंखला, वस्तु-जगत् को देखने की अभिनव शैली सन्देह की दृष्टि से देखी जाती है। परन्तु, स्मरणीय है कि प्रत्येक युग की अपनी विशिष्ट अभिव्यंजना-शैली और अपना विशिष्ट जीवन-दर्शन होता है। प्रत्येक युग की कलाकृतियाँ युगसत्य से प्रभावित होने के कारण प्राग्भूत कलाकृतियों से भिन्न हुआ करती है। यह युगसत्य एवं कलाकार की परिवर्त्तित चेतना का प्रभाव ही है, जो सभी कलाकृतियों को किसी-न-किसी प्रकार का वैशिष्ट्य प्रदान करती है। नई कविता की भी वैसी ही आलोचना हुई है, जैसी छायावादी कवियों की हुई थी।

कभी-कभी विश्व के निर्वैयक्तिक एवं वस्तुनिष्ठ आलोचक भी वैयक्तिक अभिरुचि की अवहेलना नही कर पाते। नव्यशास्त्रवादी **जॉनसन** ने 'मेटाफिजिकल' कवियो की आलोचना इस कारण भी की थी कि इन कवियों की रचनाएँ नव्यशास्त्रवाद के सिद्धान्तो पर आधृत न होकर मौलिक होने का दावा करती थीं। नव्यशास्त्रवाद प्रतिभा और मौलिक सर्जना मे विश्वास नही करता, वह अभिजात नियमों के पालन और अनुकृति में विश्वास करता है। सत्रहवी शताब्दी मे 'मेटाफिजिकल' कवियो ने नये-नये बिम्बों की सर्जना और सम्प्रेषण की जटिलतर पद्धतियों की उद्‌भावना की थी। उनकी मौलिक भावाभिव्यक्ति जॉनसन के लिए अरुचिकर थी।

द्विवेदीजी का 'आजकल के छायावादी कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध समीक्षक के प्राय: समस्त गुणों और उसके कतिपय दोषों का सफल प्रतिनिधित्व करता है। जहाँ द्विवेदीजी का उत्कट भाषाप्रेम स्तुत्य है, वही उनकी अनुदारता कदाचित् गर्हणीय भी है। जहाँ उनकी भाषाशैली की प्रभावोत्पादकता प्रशंसनीय है, वहीं उनका प्रभावाभिव्यंजन सर्वथा आपत्तिजनक भी। जहाँ उनका व्यंग्य स्पृहणीय है, वहाँ उनकी पुनरुक्तियाँ खटकती है। "कौन ऐसा सरसहृदय श्रोता होगा, जो यह कविता सुनकर लोट-पोट न हो जाय ? भगवद्‌भक्त तो इसे सुनकर अवश्य ही मुग्ध हो जायेंगे। अन्य रसिकों पर भी इसका असर पड़े बिना ही न रहेगा। कितनी ललित, प्रसादपूर्ण और कर्णमधुर रचना है। इसमें जो भाव निहित है, वह सुनने के साथ-साथ ही समझ में आ जाता है। यह इसकी बड़ी खूबी है।"[1]

एक स्थल पर द्विवेदीजी ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि छायावादी कवि अपनी कविता का मतलब दूसरों को समझा नहीं पाते। जब अपने आदर्श गणतन्त्र के कवियों को निष्कासित करने की समस्या पर **प्लेटो** ने विचार किया, तब उसने अन्यान्य तर्कों के साथ एक यह भी तर्क उपस्थित किया कि कवि अपनी कविताओं के अर्थ समझा नही पाते; क्योंकि उनकी कविताएँ उस मन:स्थिति से उद्‌भूत होती है, जिनमे कवि को स्वयं का ज्ञान नहीं रह जाता।

कविता प्रेरणाप्रसूत सर्जना है, इसलिए कवि उस क्षण में कविता रचता है, जब वह आत्मविभोर हुआ रहता है। द्विवेदीजी का लक्ष्य छायावादी कवियों को हिन्दी-साहित्य से निष्कासित करना नहीं है, प्रत्युत यह दिखाना है कि उच्च कोटि का काव्य-सर्जक यह जानता है कि उसके लिए कौन-सी शैली समीचीन है और उसे किन-किन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करनी है। द्विवेदीजी की समीक्षा, तत्त्वत: प्रभावाभिव्यंजक (इम्प्रेसनिस्टिक) न होकर विश्लेषणात्मक और तथ्यपरक ही अधिक होती है। परन्तु, छायावादी कवियों पर लिखते समय वे स्वभावत: आत्मनिष्ठ हो जाते हैं और विश्लेषण-

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'साहित्यालाप', पृ० ३४८।

मूलक ससीक्षा के स्थान पर भावोद्गार प्रकट करने लगते हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि एक ओर तो छायावादी कविता की नवीनता और शिल्पगत मौलिकता, जिसपर पाश्चात्त्य रोमाण्टिसिज्म का भी प्रभाव दृष्टिगत होता है, उनमें सन्देह का उद्रेक करती है, दूसरी ओर उनके काव्यगत आदर्श उन्हे ऐसी आलोचना लिखने के लिए प्रेरित करते है। द्विवेदीजी की अभिरुचि जिन कविताओं से पोषित हुई थी, वे छायावादी कविताओं से नितान्त भिन्न थीं। जहाँ उनके मनोनुकूल कवियो की रचनाएँ सरल होती थी, वहाँ उनके अनुसार, छायावादी कविता 'क्लिष्ट कल्पनाओं और शुष्क शब्दाडम्बर' पर आधृत 'विजृम्भण'-मात्र होती है। जहाँ उत्कृष्ट कविताओं में सरल भावों का सम्प्रेषण होता है, वहाँ छायावादी कविताएँ अस्पष्ट और दुरूह होती हैं।

"गद्य हो या पद्य, उसमे से जो कुछ कहा गया हो, वह श्रोता या पाठक की समझ में आना चाहिए। वह जितना ही अधिक और जितना ही जल्दी समझ में आवेगा, गद्य या पद्य के लेखक का श्रम उतना ही अधिक और उतना ही शीघ्र सफल हो जायगा। जिस लेख या कविता में यह गुण होता है, उसकी प्रासादिक संज्ञा है। कविता में यदि प्रसाद गुण नही, तो कवि की उद्देश्य-सिद्धि अधिकांश में व्यर्थ जाती है। कवियों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए। जो कुछ कहना हो, उसे इस तरह कहना चाहिए कि वह पढ़ने या सुननेवालों की समझ में तुरन्त ही आ जाय।"[1]

विवेच्य निबन्ध को महत्त्वपूर्ण मानने का एक और कारण है। इसमें द्विवेदीजी ने छायावादी कवियों की आलोचना ही नहीं की है, वरन् कविता-सम्बन्धी अपनी आधारभूत मान्यताओं का भी उल्लेख किया है। द्विवेदीजी काव्य-प्रयोजनों में ख्याति, धनार्जन और मनोरंजन का उल्लेख करते है। उनका कथन है कि कविता ख्याति के लिए, यश:प्राप्ति के लिए की जाती है। उन्होंने तुलसीदास के सन्दर्भ में एक और प्रयोजन का उल्लेख किया है और बताया है कि कविता स्वान्त:सुखाय भी हो सकती है। 'परमेश्वर का सम्बोधन करके कोई कवि आत्मनिवेदन भी, कविता द्वारा ही, करता है। पर ये बातें केवल कवियों ही के विषय में चरितार्थ होती है। अस्मदादि लौकिक जन तो और ही मतलब से कविता करते या लिखते है और उनका वह मतलब ख्याति, लाभ और मनोरंजन आदि के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता।'[2] द्विवेदीजी को विश्वास है कि कविता अपने उद्देश्य मे तभी सिद्ध होती है, जब उसका भावार्थ 'दूसरों की समझ में झट आ जाय।' कविता का प्रसाद गुण ही

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'साहित्यालाप', पृ० ३३७-३८।

२. उपरिवत्, पृ० ३२७।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गुण है। जिस कविता का आशय अस्पष्ट हो, उससे, द्विवेदीजी के मतानुसार, प्रमाता का मनारंजन नहीं हो सकना, 'न उसे सुनकर सुननेवाला कवि का अभिनन्दन ही कर सकेगा और जब उसके हृदय पर कविता का कुछ असर ही न होगा, तब वह कवि को कुछ देगा क्यों ?'[१] सफल रचनाएँ सरल ही नहीं होतीं, वरन् सभी प्रकार के अनावश्यक अलंकारों से भी मुक्त होती हैं। आडम्बरहीन, प्रसादगुण-सम्पन्न एव ओजस्वी रचनाएँ ही अपनी प्रभविष्णुता के कारण प्रमाता को विमुग्ध करती हैं। ऐसी रचनाएँ ही पाठक को स्वतः आकृष्ट करती हैं। द्विवेदीजी ने इसी भाव को यह कहकर प्रकट किया है कि—'सत्कवि के लिए आडम्बर की मुतलक ही जरूरत नहीं। यदि उसमें कुछ मार है, नो पाठक और श्रोता और स्वयं ही उसके पास दौड़े जायेंगे। आम की मंजरी क्या कभी भौंरों को बुलाने जाती है ?—न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।'[२]

द्विवेदीजी के मतानुसार, कवित्व-शक्ति दुर्लभ और विरल होती है। जिन कवियशोलिप्सुओं में प्रतिभा नहीं होती, वे कभी सफल कवि नहीं हो सकते। अध्ययन और अभ्यास से कवि बना जा सकता है, परन्तु प्रतिभा के बिना 'मनुष्य अच्छा कवि नहीं हो सकता।'[३] इस स्थल पर आचार्य द्विवेदीजी ने महाकवि क्षेमेन्द्र से अपनी सहमति प्रकट की है और उनकी पुस्तक 'कविकण्ठाभरण' पढ़ने का परामर्श दिया है : "वर्त्तमान कविमन्यों को चाहिए कि वे उसे पढ़ें, स्वयं न पढ़ सकें, तो किसी संस्कृतज्ञ से पढ़वाकर उसका आशय समझ लें। ऐसा करने से, आशा है, उन्हें अपनी त्रुटियों और कमजोरियो का पता लग जायगा।"[४] परन्तु, द्विवेदीजी यह भी स्वीकार करते हैं कि जहाँ कवित्व-शक्ति अनिवार्य है, वहाँ वह अपने-आप में पूर्णरूपेण पर्याप्त नहीं है। जिस व्यक्ति में कवित्व-शक्ति हो, उसे भी 'पूर्ववर्त्ती कवियों और महाकवियों की कृतियों का परिशीलन करना चाहिए और कविता लिखने का अभ्यास भी कुछ समय तक करना चाहिए।'[५]

द्विवेदीजी के ये काव्य-सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र की वरिष्ठ परम्परा में न्यस्त हैं। उन्होंने छायावादी काव्य के जिन दोषों की ओर संकेत किया है, वे युग-युग से काव्यदोष माने जाते रहे हैं। भरत के नाट्यशास्त्र में काव्य के जिन दस दोषों का उल्लेख मिलता है, उनमें गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ आदि-आदि दोष

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'साहित्यालाप', पृ० ३२८।

२. उपरिवत्, पृ० ३३१-३२।

३. उपरिवत्, पृ० ३३३।

४. उपरिवत्।

५. उपरिवत्।

बड़े महत्त्व के हैं। इसी प्रकार, **भरतमुनि** के अनुसार प्रसाद, माधुर्य, ओज, पद-सौकुमार्य आदि गुण उल्लेखनीय हैं। 'काव्यालंकार' के रचियता **भामह** ने कहा कि 'बुद्धिमान् लोग माधुर्य और प्रसाद को चाहते हुए समासयुक्त बहुत पदों का प्रयोग नहीं करते।' दण्डी ने वैदर्भ मार्ग के जिन दस गुणों का उल्लेख किया है, उनमें प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता आदि गुण भी समाहित हैं।

द्विवेदीजी की काव्यहेतु-सम्बन्धी अवधारणाएँ भी भारतीय काव्यशास्त्र की चिरपरिचित अवधारणाएँ हैं। **भामह** ने तो साफ-साफ कहा है कि गुरु के उपदेश से तो जडबुद्धि भी शास्त्र पड सकता है, किन्तु काव्य तो किसी प्रतिभाशाली से ही बन पाता है। इसी कारण भारतीय काव्यशास्त्र मे इस प्रतिभा को नवनवोन्मेष-शालिनी बुद्धि कहा गया है। भामह भी काव्यसाधनों की चर्चा करते हुए इस तथ्य की उद्घोषणा करते हैं कि काव्य-रचना के अभिलाषी पुरुष को शब्द, छन्द, कोष-प्रतिपादित अर्थ, ऐतिहासिक कथाएँ, लोकव्यवहार-युक्ति और कलाओं का मनन करना चाहिए। एक अन्य कारिका मे उन्होंने अभ्यास पर बल देते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर काव्यज्ञों की उपासना कर और अन्य लेखकों की रचनाओं को देखकर काव्य-प्रणयन में प्रवृत्त होना चाहिए। **दण्डी** भी पूर्वजन्म के संस्कारों से सम्पन्न ईश्वरप्रदत्त स्वाभाविक प्रतिभा को कवित्व-शक्ति का आधार मानते है, पर साथ ही विविध विशुद्ध ज्ञान से युक्त अनेक शास्त्रों के ज्ञान को तथा अत्यन्त उत्साहपूर्ण दृढ़ अभ्यास को कवि के लिए अनिवार्य घोषित करते हैं। **दण्डी** उन प्राचीन आचार्यों में परिगणित होते हैं, जिनके अनुसार व्युत्पत्ति प्रतिभा का स्थान भले ही न ले, पर उससे 'वाग्देवी सरस्वती निश्चय ही अलभ्य अनुग्रह करती ही है।' इस कारण दण्डी की सलाह है कि कवित्व-जनित यश चाहनेवालों को आलस्यरहित होकर श्रमपूर्वक वाग्देवी सरस्वती की निरन्तर उपासना करनी चाहिए। आचार्य द्विवेदी प्रतिभा को कवित्व-शक्ति का मूल अथवा बीज मानते हैं, परन्तु दण्डी के अनुसार काव्य-निर्माण का सामर्थ्य कम होने पर भी काव्यानुशीलन के प्रयास में परिश्रमी मनुष्य पण्डित-मण्डलियों में रसास्वादन करने में समर्थ होते हैं। द्विवेदीजी की, काव्यहेतु एवं काव्य-प्रयोजन-सम्बन्धी मान्यताएँ **आचार्य रुद्रट** और **आचार्य वामन** की एतद्विषयक मान्यताओं से मिलती-जुलती हैं। 'काव्यालंकार' में आचार्य रुद्रट ने सुन्दर काव्य के निर्माण के लिए शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास, इन तीनों को आवश्यक बतलाया है। उनके कथनानुसार, "जिसके होने पर स्वस्थ चित्त में निरन्तर अनेक प्रकार के वाक्यों की स्फूर्त्ति होती है तथा जिसकी विद्यमानता में शीघ्र ही अर्थ-प्रतिपादन में समर्थ पद प्रस्फुटित होते हैं, उसको शक्ति कहते हैं।" दण्डी आदि प्रमुख आलंकारिकों ने इसी शक्ति को प्रतिभा के नाम से अभिहित किया है।

रुद्रट ने इसी प्रतिभा के दो रूप बतलाये हैं और उनके सहज रूप को ही उत्पाद्य की अपेक्षा श्रेष्ठतर कहा है। सहज शक्ति अपने-आप उत्कर्षाधायक एवं उत्पाद्या की हेतु है। उत्पाद्या बाद में होनेवाली व्युत्पत्ति से बड़े कष्ट से सिद्ध होती है।

इसमें सन्देह नहीं कि कविता प्रसादगुणसम्पन्न, आडम्बरविहीन, सारयुक्त एवं प्रसंगानुकूल हो। किन्तु, यह भी ध्यातव्य है कि कई कारणों से कविता कभी-कभी दुरूह, अनेकार्थक एवं अस्पष्ट भी हो जाया करती है। वस्तुतः,कविता का केवल प्रसाद-गुण-सम्पन्न होना अपने-आप में कोई बड़ी चीज नहीं है। जटिल और संश्लिष्ट अनुभूतियों की अभिव्यंजना प्रायः संश्लिष्ट हो जाया करती है और सरल भाषा मे व्यक्त होकर भी औसत पाठक को रहस्यानुभूति शीघ्र नहीं होती। जो अवाङ्-मनोगोचर है, जो अकथ और अनिर्वचनीय है, उस सत्य की अभिव्यक्ति के लिए चिरपरिचित शब्द और सम्प्रेषण के घिसे-पिटे माध्यम अपर्याप्त होते हैं। कभी-कभी पाठक की भाषागत अयोग्यता के कारण रचना कठिन जान पड़ती है और साहित्यकार की बातें हृदयंगम नहीं हो पातीं। इसके अतिरिक्त, कतिपय साहित्यकारों की वह प्रवृत्ति,भी जिसके कारण वे व्यक्तिगत सन्दर्भो का प्रयोग भरते हैं अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए भारी शब्दों से अपनी रचनाओं को बोझिल बना डालते है, रचना को दुरूह बना डालती है। इसी प्रवृत्ति के कारण कुछ साहित्यकारों की रचनाओं मे सूक्ष्म संकेत और अनेकानेक पाण्डित्यपूर्ण सन्दर्भ पाये जाते हैं।

पूर्व और पश्चिम के आलोचकों ने इसी कारण, औचित्य को यथेष्ट महत्त्व दिया है और बताया है कि सरल-सुगम भावों की अभिव्यक्ति सरल-सुगम भाषा में ही सुशोभन होती है और जहाँ जटिलतर अनुभूतियों की अभिव्यक्ति अभिप्रेत होती है, वहाँ सम्प्रेषण दुरूह हो जाया करता है। **इलियट** ने इस बात पर प्रभूत बल दिया है कि प्रत्येक युग की अपनी विशिष्ट अनुभूतियों का अपना सत्य, अपना जीवन-दर्शन और अपना व्यक्तित्व हुआ करता है। इसी कारण, प्रत्येक युग की अपनी विशिष्ट अभिव्यंजना-शैली हुआ करती है। ऐसी शैली के अभाव में ही साहित्य में अनौचित्य, पुनरुक्ति, निष्प्राण काव्यबिम्बों और विशेषणों का विनियोग आदि दोष आविर्भूत होते हैं। यदि उपरिनिर्दिष्ट कसौटी पर हम आधुनिक काव्य को परखे और तथाकथित नई कविता का मूल्यांकन करें, तो इसमें प्रयुक्त 'चमत्कारपूर्ण' और अभिनव बिम्बों की अनिवार्यता स्पष्ट हो जायगी और नई कविता की सार्थकता का एहसास होने लगेगा।

द्विवेदीजी को छायावादी कवियों से प्रायः वैसी ही शिकायत है, जैसी **डॉ० जॉनसन** को मेटाफिजिकल कवियों से थी। जहाँतक द्विवेदीजी के आधारभूत तर्कों का सम्बन्ध है, हमें स्वीकार्य होना चाहिए कि छायावादी कविता का प्रारम्भ भी कुछ उसी प्रकार

हुआ था, जिस प्रकार अँगरेजी मे मेटाफिजिकल पोएट्री का। छायावादी कवि व्रजभाषा मे रची गई तथा रीति-पद्धति पर आधृत कविताओं के स्थान पर खड़ीबोली में लिखी गई नई सवेदनाओ के अनुकूल रचे गये काव्य मे नये-नये बिम्बों की प्राण-प्रतिष्ठा करने लगे। उनका लिखना अनाप-शनाप लिखना नहीं था, परन्तु चूँकि प्रतिक्रिया आरम्भ में अत्यन्त उग्र हुआ करती है, इसलिए छायावादी कवि नव्यता की खोज मे कही-कही अत्यन्त सपाट दीखने लगते हैं।

'विचार-विमर्श' के साहित्य-खण्ड में संगृहीत निबन्धों में भी आचार्य द्विवेदीजी की साहित्य-विषयक अवधारणाओ का सम्यक् निरूपण हुआ है। इस ग्रन्थ का 'आधुनिक कविता' शीर्षक प्रथम निबन्ध मार्च, १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें आचार्यजी ने **आर्थर जेबिसन फिके** की कवि और काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं का उल्लेख किया है और उनसे सहमति प्रकट की है। फिके के मतानुसार कवि को देश और काल की अवस्था का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। वही कवि कालजयी होता है, जिसकी रचनाओं मे जीवन की सार्थकता के उपाय बतलाये जाते हैं। फिके ने काव्य के कलापक्ष की अवहेलना नहीं की और अपने पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया कि कविता सोद्देश्य तो हो, पर साथ ही उसकी भाषा मनोहारिणी हो। फिके के विचारों को उद्धृत करते हुए आचार्य द्विवेदी ने कहा है : 'अच्छी कविता में उन्ही विषयों का वर्णन होता है, जो मनुष्य के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है और जो उसकी आत्मा और आध्यात्मिकता पर गहरा असर डाल सकते हैं।'[1] इसमें सन्देह नहीं कि स्वयं द्विवेदीजी उसी कविता के प्रशंसक थे, जो नीतिमूलक होती थी, जिसमें 'उच्च विचारों' को वाणी मिलती थी, जो 'हृदय और बुद्धि' के ऊपर अच्छा प्रभाव डालती थी और जिसमें 'समयोपयोगी आवश्यक उपदेशों को' इस ढंग से व्यक्त किया जाता था, 'जिससे मनुष्य बहुत जल्द उन्हें ग्रहण कर सकें।'

'आजकल के छायावादी कवि और कविता' नामक निबन्ध में भी द्विवेदीजी ने विभिन्न शब्दावली का प्रयोग करते हुए उसी काव्य को श्रेष्ठ घोषित किया है, जो बहुत जल्द ग्रहण हो जाय। इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी के अनुसार 'कविता का सबसे बड़ा गुण है उसकी प्रासादिकता।'[2] चूँकि, छायावादी कविता में प्रासादिकता अत्यल्प होती है, इसलिए द्विवेदीजी उसका समर्थन नहीं करते और कहते है कि प्रासादिकता 'जब नहीं, तब कविता सुनकर श्रोता रीझ किस तरह सकेंगे और उसका असर उनपर होगा क्या खाक।'[3] द्विवेदीजी की दृष्टि में छायावादी कवि ' "ऐसे-वैसे

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० १ (सं० १९८८), काशी।

२. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'साहित्यालाप', पृ० ३४५, सन् १९२९ ई०।

३. उपरिवत्।

कवि' थे, जो अपनी कविताओं का भाव समझने मे आप ही असमर्थ थे। इससे अधिक आश्चर्य की बात भला और क्या हो सकती है कि स्वयं कवि भी अपनी कविता का मतलब दूसरों को न समझा सके। यह शिकायत शिवनन्न शास्त्री ही की नहीं, और भी अनेक कविता-प्रेमियों की है।''[1]

द्विवेदीजी कविता को प्रासादिकता और भावों की सम्प्रेषणीयता के वैसे ही पुरजोर समर्थक है, जैसे टॉल्सटाय थे। द्विवेदीजी तो यहाँतक कहते है कि "आजकल जो लोग रहस्यमयी या छायामूलक कविता लिखते है, उनकी कविता से तो उनलोगों की पद्य-रचना अच्छी होती है, जो देशप्रेम पर अपनी लेखनी चलाते या, 'चलो वीर पटुआ खाली' की तरह की पंक्तियो की सृष्टि करते है। इनमे कविता के और गुण भले ही न हों, पर उनका मतलब तो समझ में आ जाता है। पर, छायावादियों की रचना तो कभी-कभी समझ में भी नही आती। ये लोग बहुधा बड़े ही विलक्षण छन्दो या वृत्तो का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते है। कोई छ.पदे, कोई ग्यारहपदे। किसी की चार सतरें गज भर लम्बी, तो दो सतरे दो-ही-दो अंगुल की। फिर भी, ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरखधन्धा हो जाती है। न ये शास्त्र की आज्ञा के कायल, न ये पूर्ववर्त्ती कवियों की प्रणाली के अनुवर्त्ती, न ये सत्समालोचकों के परामर्श की परवा करनेवाले! इनका मूलमन्त्र है : 'हम चुना दीगरे नेस्त'। इस हमादानी को दूर करने का क्या इलाज हो सकता है, कुछ समझ में नही आता।''[1]

द्विवेदीजी की व्यावहारिक आलोचनाएँ तथ्यपरक, निर्भीक तथा विद्वत्तापूर्ण होती हैं। वे जिस विषय पर लिखते है, जिस कवि, लेखक या ग्रन्थ की आलोचना करते है, उसके सम्बन्ध में प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख कर देना सत्समालोचक का कर्त्तव्य मानते हैं। इसलिए, उनमें अनुसन्धित्सु की जिज्ञासा और परिनिष्ठित आलोचक का वैदुष्य मिलता है। उनकी आलोचनाओं के अध्येता उनके तर्कों की प्रामाणिकता से ही नहीं, उनके निवन्धों की रोचकता और पठनीयता से भी प्रभावित हुए बिना नही रहते। द्विवेदीजी की लेखनी कठिन-से-कठिन विषय को सरलातिसरल ढंग से प्रस्तुत करने में सक्षम है। जिस प्रसादिकता की कसौटी पर वे छायावादी काव्य को परखते हैं, उसी प्रसादगुण के निकष पर उनका गद्य खरा उतरता है। इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी के निबन्ध प्रसादगुण-सम्पन्न एवं प्रत्ययकारी होते हैं। उदाहरणार्थ, 'पुरानी समालोचना का एक नमूना' शीर्षक निबन्ध को लें। 'विचार-विमर्श' में सगृहीत यह निबन्ध जितना रोचक है, उतना ही तथ्यमूलक एवं शोधपरक भी। इसमें द्विवेदीजी ने यह प्रमाणित करना चाहा है कि 'अप्पयदीक्षित और जगन्नाथ राय के जमाने में यदा-कदा वैसी ही मृदु, मधुर, सच्ची और निर्दोष समालोचनाएँ होती थीं, जैसी कि आजकल

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'साहित्यालाप', पृ० ३४१-३४२।

बहुधा देखने में आती है।"[1] किन्तु, प्रमाणों के प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया में द्विवेदीजी कोरे तर्क की नीरसता का आश्रय न लेकर जिस पद्धति को अपनाते हैं, उससे निबन्ध आद्यन्त रोचक हो गया है। वे **पण्डितराज जगन्नाथ** का महत्त्व यह कहकर प्रतिपादित करते है कि 'रसगंगाधर' में **पण्डितराज जगन्नाथ** ने, रसो और अलकारों आदि के विवेचन में अपने पूर्ववर्त्ती पण्डितों के सिद्धान्तों की खूब ही जाँच की है और अपनी बुद्धि का निराला ही चमत्कार दिखाने की चेष्टा की है। ग्रन्थारम्भ करने के पहले ही आपने यह कसम खा ली है कि मै उदाहरणरूप में औरों के श्लोक तक ग्रहण न करूँगा, खुद अपनी ही रचनाओं के उदाहरण दूँगा। इसे आपने निभाया भी खूब। इस ग्रन्थ में **जगन्नाथ राय** ने अप्पयदीक्षित की बड़ी ही छीछालेदर की। बात-बात पर दीक्षितजी की उक्ति और सिद्धान्तों का निष्ठुरतापूर्वक खण्डन किया, उनकी दिल्लगी उड़ाई, कहीं-कहीं तो उनके लिए अपशब्द तक कह डाले। लो, अलंकारशास्त्री बनने का करो दावा। मैं तो मैं, दूसरा कौन इस विषय में ज्ञाता हो सकता है। बात शायद यह।'[2]

अप्पयदीक्षित के साथ हुए **पण्डितराज** के झगड़े का बड़ा ही प्रासंगिक उल्लेख करते हुए द्विवेदीजी कहते है : 'अप्पयदीक्षित की इतनी खबर लेकर भी **जगन्नाथ राय** को सन्तोष न हुआ। रसगंगाधर में दिखाये गये अप्पयदीक्षित के दोषों का संक्षिप्त संग्रह उन्होंने उससे अलग ही निकाला और 'चित्रमीमांसा-खण्डन' नाम देकर उसे एक और नई पुस्तक का रूप प्रदान किया। उसके आरम्भ मे आप फरमाते हैं .

रसगङ्गाधरे चित्रमीमांसाया मयोदिताः।
ये दोषास्तेऽत्र संक्षिप्य कथ्यन्ते विदुषां मुदे ॥[3]

द्विवेदीजी उसी समालोचना को 'सच्ची' कहते है, जो 'नेकनीयती से और युक्तिपूर्वक'[4] की जाती है। चूँकि उनकी समालोचना सच्ची है, इसलिए उसका आदर करना ही चाहिए।[5] जो समालोचना सच्ची नहीं होती और जो राग-द्वेष और ईर्ष्या की प्रेरणा से किसी को हानि पहुँचाने या उसका उपहास करने के लिए की जाती है, उसका आदर नहीं होता।[6] द्विवेदीजी की आलोचनाओं के पारायण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे समीक्षक के दायित्व से पूर्णतया परिचित हैं और तटस्थ भाव से समीक्ष्य ग्रन्थ के गुण-दोषों का विवेचन करना अपना कर्त्तव्य मानते हैं। समीक्षक के रूप में वे ग्रन्थों के गुण-दोष-विवेचन करने से ही सन्तुष्ट न होकर पाठकवर्ग की

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', सं० १९८८, पृ० ५-६।
२. उपरिवत्।
३. उपरिवत्, पृ० ६।
४. उपरिवत्, पृ० १०।
५. उपरिवत्।
६. उपरिवत्।

अभिरुचि का परिष्कार करना और सर्जनात्मक साहित्य के रचयिताओं का पथ-प्रदर्शन करना भी अपना धर्म मानते हैं। इसी कारण देश-विदेश और साहित्य में जहाँ भी उपयोगी सामग्री उपलब्ध होती है, वे हिन्दी के कवियों और पाठको के लिए प्रकाशित करने में संकोच नहीं करते। जब अँगरेजी के 'डेली क्रॉनिकल' नामक समाचार-पत्र में ब्राउनिंग का एक पत्र प्रकाशित हुआ, तब द्विवेदीजी ने धड़ल्ले से उसका हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित करते हुए कहा कि ब्राउनिंग की यह चिट्ठी हिन्दी के कवियों और लेखकों के बड़े काम की है। इस पत्र में ब्राउनिंग ने कहा था कि 'मैंने रुपया कमाने की नीयत से एक अक्षर भी नहीं लिखा। इस दिशा में यदि आपको मेरी आमदनी के विषय में भ्रम हो जाय, तो आश्चर्य की बात नहीं। मेरी पुस्तकों का प्रचार अमेरिका में बहुत है। पर, इस प्रचार की बदौलत मुझे एक फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती। मै इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे कई साहित्यसेवी मित्र अपनी एक ही कविता, नाटक या उपन्यास की बिक्री से जितना रुपया कमा लेते है, उतना मैं अपनी सारी पुस्तकों की बिक्री से नहीं कमा सका। तिसपर भी मुझे अपना ही ढंग पसन्द है—जो मार्ग मैंने अपने लिए पसन्द किया है, उससे मैं भ्रष्ट नहीं होना चाहता। स्वयं रुपये के लिए और लोग खुशी से लिखें। मैंने न लिखा और न लिखूँगा।'[1] स्वयं द्विवेदीजी का जीवन-दर्शन ब्राउनिंग की उस अभिवृत्ति के अनुकूल है, जो उपर्युक्त पंक्तियों में रूपायित है। द्विवेदीजी रुपया कमाने की नीयत से न तो किसी की प्रशंसा करते थे और न किसी की निन्दा।

द्विवेदीजी का अभिमत है कि समीक्षक का कार्य महत्त्व की ही नहीं, अत्यन्त कठिन भी है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि कतिपय आलोचक अपने को सर्वज्ञ मानकर प्रत्येक पुस्तक की समालोचना करने में जरा भी संकोच नही करते। द्विवेदीजी उन समालोचकों की प्रशंसा करते है, जो सचमुच विद्वान् है और जो अपने कर्त्तव्या-कर्त्तव्य के प्रति जागरूक हैं। कुछ लोग स्वयं तो कवि नहीं होते, परन्तु अनेक काव्यों का रसास्वादन करने तथा श्रेष्ठ समालोचकों की आलोचना पढ़ने के कारण लिखने की योग्यता हासिल कर लेते हैं। द्विवेदीजी कहते हैं कि ऐसे लोग चाहें तो 'काव्य की विचारपूर्वक आलोचना'[2] कर सकते है। उनके मन्तव्यानुसार समीक्षक न तो अनुचित प्रशंसा करना और समीक्ष्य ग्रन्थ का विज्ञापन करना अपना कर्त्तव्य समझता है और न अनुचित निन्दा करना। 'ईर्ष्या, द्वेष अथवा शत्रुभाव के वशीभूत होकर किसी की कृति में अमूलक दोषोद्भावना करना उससे भी बुरा काम है।'[3]

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० १३।

२. उपरिवत्, पृ० ४५।

३. उपरिवत्।

आचार्य द्विवेदीजी ने 'सम्पादकों, समालोचकों और लेखकों का कर्त्तव्य' शीर्षक निबन्ध में उस समालोचना की ओर भी संकेत किया है, जिसे वे पाण्डित्यसूचक या पण्डिताई दिखानेवाली समीक्षा कहते हैं। ऐसे समालोचक की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा है कि 'पाण्डित्यसूचक समालोचना का लेखक समीक्ष्य ग्रन्थ में व्याकरण, अलकारशास्त्र, छन्द:शास्त्र और मुहावरे की भूलें दिखलाता है।' वह यह नही देखता कि इन बातों ने छन्द, अलकार, व्याकरण आदि को गौण कहा है और उनके साक्ष्यानुसार इनपर जोर देना 'अविवेकता-प्रदर्शन' के सिवा और कुछ नही। व्याकरण आदि की भूलें होतीं किससे नही ? अँगरेजी, फारसी, अरबी, संस्कृत आदि भाषाओं के बड़े-बड़े विद्वानों ने क्या इस तरह की भूलें नही की ? पर इससे क्या उनके ग्रन्थों की प्रतिष्ठा कुछ कम हो गई है ?[1]

उपर्युक्त उद्धरण द्विवेदीजी जैसे भाषामर्मज्ञ की भाषाप्रयोग-सम्बन्धी उदारता का प्रतिबिम्बन करता है और बतलाता है कि भाषा-प्रयोग में असाधारण सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। भाषा-प्रयोग में रंचमात्र भी असावधानी बरती गई कि वह दूषित हो जाती है और उसमें अशुद्धियाँ आ जाती हैं। कभी-कभी भावविभोर लेखक रूप की अपेक्षा 'वस्तु' पर अधिक ध्यान दे बैठता है अथवा भाव में तल्लीन होने के कारण भाषा के प्रति उदासीन हो जाता है। कवियों की भाषा के सम्बन्ध में यह बात अधिक प्रासंगिक दीखती है। कवि की रचनाएँ अधिक रसदीप्त और भावाकुल होती हैं, इसलिए एक ओर तो कवि की भाषा अधिक प्राणवती और प्रभावती होती हैं, वहीं दूसरी ओर उसमे व्याकरण आदि की भूलें हो सकती है।

द्विवेदीजी ने जिसे पाण्डित्यसूचक समालोचना कहा है, उस 'स्कालर्ली क्रिटिसिज्म' के विरुद्ध इँगलैंण्ड में एक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था, जिसके नेताओं में **एफ० आर० लीविस** अग्रगण्य थे। पाण्डित्यसूचक आलोचना केवल व्याकरणादि भूलों की ओर ही संकेत नहीं करती, अपितु विवेच्य कृति के ऊपर पड़नेवाले प्रभावों और परिवेशों का भी विवेचन करती है। उच्च कोटि की आलोचना, लीविस के मतानुसार, कृति की आलोचना करती है, कृतिकार की नहीं; वह पुस्तक की आलोचना होती है, लेखक के देश, काल और जीवन की नही।

द्विवेदीजी का स्पष्ट अभिमत है कि समालोचक का कर्त्तव्य यह दिखलाना है कि "किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुंच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं, तो उससे पुरानी ही बात को नये ढंग से लिखा है या नहीं।'[2] समालोचक को इस तरह

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : विचार-विमर्श, पृ० ४५।
२. उपरिवत्।

का पता लगाना पड़ता है कि लेखक को अपने उद्देश्य में सिद्धि मिली अथवा नहीं ? केवल अनावश्यक बातों की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करना और 'बाल की खाल निकालना' समालोचक का कर्त्तव्य नहीं कहा जा सकता। अँगरेजी-आलोचक **डॉ० जॉनसन** ने भी उन आलोचकों की निन्दा की है, जो या तो दूरबीन लेकर न दीखनेवाले दोषों का भी पता लगा लेते हैं या अणुवीक्षण-यन्त्र लेकर छोटे-छोटे दोषों को भी देख सकने में समर्थ होते हैं।

विवेच्य निबन्ध के अन्त में द्विवेदीजी जिस निष्कर्ष पर बल देते हैं, वह यह है कि लेखक की भाषा सरल और सुबोध हो। उन्हें वे रचनाएँ अवर दीखती हैं, जिनमें वागाडम्बर का प्राचुर्य होता हैं। वे उन समालोचकों की आलोचनाएँ करते है, जो जटिल भाषा को उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं। उनके अनुसार, 'जिस रचना में संस्कृत के अनेकानेक क्लिष्ट शब्द, संस्कृत के अनगिनत वचन और श्लोक उद्धृत हों, जिसमें यूरप तथा अमेरिका के अनेक देशों, विद्वानों और लेखकों के नाम हों, उस रचना को पाण्डित्यपूर्ण समझना अपराध है। द्विवेदीजी भाषा की प्रांजलता और उसके प्रसाद गुण के सशक्त समर्थक हैं और चाहते हैं कि भाषा ऐसी लिखी जाय, जिसमें केवल हिन्दी जाननेवाले भी सहज ही समझ जाय। यदि एकमात्र पाण्डित्य ही दिखाने के उद्देश्य के किसी लेख या पुस्तक की रचना न की गई हो, तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, जिसे अधिकांश पाठक समझ सकें। तभी रचनाकार का उद्देश्य सफल होगा—तभी उससे पढ़नेवालों के ज्ञान और आनन्द की वृद्धि होगी।[1]

द्विवेदीजी द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त मानदण्ड की समीचीनता तब निर्विवाद होती, जब द्विवेदीजी सरलता पर ही नहीं, औचित्य पर भी यथानुकूल बल देते। इतना कह देना ही पर्याप्त नहीं कि भाषा सरल हो और उसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग अत्यल्प हो। वस्तुतः, प्रांजलता अथवा स्पष्टता भाषा का गुण भी है और दोष भी। कभी-कभी विषय की गम्भीरता, भावों की जटिलता और कथ्य की दुरूहता लेखक को यत्किंचित् दुरूह बनाने को बाध्य कर देती है। नई-नई मौलिक अनुभूतियाँ नव्यतर शब्दों की माँग करती हैं। इस कारण लेखक के समक्ष दो विकल्प रह जाते है, चाहे तो वह अपनी अनुभूति के प्रति ईमानदार रहकर उपर्युक्त शैली का प्रयोग करे अथवा कथ्य के प्रति बेईमानी करे और सरलता को अपना आदर्श मान उन समस्त शब्दों का बहिष्कार करे, जो जटिल या तत्सम हों, पर जिनके प्रयोग से रचनाकार अपनी अनुभूतियों के सम्प्रेषण में अधिक समर्थ होता है। नई कविता की दुरूहता के मूल मे कवि की वह ईमानदारी है, जिसके कारण वह नई अनुभूतियों के अनुकूल नये-नये प्रयोग करता है, नई शैलियों का जनक बनता है।

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श'।

'... कि
कुछ दूर
एक मकान की खिड़की की चौखट उद्भासित हो
जाती है,
जग जाती है झिल्ली एक
रगड़ती आवाज है,
बगल के कमरे में दीवार-घड़ी को
आहिस्ता-आहिस्ता
फुसफुसाते सुनता हूँ
काल के कर्ण-रन्ध्र में—
टिक-टिक, टिक-टिक, टिक-टिक,
बहुत दूर पर एक बाजारू कुत्ता भौंकता है।'[1]

संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों, उसके अनेकानेक वचनों और श्लोकों तथा अँगरेजी के उद्धरणों के बहिष्कार के मूल में द्विवेदीजी का उत्कृष्ट हिन्दी-प्रेम दृष्टिगत होता है। सन् १९१५ ई० में ही उन्होंने यह घोषणा की थी कि 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विशेष उत्कृष्ट ग्रन्थ न होने पर भी पढ़ने लायक कितने ही ग्रन्थ लिखे जा चुके है और लिखे जा रहे हैं। किन्तु, प्राचीन हिन्दी-साहित्य में अनेक अमूल्य रत्न विद्यमान हैं।'[2] आज से लगभग चौवन वर्ष पहले लिखे गये इस निबन्ध का स्वर मातृभाषा के प्रति उत्कट प्रेम का स्वर है। यदि द्विवेदीजी की दृष्टि वस्तुपरक होती और वे निष्पक्ष भाव से हिन्दी-साहित्य की उपलब्धियों पर दृक्पात करते, तो उन्हें इस बात का पूरा-पूरा एहसान होता कि हिन्दी-साहित्य में उत्कृष्ट ग्रन्थों की संख्या उन दिनों उँगली पर गिनी जा सकती थी और ऐसे ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प थी, जिन्हें पठनीय कहा जा सकता था। प्राचीन उपलब्धियों का गुणगान करना वर्त्तमान अभावों को छिपाने का असफल प्रयास होता है।

---

१. नलिनविलोचन शर्मा, केसरीकुमार, नरेश (प्रपद्य-द्वादश-सूत्री तथा पस्पशा-संवलित) नकेन के प्रपद्य।

२. महावीरप्रसाद द्विवेदी : विचार-विमर्श, पृ०४८।

षष्ठ अध्याय

आचार्य द्विवेदीजी की कविता एवं इतर-साहित्य

कविता :

भारतीय भाषाओं में आधुनिक काल का प्रारम्भ सन् १८५७ ई० के बाद हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के इसी उत्तरार्ध काल को समस्त भारतीय साहित्य में नूतन चेतना और आधुनिकता का उषःकाल कहा जा सकता है। गद्य का विकास, अँगरेजी और यूरोपीय भाषाओं का प्रभाव, प्राचीन अधिकतर रूढ़ियों के प्रति अविश्वास, समाज-सुधार की उत्कट अभिलाषा, राष्ट्रीय चेतना और नये-नये विषयों के साहित्यिक अवतरण के कारण सभी भाषाओं के साहित्य में एक युगान्तर उपस्थित हो गया। हिन्दी के क्षेत्र मे भी यह क्रान्ति हुई। आधुनिक हिन्दी-काव्य के इस प्रथम प्रवाह को **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** ने अभिनव सम्भावनाओं तथा अभिव्यक्ति से सम्पन्न किया। भारतेन्दु के व्यक्तित्व-कर्त्तृव्य में अनेक पुरानी परम्पराएँ आकर मिलती है, तो कई नूतन परम्पराएँ जन्म भी लेती हैं। **डॉ० सुधीन्द्र** के शब्दों में "शताब्दियों से हिन्दी-कविता भक्ति या शृंगार के रंग में रँगी चली आ रही थी। केवल चुम्बन और आलिंगन, रति और विलास, रोमांच और स्वेद, स्वकीया और परकीया की कड़ियों में जकड़ी हिन्दी-कविता को भारतेन्दु ने सर्वप्रथम विलास-भवन और लीलाकुंजों से बाहर लाकर लोकजीवन के राजपथ पर खड़ा कर दिया। हिन्दी-कविता में भारतेन्दु ने सर्वप्रथम समाज के वक्षःस्थल की धड़कन को सुनाया। काव्य में यह रंग-परिवर्त्तन हिन्दी ने पहली बार देखा। व्रजभाषा में यह विषय की क्रान्ति थी।"[1]

प्राचीन काव्य-परम्पराओं में पूर्ण अनास्था नहीं रखते हुए भी भारतेन्दु ने खड़ी बोली को नवीन विषयों से सम्पन्न किया और नये क्षेत्रों के सन्धान की दिशा में उसे प्रवृत्त किया। परन्तु, भारतेन्दु खड़ी बोली में काव्यरचना को प्रोत्साहित नहीं कर सके। यह कार्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के हाथों होना बदा था। काव्यभाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने के लिए व्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का जो संघर्ष भारतेन्दु-युग से ही चल रहा था, उसे द्विवेदीजी ने समाप्त कर दिया। इस संघर्ष को एक महत्त्वपूर्ण मोड़ **श्रीधर पाठक** ने अपनी खड़ी बोली की कविताओं द्वारा दिया। उन्होंने भाषा को साहित्यिक एवं प्रांजल रूप प्रदान करने के लिए व्रजभाषा तथा अरबी-पारसी के शब्दों का क्रमशः बहिष्कार किया और उनके स्थान पर अर्थानुकूल व्यंजक तत्सम शब्द सन्निविष्ट कर खड़ी बोली-जगत् को वैसा प्रभावशाली नेतृत्व नहीं प्रदान कर सके, जैसा भारतेन्दु ने किया था। **श्रीअशोक महाजन** ने लिखा है :

१. डॉ० सुधीन्द्र : 'हिंन्दी-कविता का क्रान्तियुग', पृ० २६।

"भारतेन्दु के अस्त और 'प्रताप' के तिरोहित होने पर जब हिन्दी-साहित्य पतवारहीन नौका की भाँति असहाय होकर डगमगाने लगा, उस समय द्विवेदीजी ने आगे आकर हिन्दी का नेतृत्व ग्रहण किया। उन्होंने खड़ी बोली को समस्त साहित्यिक अभिव्यक्तियों का माध्यम बनाकर गद्य-पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनों प्रणालियों द्वारा पूर्व और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी ज्ञान-सम्पत्ति सम्पूर्ण हिन्दीभाषा-भाषी प्रान्तों में मुक्त हस्त से वितरित की। इससे कविता का चोला ही बदल गया और सतोगुण की सन्यासिनी के रूप में वह हिन्दी-रंगमंच पर प्रकट हुई।"[१]

हिन्दी-कविता में विषयगत क्रान्ति का सूत्रपात एवं संचालन **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र** ने कर दिया था और **श्रीधर पाठक** ने भ्रूण रूप में भाषाई क्रान्ति को भी जन्म दे दिया था। परन्तु, हिन्दी-कविता की भाषा के रूप में खड़ी बोली का प्रतिष्ठान एवं युगनिर्देश का सारा कार्य द्विवेदीजी ने किया। उनके आते ही समस्त हिन्दी-जगत् में भाषा-सम्बन्धी आन्दोलनों का एक दौर शुरू हो गया। गद्यभाषा का परिष्कार और सुधार का ऐतिहासिक कार्य करने के साथ ही द्विवेदीजी ने कविता के लिए भी भाषा-नीति के नवीन मार्ग का सन्धान किया। उन्होंने व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को कविता का अभिव्यक्ति-साधन बनाने की अपील की। **डॉ० शितिकण्ठ मिश्र** ने लिखा है :

"व्रजभाषा इतनी संकुचित और रीतिग्रस्त हो गई थी कि नवीन भावों और काव्य-प्रयोगों के लिए उसमें स्थान नहीं रह गया था। एक ही विषय पर सैकड़ों वर्षों से सैकड़ों कवियों ने इतना लिख लिया था कि कोई नया कवि उसमें मौलिकता या नवीनता नहीं ला सकता था। अतः, द्विवेदीजी ने आदेश दिया कि पुरानी लकीर का पीटना बन्द होना चाहिए।"[२]

उनके पूर्व तक गद्य की रचना खड़ी बोली में होती थी और कविताएँ व्रजभाषा में लिखी जाती थीं। द्विवेदीजी ने व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली के ही सर्वत्र प्रयोग पर बल दिया। वे गद्य और पद्य की अलग-अलग भाषा का होना समीचीन नहीं मानते थे। उन्होने स्पष्ट रूप से घोषणा की :

"गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिए। हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जिसके गद्य में एक प्रकार की और पद्य में दूसरे प्रकार की भाषा लिखी जाती है। सभ्य समाज की जो भाषा हो, उसी भाषा में गद्य-पद्यात्मक साहित्य होना चाहिए।"[३]

---

१. श्रीअशोक महाजन : 'द्विवेदी-काव्य : प्रयोजन और विषय', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० ९३।
२. डॉ० शितिकण्ठ मिश्र : 'खड़ी बोली का आन्दोलन', पृ० २१५।
३. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० १९।

उनके द्वारा निर्देशित सभ्य समाज की भाषा खड़ी बोली ही थी, जिसका प्रयोग उस समय तक गद्यात्मक रचनाओं में ही होता था। द्विवेदीजी ने अपने समकालीन कवियों को खड़ी बोली मे काव्यरचना की ओर प्रेरित किया :

"कवियों को चाहिए कि वे क्रम-क्रम से गद्य की भाषा में भी कविता करना आरम्भ करें— बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है।"[1]

औरों को खड़ी बोली के काव्य-प्रणयन की ओर प्रेरित करने के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने स्वयं भी कविता-सर्जन की दिशा मे प्रयास किये। 'सरस्वती' में उनकी विविध-विषय-मण्डित अनेक कविताएँ संकलित हुई हैं और उनकी कविताओं का पुस्तकाकार प्रकाशन भी हुआ है। द्विवेदीजी की कविताओं के माध्यम से उनकी नीतियों और आदर्शो का ही उपस्थापन हुआ है। द्विवेदीजी की सम्पादन-कला और निबन्ध-कला में उपयोगितावाद, नीतिवाद, आदर्शवाद और आनन्दवाद का जैसा प्रस्तुतीकरण दृष्टि-गोचर होता है, उनकी कविताओ मे भी इन्ही साहित्यिक मान्यताओं का अभिनिवेश दीखता है। अपनी काव्यसृष्टि के सम्बन्ध में स्वयं द्विवेदीजी ने भी लिखा था :

"कविता करना अन्य लोग चाहे जैसा समझें, हमें तो यह एक तरह दुःसाध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दी का अभ्यास किया था। पर कुछ समझ में आते ही हमने अपने को इस काम का अनधिकारी समझा। अतएव, उस मार्ग से जाना ही प्रायः बन्द कर दिया।"[2]

इन पक्तियों मे द्विवेदीजी की शालीनता ही नही, उनकी कविताओं के सन्दर्भ में यह सत्य भी उद्घाटित हुआ है कि द्विवेदीजी काव्यात्मक प्रतिभा से सम्पन्न नही थे और उनकी अधिकांश कविताओ में उत्तम कवित्व के लक्षण नहीं मिलते। परन्तु, इसमें सन्देह नही कि अपनी साहित्यिक यात्रा के पूर्वार्द्ध में द्विवेदीजी ने अपने कवि-रूप को बड़ा विकसित किया था। रेलवे में नौकरी करते समय २१ वर्ष की आयु से ही वे कविताएँ लिखने लगे थे। प्रारम्भ में उन्होंने संस्कृत-श्लोकों का हिन्दी में रूपान्तर किया। इस प्रकार का प्रथम प्रयास सन् १८८५ ई० में हुशंगाबाद में किया गया और यह रूपान्तर पुष्पदन्त के 'श्रीमहिम्नःस्तोत्र' का था। इसमें द्विवेदीजी ने यथासम्भव संस्कृत-छन्दों का ही प्रयोग किया है और इसमें व्रजभाषा का उपयोग हुआ है। यह रूपान्तर लगभग ६ वर्ष बाद इण्डियन मिडलैण्ड यन्त्रालय (झाँसी) से सन् १८९१ ई० में प्रकाशित हुआ। अपनी काव्यसृष्टि के प्रारम्भिक वर्षो में द्विवेदीजी ने मौलिक अथवा अनूदित कविताओं के लिए व्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। 'श्रीमहिम्न.स्तोत्र' का

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'रसज्ञरंजन', पृ० २०।

२. उपरिवत्, पृ० ३२।

व्रजभाषा-रूपान्तर उनकी सर्वप्रथम काव्यरचना है, अतएव उक्त रचना की अधोलिखित पंक्तियों को देखकर उनकी प्रारम्भिक काव्यदृष्टि और काव्यभाषा का अनुमान लगाया जा सकता है :

करौं मैं विनय नाथ कैसे तिहारी ।
लजौ होहिए याहि हा हा पुकारी ।।
लहे अन्त नाहीं कबौं वेद जा को ।
सु मैं मन्दबुद्धि कहौ काह ताको ।।[1]

सर्वप्रथम लिखी गई इन पंक्तियों की ही भाँति द्विवेदीजी की प्रथम प्रकाशित पुस्तक 'विनयविनोद' में भी व्रजभाषा का ही आश्रय लिया गया है। 'विनयविनोद' का प्रकाशन सन् १८८९ ई० में हुआ था और उसके पूर्व द्विवेदीजी की, गद्य अथवा पद्य मे कोई रचना पुस्तकाकार नहीं छपी थी। यह भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' का पद्यानुवाद है। 'विनयविनोद' की विनय से ओतप्रोत अन्तिम पंक्तियो पर दृष्टिपात कर द्विवेदीजी की तत्कालीन काव्यभाषा का अनुमान लगाया जा सकता है :

दीनबन्धु करुणायतन जगपति दीनानाथ ।
बूड़त भवनिधि मध्य लखि गहिये मेरो हाथ ।।
शरणागत माँगत प्रभो हे अनाथ के नाथ ।
युगल चरण अरविन्द महँ राखन दीजे माथ ।।[2]

परन्तु, शीघ्र ही द्विवेदीजी व्रजभाषा से खड़ी बोली की ओर उन्मुख हो गये। खड़ी बोली में सर्वांगतः लिखी गई उनकी पहली कविता बम्बई से प्रकाशित होनेवाले समाचार-पत्र **'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार'** में, १९ अक्टूबर, १९०० ई० के अंक में प्रकाशित हुई थी। **'बलीवर्द'** शीर्षक इसी कविता से द्विवेदीजी की खड़ी बोली की पद्यरचना का प्रारम्भ माना जा सकता है; क्योंकि इसके पूर्व की उनकी समस्त काव्यकृतियाँ स्थूलतः व्रजभाषा अथवा संस्कृत में लिखी गई हैं। 'बलीवर्द' के प्रकाशन द्वारा खड़ी बोली की असीम शक्ति और क्षमता का प्रदर्शन ही कवि का उद्देश्य था। इस कविता में द्विवेदीजी की भाषा और अभिव्यंजना का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा :

तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज महाराज ।
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना-दाना को मोहताज ।।
तुम्हें षण्ड कर देते हैं जो महानिर्दयी जन-सिरताज ।
धिक उनको, उनपर हँसता है, बुरी तरह यह सकल समाज ।।[3]

---

१. निर्मल तालवार : (सं०) 'आचार्य द्विवेदी', पृ० ३३ पर उद्धृत ।

२. उपरिवत्, पृ० ६४ पर उद्धृत ।

३. डॉ० श्रीकृष्णलाल : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० २ पर उद्धृत ।

'बलीवर्द' के प्रकाशन के पश्चात् द्विवेदीजी का काव्य-लेखन एक-दो अपवादों को छोड़कर मुख्यतया खड़ी बोली में ही हुआ। अपनी कविताओं को पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराते रहने की दिशा में द्विवेदीजी सचेष्ट थे। 'सरस्वती' के प्रकाशनारम्भ के पूर्व उनकी कई कविताएँ श्रीवेंकटेश्वर-समाचार, हिन्दोस्थान, हिन्दी-बंगवासी, नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भारतमित्र, भारतजीवन, राजस्थान-समाचार, सुदर्शन इत्यादि पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। 'सरस्वती' में उनकी पहली कविता 'द्रौपदी-वचन-वाणावली' अक्टूबर, १९०० ई० के अंक में छपी। फिर तो 'सरस्वती' में उनकी कविताओं का अनवरत रूप से प्रकाशन होता रहा। 'द्रौपदी-वचन-वाणावली' खड़ी बोली की रचना थी, फिर भी इसकी भाषा में कहीं-कहीं व्रजभाषा का पुट था। 'सरस्वती' में प्रकाशित उनकी परवर्त्ती कविताएँ पूर्णतः खड़ी बोली में लिखी गईं। 'सरस्वती' के प्रारम्भिक दस वर्षों में ही द्विवेदीजी की कुल इतनी कविताएँ, उसमें प्रकाशित हो गईं :

१. द्रौपदी-वचन-वाणावली : नवम्बर, १९०० ई०।
२. विधि-विडम्बना : फरवरी, १९०१ ई०।
३. हे कविता : जून, १९०१ ई०।
४. ग्रन्थकार-लक्षण : अगस्त, १९०१ ई०।
५. कोकिल : सितम्बर, १९०१ ई०।
६. वसन्त : अक्टूबर, १९०१ ई०।
७. ईश्वर की महिमा : दिसम्बर, १९०१ ई०।
८. भारत की परमेश्वर से प्रार्थना : फरवरी, १९०१ ई०।
९. सेवा-विगर्हण : सितम्बर, १९०२ ई०।
१०. सरस्वती का विनय : जनवरी, १९०३ ई०।
११. जन्मभूमि : फरवरी-मार्च, १९०३ ई०।
१२. विदेशी वस्त्र का स्वीकार : जुलाई, १९०३ ई०।
१३. गानविद्या : सितम्बर, १९०३ ई०।
१४. श्रीहार्नली-पंचक : अक्टूबर, १९०३ ई०।
१५. विचार करने योग्य बातें : फरवरी, १९०४ ई०।
१६. ग्रन्थकारों से विनय : फरवरी, १९०५ ई०।
१७. रम्भा : मार्च, १९०५ ई०।
१८. कुमुदसुन्दरी : अगस्त, १९०५ ई०।
१९. महाश्वेता : सितम्बर, १९०५ ई०।
२०. ऊषा-स्वप्न : जनवरी, १९०६ ई०।
२१. महिला-परिषद् के गीत : जनवरी, १९०६ ई०।

२२. प्यारा वतन : फरवरी, १९०६ ई० ।
२३. भगवान की बड़ाई : मार्च, १९०६ ई० ।
२४. जम्बुकी-भूमि : मार्च, १९०६ ई० ।
२५. आर्य्यभूमि : अप्रैल, १९०६ ई० ।
२६. शहर और गाँव : अप्रैल, १९०६ ई० ।
२७. गंगा-भीष्म : मई, १९०६ ई० ।
२८. शरीर-रक्षा : मई, १९०६ ई० ।
२९. कवि और स्वतन्त्रता : जुलाई, १९०६ ई० ।
३०. अक्षर एक : अगस्त, १९०६ ई० ।
३१. कान्यकुब्ज-अबला-विलाप : सितम्बर, १९०६ ई० ।
३२. टेसू की टाँग : अक्टूबर, १९०६ ई० ।
३३. ठहरौनी : नवम्बर, १९०६ ई० ।
३४. प्रियंवदा : दिसम्बर १९०६ ई० ।
३५. इन्दिरा : अप्रैल, १९०७ ई० ।
३६. शकुन्तला-जन्म : जनवरी, १९०९ ई० ।
३७. कुन्ती और कर्ण : अप्रैल, १९०९ ई०
३८. भवन-निर्माण-कौशल : जुलाई, १९०९ ई० ।

स्पष्ट है कि अपने सम्पादन-काल में एवं उसके पूर्व भी द्विवेदीजी ने अपनी कविताओं का अच्छी संख्या में प्रकाशन 'सरस्वती' में किया। जिस भाषाई क्रान्ति की बहुविध चर्चा द्विवेदी-युग के सन्दर्भ में होती है, उसका श्रीगणेश स्वयं द्विवेदीजी की इन्हीं कविताओं द्वारा हुआ। उन्होंने अनेक मौलिक एवं अनूदित काव्य-कृतियों की रचना कर हिन्दी-कविता को एक नई दिशा की ओर मोड़ने का प्रयास किया। अपने इन काव्य-प्रयासों में उन्हें कलात्मक सफलता कितनी मिली है, यह अपने-आप में एक विवादास्पद विषय है। परन्तु, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उनके नेतृत्व में कविता ने अपनी सम्भावनाओं और अवस्थाओं का परिचय प्राप्त किया। डॉ० सुधीन्द्र ने लिखा है :

"कवि द्विवेदी ने पहले श्रीधर पाठक की भाँति खड़ी बोली के माध्यम से कविता की सृष्टि की और अपनी क्षमताओं का निरीक्षण-परीक्षण किया। साथ ही, अपनी मान्यताओं द्वारा उन्होंने उस क्रान्ति की दिशा की ओर इंगित किया, जो कि आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य थी।"[1]

विन्यास की दृष्टि से द्विवेदीजी के काव्यात्मक साहित्य को स्पष्ट ही दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है : (क) मौलिक एवं (ख) अनूदित ।

---

१. डॉ० सुधीन्द्र : 'हिन्दी-कविता में युगान्तर', पृ० ४२ ।

उन्होंने एक ओर विविध सामयिक समस्याओं पर आधृत एवं प्रकृति-सौन्दर्य-सम्बन्धी मौलिक कविताओं की रचना की और दूसरी ओर संस्कृत के कई प्रसिद्ध काव्यग्रन्थों का पद्यात्मक अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

द्विवेदीजी का अनूदित काव्य :

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की साहित्यिक गतिविधियों का प्रारम्भ ही संस्कृत की कविताओं के रूपान्तरण के साथ हुआ था। २१ वर्ष की आयु से ही वे इस दिशा में प्रवृत्त हो गये थे। **श्रीरामप्रीत**[१] ने उनके काव्य-विकास के इस प्रारम्भिक काल (सन् १८८५ से १८८९ ई० तक) को 'अनुवाद-काल' की संज्ञा दी है। वस्तुतः, इस अवधि में द्विवेदीजी मूलतः संस्कृत के **भर्त्तृहरि, जयदेव, कालिदास, पुष्पदन्त, पण्डितराज जगन्नाथ** जैसे काव्यकारों की कृतियों का ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली में अनुवाद करने में ही संलग्न रहे। यह कार्य उन्होंने सन् १८८५ ई० में ही पुष्पदन्त-विरचित 'श्रीमहिम्नःस्तोत्र' के रूपान्तरण के साथ प्रारम्भ किया था। यह अनुवाद सन् १८८९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक की भूमिका में अनुवादक की कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए स्वयं द्विवेदीजी ने लिखा था :

"एक भाषा के छन्द को दूसरी भाषा के छन्द में उल्था करना कुछ तो आप ही कठिन होता है, तिसपर इस पन्थ में प्रवेश करने का यह मेरा प्रथम ही प्रयास है।"[२]
फिर भी, द्विवेदीजी अनुवाद-कार्य में लगे रहे और उन्होंने कई अनुवाद प्रस्तुत किये। उनके अनूदित काव्यग्रन्थ अधोलिखित हैं :

१. 'विनयविनोद' (सन् १८८९ ई०) : भर्त्तृहरि-कृत 'वैराग्यशतक' का अनुवाद।
२. 'विहारवाटिका' (सन् १८९० ई०) : जयदेव-विरचित ख्यात कृति 'गीत-गोविन्द' का एक सौ गणात्मक छन्दों में किया गया संक्षिप्त भावानुवाद।
३. 'स्नेहमाला' (सन् १८९० ई०) : भर्त्तृहरि के 'शृंगारशतक' का अनुवाद।
४. 'ऋतुतरंगिणी' (सन् १८९१ ई०) : महाकवि कालिदास-कृत 'ऋतुसंहार' का पद्यात्मक छायानुवाद।
५. 'गंगालहरी' (सन् १८९१ ई०) : पण्डितराज जगन्नाथ के इसी नाम के काव्य का अनुवाद।
६. 'श्रीमहिम्नःस्तोत्र' (सन् १८९१ ई०) : पुष्पदन्त-रचित 'श्रीमहिम्नःस्तोत्र' का अनुवाद।
७. 'कुमारसम्भव' (सन् १९०२ ई०) : महाकवि कालिदास के महाकाव्य 'कुमार-सम्भव' के पाँच सर्गों का अनुवाद।

---

१. निर्मल तालवार : (सं०) 'आचार्य द्विवेदी', पृ० ११२।
२. उपरिवत्।

इन सात पद्यात्मक अनुवादों के अतिरिक्त कई संस्कृत-काव्यकृतियों का गद्यात्मक भावार्थबोधक अनुवाद भी द्विवेदीजी ने प्रस्तुत किया था। यथा :

(क) 'भामिनीविलास' (सन् १८९१ ई०) : पण्डितराज जगन्नाथ की कृति 'भामिनीविलास' का गद्यानुवाद।

(ख) 'अमृतलहरी' (सन् १८९६ ई०) : पण्डितराज जगन्नाथ की ही इसी नाम की रचना का गद्यानुवाद।

(ग) 'महाभारत मूल आख्यान' (सन् १९१० ई०) : यह वेदव्यास-रचित मूल संस्कृतग्रन्थ 'महाभारत' का गद्यानुवाद नहीं है, अपितु **श्रीसुरेन्द्रनाथ ठाकुर** की अँगरेजी-पुस्तक 'महाभारत' का स्वच्छन्दतापूर्वक द्विवेदीजी द्वारा किया गया अनुवाद है।

(घ) 'रघुवंश' (सन् १९१३ ई०) : महाकवि कालिदास-कृत महाकाव्य 'रघुवंश' का भावार्थबोधक गद्यानुवाद।

(ङ) 'कुमारसम्भव, (सन् १९१७ ई०) : महाकवि कालिदास के ही महाकाव्य 'कुमारसम्भव' का भावार्थबोधक गद्यानुवाद।

(च) 'मेघदूत' (सन् १९१७ ई०) 'महाकवि कालिदास-कृत खण्डकाव्य 'मेघदूत' का भावार्थबोधक गद्यानुवाद।

(छ) 'किरातार्जुनीय' (सन् १९१७ ई०) 'महाकवि भारवि के महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' का भावार्थबोधक गद्यानुवाद।

इतने बड़े पैमाने पर अनुवाद-कार्य में संलग्न होने में द्विवेदीजी का उद्देश्य हिन्दी-पाठकों को संस्कृत-काव्य-सुरभि से परिचित कराना एवं हिन्दी-कवि[illegible] को विस्तृति प्रदान करना ही था। इस क्रम में उन्हें कालिदास, भारवि, पण्डितराज जगन्नाथ, भर्तृहरि आदि जैसे संस्कृत-काव्य के शीर्षस्थ उन्नायकों की कविता का हिन्दी मे रूपान्तरण करने का अवसर मिला। अनुवाद की दिशा में उन्होंने शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद को अधिक महत्त्व दिया। इसी सिद्धान्त का परिपालन उन्होंने अपने अधिकांश अनूदित-काव्य में किया है। उनका मत था :

"भाव ही प्रधान है, शब्द-स्थापना गौण। शब्दों का प्रयोग तो केवल भाव प्रकट करने के लिए होता है। अतएव, भावप्रदर्शक अनुवाद ही उत्तम अनुवाद है।"[1]

इस कारण, द्विवेदीजी के अनुवादों में भावों को प्रस्तुत करने की चेष्टा सर्वोपरि परिलक्षित होती है। भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए शब्द और भाव के क्रम-विन्यास में उन्होंने यदा-कदा स्वच्छन्दता से भी काम लिया है। उनके अनुवाद-कार्य के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'कुमारसम्भव', पृ० १।

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्त्तमानं नरदेववर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥

—किरातार्जुनीयम्, १।३२ ।

हे महीप मानी नर जिसका महानिंध्य बतलाते हैं ।
उसी पन्थ के आप पथिक हैं, नहीं परन्तु लजाते हैं ।
कोपानल क्यों नहीं आपको भस्मीभूत बनाता है,
सूखे-रूखे शमीवृक्ष को जैसे ज्वाल जलाता है ।[1]

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं,
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ,
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः ॥

—किरातार्जुनीयम्, १।४६ ।

दैवयोग से दुःखोदधि में तुझ डूबे को यह आसीस,
शत्रुनाश होने पर लक्ष्मी मिले पुनः ऐसे अवनीश ।
जैसे प्रात काल सिन्धु में मग्न हुए दिनकर को आय,
तिमिर-राशि हटने पर दिन की शोभा मिलती है सुख पाय ॥[2]

हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम् ।
स्वेदोद्गमः किम्पुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषके तु ॥

—कुमारसम्भवम्, ३।३२ ।

जिनके अधर निरोग हो गए मिह पड़ना मिट जाने से,
जिनकी मुखछवि पीत हो गई कुंकुम के न लगाने से ।
ऐसी किन्नर-कामिनियों के तन में स्वेदबिन्दु सुन्दर,
रुचिर पत्र-रचना के ऊपर शोभित हुए प्रकट होकर ॥[3]

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥

—कुमारसम्भवम्, ५।२४ ।

प्रथम वृष्टि की बूँद उमा की बरौनियों पर कुछ ठहरे,
फिर पीड़ित कर अधर, कुचो पर चूर-चूर होकर बिखरे ।
तदनन्दर, सुन्दर त्रिवली का क्रम-क्रम से उल्लंघन कर,
बड़ी देर में पहुँच सके वे उसकी रुचिर नाभि-भीतर ।[4]

---

१. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३०० ।
२. उपरिवत्, पृ० २८४ ।
३. उपरिवत्, पृ० ३२४ ।
४. उपरिवत्, पृ० ३४२ ।

उद्धृत पद्यांशों की मूल श्लोकों से तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि द्विवेदीजी ने संस्कृत-काव्यों का अनुवाद करते समय भावाभिव्यंजन को यथावत् रखने के साथ-ही-साथ काव्य-प्रसाधनों को भी यथाशक्ति ज्यों-का-त्यों रखने का प्रयास किया है। अपने अनूदित काव्यग्रन्थों के अतिरिक्त, 'सरस्वती' में प्रकाशित कतिपय अनूदित कविताओं में भी द्विवेदीजी ने यही नीति अपनाई है। नवम्बर, १९०० ई० की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'द्रौपदी-वचन-वाणावली' शीर्षक कविता भारवि-कृत 'किरातार्जुनीयम्' के प्रथम सर्ग के २७—४६ श्लोको का पद्यबद्ध भाषान्तर है। द्विवेदीजी ने अपनी सभी अनूदित कविताओं में भाव, काव्य-सौन्दर्य तथा दृश्यविधान को यथोचित रूप से मूल कृति से ग्रहण किया है। पात्रों की भाव-भंगिमा,मुद्रा, प्रकृति आदि को प्रस्तुत करने-वाले बिम्ब मूल रचना की टक्कर के न होते हुए भी सुन्दर बन पड़े हैं। एक सुन्दर अनुवाद द्रष्टव्य है, इसमें समाधिमग्न शिव की भव्य आकृति का अंकन हुआ है :

तन का भाग ऊपरी स्थिर था, वीरासन में थे शंकर,
वे विशेष सीधे भी थे, पर कन्धे थे विनम्र अतितर।
उलटे रक्खे देख पाणियुग मन में ऐसा आता था,
खिला कमल उनकी गोदी में मानों शोभा पाता था।[1]

द्विवेदीजी का अनूदित काव्य उनकी साहित्य-साधना के प्रारम्भिक वर्षों की देन है, इस कारण इन कविताओं में व्याकरण और भाषा की दृष्टि से दोषों की भी अच्छी उपस्थिति मिलती है। इन रचनाओं की खड़ी बोली प्रायः संस्कृतनिष्ठ है। 'विनयविनोद', 'श्रीमहिम्नःस्तोत्र', 'विहारवाटिका', 'स्नेहमाला', 'ऋतुतरंगिणी' जैसी उनकी प्रारम्भिक अनूदित काव्यकृतियों की तो भाषा परम्परित व्रजभाषा ही थी। परन्तु, इस अवधि की उनकी तत्समप्रधान खड़ी बोली से सम्पन्न कविताओं पर भी व्रजभाषा का प्रभाव कहीं-कहीं दीखता है। संस्कृत-रचना का अनुवाद करते समय द्विवेदीजी तत्सम भाषा के सुन्दर उपस्थापन के प्रति सचेष्ट थे। इसी कारण उनकी इन अनूदित रचनाओं में प्रिय, लुनाई, तदपि, आसीम, नहिं, तौं, आय, लगाय, मधुरताई जैसे बोलचाल के प्रयोग कम मिलते हैं। ऐसे दोषों की संख्या उनकी प्रारम्भिक मौलिक कविताओं मे अधिक है। परन्तु, अनूदित रचनाओं में कहीं-कहीं द्विवेदीजी ने वाक्य-रचना और शब्द-स्थापना में ऐसी अव्यवस्था ला दी कि अर्थबोध मे कठिनाई होती है। जैसे, द्रौपदी क्रुद्ध होकर कहती है :

वस्त्रहरण आदिक अति दुस्सह दुःख, तथापि आज इस काल,
बार-बार प्रेरित करते हैं मुझे बोलने को भूपाल।[2]

इस पद्य में कवि का आशय कठिनाई से स्पष्ट होता है। मूल रचना पढ़कर ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वस्त्रहरण आदि जैसे अति दुस्सह दुःख सहकर भी

---

१. देवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३२६।
२. उपरिवत्, पृ० २८२।

मैं मौन रही, तथापि हे भूपाल, आज आपका कायरपन मुझे बार-बार बोलने के लिए प्रेरित करती है। परन्तु, प्रस्तुत अर्थ का बोध पाठकों को सहज ही नही हो जाता है। आचार्य द्विवेदीजी का सम्पूर्ण अनूदित काव्य उनकी प्रच्छन्न भाषाशैली का एक सुन्दर उदाहरण है। इनकी काव्यगत महत्ता के सम्बन्ध में **डॉ० आशा गुप्त** ने लिखा है :

''प्रस्तुत अनुवादों द्वारा द्विवेदीजी अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करना नहीं चाहते थे। उनका उद्देश्य तो कालिदास-भारवि जैसे महाकवियो के भावों को खड़ी बोली में भाषान्तरित करके उसके विरोधियो को यह अवगत कराना था कि इस नवस्वीकृत पद्यभाषा में भी व्रजभाषा की तरह उच्च भावमयी कल्पना अभिव्यंजित करने की असीम एवं व्यापक शक्ति निहित है। अतएव, यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इन अनुवादों की महत्ता एवं सार्थकता तथा उनमें प्रयुक्त विविध अभिव्यंजना उपादानों के आश्रित नही, बल्कि खड़ी बोली के स्वरूप की प्रांजलता, उसके द्वारा मूल भाव की सक्षम प्रेषणीयता तथा अर्थ की बोधगम्यता पर निर्भर है।''[१]

संस्कृत की मूल काव्यकृतियो की व्रजभाषा एवं खडी बोली में रूपान्तर करने के साथ ही द्विवेदीजी ने मराठी-कविताओं से उनके भावार्थ ग्रहण कर तीन-तीन कविताएँ प्रस्तुत की थीं। अप्रैल, १९०६ ई० की 'सरस्वती' मे प्रकाशित उनकी 'आर्य्यभूमि' शीर्षक कविता एक ऐसी ही रचना है। इसमें आर्यो की भूमि भारत के प्राचीन गौरव का गुणगान किया गया है,यथा :

जहाँ हुए व्यास मुनि प्रधान,
रामादि राजा अति कीर्त्तिमान।
जो थी जगत्पूजित धन्यभूमि,
वही हमारी यह आर्य्यभूमि ॥[२]

इस प्रकार, द्विवेदीजी ने संस्कृत तथा मराठी से अनूदित अपनी काव्यकृतियों द्वारा हिन्दी-साहित्य का भाण्डार भरा। इन अनुवादों की रचना द्वारा उन्होंने एक ओर हिन्दी-कविता की भाषा के रूप में खड़ी बोली के प्रतिष्ठित होने में सहारा दिया और दूसरी ओर हिन्दी के पाठको का तादात्म्य संस्कृत के महान् काव्यकारों के साथ स्थापित किया। इस प्रसंग में उन्होने अपने समसामयिक साहित्य की उस विशिष्ट प्रवृत्ति का परिचय भी दिया, जिसे विभिन्न विद्वानों ने 'अतीतोन्मुखता' कहकर पुकारा है। भक्तिकाल और रीतिकाल की साहित्यिक उपलब्धियों को लाँघकर द्विवेदीजी ने संस्कृत-काव्य के अमूल्य रत्नों को हिन्दी-जगत् में बिखेरने का कार्य किया। उनका यह कार्य भी अतीत की ओर झुकाव का ही एक रूप था। उनके इन अनुवादों द्वारा संस्कृतिक चेतना को अपने ढंग से वाणी मिली है। अतएव, द्विवेदीजी के अनूदित काव्य

१. डॉ० आशा गुप्त : 'खड़ी बोली-काव्य में अभिव्यंजना', पृ० २२५।
२. 'सरस्वती', अप्रैल, १९०६ ई०, पृ० १३४।

का अपना विशिष्ट महत्त्व साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से माना जा सकता है। भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति एवं काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से उनका मौलिक काव्य इन अनूदित काव्यकृतियों की तुलना में अपर्याप्त एवं नीरस है। सच तो यह है कि द्विवेदीजी की अनूदित काव्यकृतियाँ उनकी मौलिक कविताओं की अपेक्षा कहीं अधिक काव्यमयी और सरस हैं।

द्विवेदीजी की मौलिक कविताएँ :

विविध अनुवाद-काव्यों द्वारा हिन्दी-कविता की श्रीवृद्धि करने के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने विभिन्न मौलिक कविताओं की भी रचना की। उनकी काव्यसाधना का अपना विशिष्ट महत्त्व एवं उद्देश्य था। संस्कृत-काव्य की छाया लेकर उन्होंने खड़ी बोली में भाषा-पद्यरचना के उदाहरण प्रस्तुत किये तथा व्रजभाषा के प्रवाह को हिन्दी में अनूदित किया। उनकी मौलिक कविताएँ अधिकांशतः उनके साहित्य-सिद्धान्तों का उपस्थापन करने के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं। उन्होंने व्रजभाषा में भक्ति और श्रृंगार की चली आती परम्पराओं के स्थान पर नवीन युग के अनुरूप आदर्शों और मानताओं को हिन्दी-कविता में स्थापित किया। इस प्रसंग में भाषा की क्रान्ति उपस्थित करने के साथ-ही-साथ उन्होंने सामयिक विषयों की प्रस्तुति पर भी विशेष ध्यान दिया। अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्होंने श्रृंगार-भावना के आत्यन्तिक वर्णन के स्थान पर विविध नूतन समस्याओं के प्रस्तुतीकरण को अपने काव्य-सिद्धान्तों में स्थान दिया। उनके इस ऐतिहासिक कार्य को **श्रीशिवचन्द्र प्रताप** ने इस प्रकार शब्द-चित्रात्मक जैसी शैली में अभिव्यक्त किया है :

"श्रृंगार के भग्नावशेषों पर उसकी कलम वज्र बनकर गिरी। शब्द शोले बनकर झड़े। कल्पना की दुनिया झुलसने लगी। रस की धारा सूखने लगी। सारे आवरणों को चीरकर उसने कठोर सत्य को देखा—देखा और दिखाया। गुलामों को रूप और जवानी पर रीझने का हक नहीं। उसने कहा—देश और समाज सर्वोपरि है।"[1]

अनुपयोगी श्रृंगारिकता की जगह हिन्दीभाषी जनता में मनोरंजक एवं उपयोगी विषयों की जानकारी जागरित करना द्विवेदीजी का उद्देश्य था। इसीलिए, उन्होंने एक साथ गद्य में विविध विषयों पर निबन्ध लिखे एवं टिप्पणियाँ लिखी और दूसरी ओर कविता में भी कई नवीन सामाजिक-साहित्यिक विषयों को प्रस्तुत किया। देश की परिस्थिति से स्वकीया-परकीया के केलि-वर्णनों में लीन कवियों को द्विवेदीजी ने फटकारा और राष्ट्रीय उत्थान में सहायक काव्य लिखने का आदेश दिया। इस प्रकार, उन्होंने कविता में वस्तुवृत्त के सर्वाधिक महत्त्व को स्वीकार किया। **डॉ० गंगाप्रसाद विमल** ने लक्ष्य किया है : "वस्तुतः चेतना का विस्तार उनकी गद्य-रचनाओं में जितना है, कविताओं में अनुपातिक दृष्टि से कम नहीं है। यह पूरा प्रसंग युगसन्दर्भ में देखा जाय, तो युगीन वस्तु-

१. श्रीशिवचन्द्र प्रताप : 'हिन्दी-साहित्य : एक रेखाचित्र', पृ० १२८।

प्रवृत्ति को सामाजिक आधारों से अलग करके नही रखा जा सकता। आचार्य द्विवेदी समय के सन्दर्भो से भली भाँति परिचित थे। इसलिए, उनका वस्तुवृत्त न तो कोई रोमाण्टिक अवधारणा का आग्रह किये हुए है और न ही किसी तरह के आध्यात्मिक परिवेश की रचना करता है। इस दृष्टि से आचार्य द्विवेदी शास्त्रीय परम्परा के अनुगामी होते हुए भी अपने वर्त्तमान से विलग नही है।''[१]

वर्त्तमान समस्याओं से सम्बद्ध द्विवेदीजी का अधिकांश मौलिक काव्य सोद्देश्य रचित है। उनका उद्देश्य था, नैतिक-सामाजिक-साहित्यिक आदर्शो का उपस्थापन। द्विवेदी-युगीन परिवेश ही कुछ ऐसा था कि सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्तरों पर आदर्शवादी मूल्यों की स्थापना होने लगी थी। इन युगीन आन्दोलनों के प्रभावस्वरूप साहित्य में आदर्शवादी चेतना का प्रारम्भ हो गया। नैतिक दृष्टि से सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक विश्वासों का गठन ही आदर्शवाद कहलाता है। काव्य में आदर्शवादी चेतना द्विवेदीजी की मौलिक देन नही थी। **डॉ० गणपति चन्द्रगुप्त** के शब्दों में :

"आदर्शवादी काव्य-चेतना का प्रस्फुटन आधुनिक हिन्दी-काव्य में सर्वप्रथम भारतेन्दु की रचनाओ मे दृष्टिगोचर होता है।''[२]

परन्तु, इस आदर्शवादी काव्य-परम्परा को हिन्दी-कविता पर पूर्णतया आच्छादित करने का श्रेय द्विवेदीजी को ही दिया जा सकता है। उनकी अपनी कविताओं में तथा उनके आदेश एवं प्रेरणा से रचित अन्य कवियों की कविताओ मे इस आदर्शवाद का बहुविध विस्तार हुआ है। द्विवेदी-युगीन काव्य का सम्पूर्ण परिवेश ही नैतिक आदर्शवाद में जकड़ गया था। मनोरंजन के साथ-साथ उपदेश भी इस युग में कविता का प्रधान लक्ष्य बन गया था। इसी आदर्शवादी एवं उपदेशात्मक पृष्ठभूमि में द्विवेदीजी के मौलिक काव्य का अध्ययन समीचीन होगा। वे अपनी काव्य-साधना के प्रारम्भिक युग में अनुवादों में संलग्न थे, परन्तु शीघ्र ही वे मौलिक कविताओं की रचना की ओर प्रवृत्त हुए। प्रारम्भ में उन्होंने व्रजभाषा में ही कविताएँ लिखीं, संस्कृत में काव्य-रचना की। परन्तु, फिर बाद में उन्होंने खड़ी बोली में कविताओं की रचना शुरू कर दी। इस दिशा में अपने-आप को विशेष सफल नहीं होता देखकर उन्होंने काव्य-रचना से अपनी लेखनी को शीघ्र ही मुक्त कर दिया और अपनी सम्पूर्ण शक्ति अपने समकालीन कवियों का मार्ग-निर्देशन करने में लगाई। द्विवेदीजी की यथानिर्दिष्ट मौलिक काव्यकृतियों की चर्चा होती रही है :

---

१. डॉ० गंगाप्रसाद विमल : 'द्विवेदीजी की काव्यसृष्टि', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० ८९।

२. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त : 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', पृ० ६१५।

१. देवीस्तुतिशतक (सन् १८९२ ई०)
२. नागरी (सन् १९०० ई०)
३. काव्यमंजूषा (सन् १९०३ ई०)
४. कविता-कलाप (सन् १९०९ ई०)
५. सुमन (सन् १९२३ ई०)
६. द्विवेदी-काव्यमाला (सन् १९४० ई०, श्रीदेवीदत्त शुक्ल द्वारा सम्पादित सम्पूर्ण काव्य-संकलन)

इन छह काव्य-संकलनों के अतिरिक्त द्विवेदीजी की मौलिक काव्यकृतियों की सूची में डॉ० उदयभानु सिंह ने क्रमशः 'कान्यकुब्जलीव्रतम्' (सन् १८९८ ई०), "समाचारपत्र-सम्पादकस्तवः' (सन् १८९८ ई०) और 'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप' (सन् १९०७ ई०) नामक तीन रचनाओं की भी गणना की है।[1] इसमें सन्देह नहीं कि इन तीनों कविताओं की रचना द्विवेदीजी ने ही की थी और इनका प्रकाशन भी निर्दिष्ट वर्ष मे ही पत्रिकाओ मे हुआ था, परन्तु इनका पुस्तकाकार प्रकाशन भी हुआ था—यह कहना प्राप्त प्रमाणों के आधार पर तर्कसगत नहीं है। 'द्विवेदी-काव्यमाला' में इन तीनों ही कविताओं का संकलन हुआ है। अतएव, द्विवेदीजी की मौलिक काव्यकृतियों के रूप में उपर्युक्त छह काव्य-सकलनों की ही गणना की जा सकती है। भाषा की दृष्टि से द्विवेदीजी के मौलिक काव्य को इन्हीं चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है। अपनी साहित्यिक साधना के प्रारम्भिक युग में द्विवेदीजी ने व्रजभाषा में ही अनूदित काव्य रचने का काम प्रारम्भ किया था। उनकी प्रारम्भिक मौलिक कविताएँ भी इसी कारण व्रजभाषा मे ही रचित हैं। उनका पहला मौलिक काव्य 'देवीस्तुतिशतक' इस प्रारम्भिक भाषा का सुन्दर उदाहरण है। संस्कृत के परमेश्वरशतक, सूर्यशतक, चण्डीशतक आदि की शैली में दैहिक तापों से मुक्ति पाने तथा आराध्या चण्डी देवी की स्तुतिपरक आतमनिवेदन करने के लिए द्विवेदीजी ने 'देवीस्तुतिशतक' की रचना की थी। उनके इस प्रथम मौलिक काव्यग्रन्थ में प्रयुक्त व्रजभाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

> शक्ति त्रिशूल असि पास गदा कुठारा,
> धन्वा धुरीण युत केहरि पै सवारा
> जासों समस्त महिषासुर सैन्य हारी
> ता अष्टबाहु जननीहि नमो हमारी ॥१६॥[2]

---

१. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० ७८-७९।
२. 'आचार्य द्विवेदी' : (सं०) निर्मल तालवार, पृ० ७० पर उद्धृत।

उन्नीसवीं शताब्दी में ही रचित एवं प्रकाशित उनकी कई अन्य कविताओं में भी व्रजभाषा का ही प्रयोग हुआ है। ऐसी कविताओं में 'भारत दुर्भिक्ष'[१] 'त्राहि ! त्राहि !! त्राहि !!!'[२] 'बालविधवा-विलाप'[३] जैसी कविताओं की चर्चा की जा सकती है। इनमें प्रयुक्त व्रजभाषा को देखने से साफ पता चलता है कि द्विवेदीजी धीरे-धीरे खड़ी बोली की ओर उन्मुख हो रहे थे। व्रजभाषा से खड़ी बोली की ओर झुकाव उनकी अधोलिखित पंक्तियों में परिलक्षित होता है :

लोचन चले गये भीतर कहँ, कंटक समकच छाये,
कर में खप्पर लिये, अनेकन जीरण पट लपटाये।
मांसविहीन हाड़ी की ढेरी, भीषण भेष बनाये,
मनहु प्रबल दुर्भिक्ष रूप धरि बहु विचरत सुख पाये ।।[४]

बम्बई से प्रकाशित समाचार-पत्र 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार' के १९ अक्टूबर, १९०० ई० वाले अंक में द्विवेदीजी की खड़ी बोली की पहली कविता 'बलीवर्द' प्रकाशित हुई। इसके पूर्व भी उनकी खड़ी बोली की कतिपय कविताएँ विविध पत्र-पत्रिकाओं में छपी थीं, परन्तु उनपर व्रजभाषा का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। द्विवेदीजी की ऐसी कविताओं में 'गर्दभ-काव्य'[५], 'प्रार्थना'[६], 'नागरी का विनय',[७] 'सुतपंचाशिका',[८] 'मेघोपालम्भ'[९] 'अयोध्या का विलाप'[१०], 'कृतज्ञता-प्रकाश'[११] आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी भाषा में व्रजभाषा का प्रभाव है और खड़ी बोली का निखरा और सुधरा हुआ रूप नहीं है। सन् १९०० ई० में प्रकाशित द्विवेदीजी के 'नागरी' शीर्षक संकलन की चारों कविताओं की भाषा भी ऐसी ही है। परन्तु, 'बलीवर्द' कविता के प्रकाशित होने के बाद द्विवेदीजी ने मात्र खड़ी बोली में ही कविताएँ लिखीं। सन् १९०१ ई० से उनकी कविताओं में व्रजभाषा के प्रभावों का लोप हो गया।

---

१. 'हिन्दोस्थान', ११ मार्च, १८९७ ई०।
२. 'हिन्दी-बंगवासी', २९ नवम्बर, १८९७ ई०।
३. 'भारतमित्र', ७ अक्टूबर, १८९८ ई०।
४. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १७५।
५. 'हिन्दी-बंगवासी', २९ अगस्त, १८९८ ई०।
६. श्रीवेंकटेश्वर-समाचार', ७ अप्रैल, १८९९ ई०।
७. 'भारतजीवन', १५ मई, १८९९ ई०।
८. 'भारतमित्र', ८ जनवरी, १९०० ई०।
९. 'हिन्दी-बंगवासी', ४ दिसम्बर, १८९९ ई०।
१०. 'सुदर्शन', मार्च, १९०० ई०।
११. उपरिवत्, अप्रैल, १९०० ई०।

इस अवधि के बाद पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अथवा पुस्तकाकार संकलित उनकी कविताएँ खड़ी बोली में लिखित होने लगीं। उनकी खड़ी बोली की एक प्रतिनिधि कविता 'हे कविते' की कतिपय पंक्तियाँ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य हैं :

सुरम्यरूपे रसराशिरंजिते विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई ?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा, कवीन्द्रकान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?
कहाँ मनोहारि मनोज्ञता गई, कहाँ छटा क्षीण हुई नई-नई ?
कहीं न तेरी कमनीयता रही, बता तुही अब किस लोक को गई ?
पता नहीं है भुवनान्तराल में, कहाँ गई है तव रूपरम्यता।
सजीव होती यदि जीवलोक में, कभी कहीं तो मिलती अवश्य ही।[1]

ऐसी तत्सम शब्दावली से युक्त भाषा को द्विवेदीजी ने अपनी खड़ी बोली में ग्रहण किया है। साथ ही, उनकी खड़ी बोली की मौलिक कविताओं की एक बहुत बड़ी संख्या बालोपयोगी एवं सरल भाषा से युक्त है। उनकी ऐसी सरल भाषा काव्यत्व एवं सारस्य से अधिकांशतः हीन है। उनकी इसी खड़ी बोली के बारे में **डॉ० रामकुमार सिंह** ने लिखा है :

"द्विवेदीजी की काव्यभाषा सीधी-सादी अभिव्यक्ति का माध्यम है। उसमें अपेक्षित काव्यात्मक सौरस्य, श्रुतिप्रियता, माधुर्य और संगीत-तत्व आदि का एकान्त अभाव है। उसे भावसंवाहक न कहकर विचारसंवाहक कहना ही उचित प्रतीत होता है।"[2]

द्विवेदीजी की आदर्शमयी एवं उपदेशात्मक समस्त नीतियाँ इन्हीं कविताओं में अभिव्यक्त हुई हैं और इन्हें कविता मानने में भी हिचक होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्विवेदीजी ने गद्यभाषा को तुकों में निबद्ध कर देना ही कविता मान लिया था। उनकी ऐसी नीरस काव्यकला के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

१. उद्योग और श्रमशिल्प सिखाओ,
व्यापार में मन जरा इनका लगाओ।
विद्या विवेक धन-धान्य सभी बढ़ाओ,
आरोग्य और बलवान इन्हें बनाओ।[3]

२. स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार कीजे,
विनय इतना हमारा मान लीजे।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो,
न जाओ पास इससे दूर भागो।।[4]

---

१. 'सरस्वती', जून, १९०१ ई०, पृ० १९८।
२. डॉ० रामकुमार सिंह : 'आधुनिक हिन्दी-काव्यभाषा', पृ० ४०९-१
३. 'सरस्वती', फरवरी, १९०२ ई०, पृ० ५०।
४. 'सरस्वती', जुलाई, १९०३ ई०, पृ० २३४।

इस प्रकार, द्विवेदीजी ने मुख्यतया खड़ी बोली की कविता लिखी। व्रजभाषा और खड़ी बोली में काव्य-रचना करने के साथ-ही-साथ उन्होंने संस्कृत मे भी कविताओं की सृष्टि की। संस्कृत-काव्यग्रन्थों को अनूदित करने के प्रसंग में ही उन्हें संस्कृत में कविताओं को लिखने की प्रेरणा मिली होगी। 'कान्यकुब्जलीव्रतम्' उनकी प्रथम संस्कृत-रचना थी, जिसका प्रकाशन सन् १८९८ ई० में हुआ था। इसकी परम्परा में द्विवेदीजी ने 'समाचारपत्र-सम्पादकस्तवः' (सन् १८९८ ई०), 'कथमहं नास्तिकः'[१], 'शिवाष्टकम्', 'प्रभातवर्णनम्', 'काककूजितम्', 'सूर्यग्रहणम्', 'कान्यकुब्जलीलामृतम्' आदि संस्कृत-कविताओं की रचना की। द्विवेदीजी की इन कविताओं की भाषा अलंकारमयी, चमत्कारपूर्ण एवं सरस है। अर्थान्तरन्यास से सम्पन्न उनकी काव्यकला का यह उदाहरण द्रष्टव्य है :

छायां करोति वियति स्म यदा यदेन्दुः
श्यामप्रभां वितनुते स्म तदा तदार्कः।
आपत्सु देवविनियोगकृतागमासु,
धीरोऽस्ति यादि वदने किल कालिमानम् ॥[२]

इसमें सन्देह नहीं कि उनकी संस्कृत-पदावली खड़ी बोली की अधिकांश कविताओं की तुलना में विशेष सरस, काव्यपूर्ण और प्रसादगुण-सम्पन्न है। एक और भी उदाहरण द्रष्टव्य है :

कुशेशयैः स्वच्छजलाशयेषु
वधूमुखाम्भोजदलैर्गृहेषु ।
वनेषु पुष्पैः सवितुः सपर्यया
तत्पादसंस्पर्शनया कृतासीत् ॥[३]

व्रजभाषा, खड़ी बोली और संस्कृत में काव्य-रचना करने के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने अपनी ग्रामीण भाषा बैसवाड़ी में भी कविता लिखी। बैसवाड़ी बोली में लिखी गई उनकी एकमात्र 'कविता' 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं'[४] उस समय मे प्रचलित भाषा-विवाद की देन थी। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' में द्विवेदीजी के ख्यात निबन्ध 'भाषा और व्याकरण' की धारावाहिक कटु समीक्षा करने के बाद उनकी घरेलू भाषा बैसवाड़ी का उपहास 'हम पंचन केटवाला माँ' लेख लिखकर किया। इसी से क्षुब्ध होकर द्विवेदीजी ने बैसवाड़ी' में 'सरगौ नरक

१. 'राजस्थान-समाचार', १५ मई, १८९९ ई०।
२. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २०६।
३. उपरिवत्।
४. 'सरस्वती', जनवरी, १९०६ ई०।

ठेकाना नाहिं' शीर्षक प्रस्तुत कविता लिखकर उसका प्रकाशन कल्लू अल्हईत के नाम से किया था। इस बैसवाड़ी-कविता में लोक-प्रचलित आल्हा-शैली के बीस छन्द हैं। स्पष्ट है कि भाषा की दृष्टि से द्विवेदीजी की सम्पूर्ण काव्यसृष्टि को इन्हीं चार प्रमुख भाषाओं में विभक्त किया जा सकता है : व्रजभाषा, खड़ी बोली, संस्कृत और बैसवाड़ी। परन्तु; विषय की दृष्टि से उनकी काव्यकृतियों का विभाजन बड़ा ही कठिन प्रतीत होता है। इसका मुख्य कारण यही है कि भारतेन्दु-युग से ही विषयों की जिस क्रान्ति ने जन्म लिया था, उसने द्विवेदी-युग में आकर और भी विस्तार पा लिया था। नये-नये विषयों तथा उत्पन्न हो रही समस्याओं की सम्यक् प्रस्तुति करना अब साहित्यसेवियों का कार्य हो गया था। डॉ० सुधीन्द्र ने इस दिशा में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की महान् उपलब्धियों की चर्चा करते हुए लिखा है :

"स्वेच्छित विषयवस्तु और संक्षिप्त स्वतन्त्र रूप के द्वारा आचार्य ने मुक्तक कविताओं के लिए हिन्दी-सरस्वती का आँगन खोल दिया। पृथ्वी से लेकर आकाश तक के ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों पर, स्थूल और सूक्ष्म सब विषयों पर अब कविगण कविना लिखते थे।"[१]

विषय-वैविध्य के इस भरे-पूरे वातावरण में स्वयं द्विवेदीजी ने भी अनेक विषयों को अपनी कविताओं का आधार बनाया। अपने समसामयिक साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिवेश तथा उनकी समस्याओं से वे अनभिज्ञ नहीं थे। इन सबका प्रस्तुतीकरण उन्होने कविताओं में किया। इसी तरह वे धर्म एवं अध्यात्म, प्रकृति एवं शृंगार आदि से सम्बद्ध कविताओं की रचना की दिशा में भी प्रवृत्त हुए। विषयों की इस विविधता को देखते हुए उनके सम्पूर्ण मौलिक काव्य को अधोलिखित चार रूपों में विभक्त किया जा सकता है :

(क) **साहित्यिक समस्यापरक कविताएँ;**
(ख) **सामयिक समस्यापरक कविताएँ;**
(ग) **अध्यात्मपरक कविताएँ और**
(घ) **प्रकृति एवं सौन्दर्यपरक कविताएँ।**

अपने समसामयिक वातावरण में नागरी-लिपि की उपेक्षा एवं हिन्दी-साहित्य की अवनत अवस्था देखकर द्विवेदीजी ने इनकी स्थिति में सुधार लाने का कार्य प्रारम्भ किया। साहित्यकारों को पत्र लिखकर, 'सरस्वती' में निबन्ध एवं टिप्पणियों को प्रकाशित कर ऐसा करने के साथ-ही-साथ उन्होने कविता को भी अपनी इन विचारणाओं का वाहक बनाया। नागरी की दशा, हिन्दी-साहित्य के विकास एवं अपने साहित्यिक सिद्धान्तों आदि को प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने कई कविताएँ लिखीं।

---

१. डॉ० सुधीन्द्र : 'हिन्दी-कविता में युगान्तर', पृ० ७२।

"नागरी तेरी यह दशा'[1] इस क्रम की पहली कविता थी। इस कविता में एक ओर नागरी की तत्कालीन दशा पर क्षोभ है :

श्रीयुक्त नागरी ! निहारि दशा तिहारी,
होवे विषाद मन माँहि अतीव भारी।
हा हन्त लोग कत मातु तुम्हें बिसारी,
सेवै अजान उर्दू उर माँहि धारी ॥[2]

दूसरी ओर नागरी की विशिष्टता पर गर्व भी है :

तेरे समान रुचिरा, सरला, रसाला,
शोभायुता, सुमधुरा, सगुणा, विशाला।
भाषा न अन्य यहि काल लहो दिखाई,
बोलें निशंक हम यों स्वभुजा उठाई ॥[3]

इसी तरह नागरी के विकास की प्रार्थना 'नागरी का विनयपत्र'[4] कविता में भी की गई है। इन दोनों कविताओं तथा नागरी-विषयक अन्य दो कविताओं का संकलन 'नागरी' नामक काव्य-संग्रह मे हुआ है। भाषा की ही भाँति साहित्य के उत्थान के लिए भी द्विवेदीजी सचेष्ट थे। हिन्दी की पत्रिकाओं, सम्पादकों, लेखकों, कवियों आदि में व्याप्त स्वच्छन्दता पर कटाक्ष करने तथा उन्हें सही मार्ग का निर्देश करने के लिए भी उन्होंने कई कविताएँ लिखीं। संस्कृत में लिखित 'समाचारपत्र-सम्पादकस्तव:' कविता में उनकी यही सुधारक प्रवृत्ति दीखती है। इसी तरह उनकी 'हे कविते'[5], 'ग्रन्थकार-लक्षण',[6] 'सरस्वती का विनय'[7] 'ग्रन्थकारों से विनय'[8], 'कवि और स्वतन्त्रता'[9] जैसी अन्य कविताओं में भी भाषा एवं साहित्यगत विविध समस्याओं—सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। हिन्दी-भाषा और साहित्य को उन्नत करना द्विवेदीजी की साहित्य-साधना का प्रमुख उद्देश्य था। अतएव, हिन्दी की हितकामना उनकी इन कविताओं में सर्वत्र दीखती है। 'विधि-बिडम्बना' शार्षक

---

१. 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', जून, १८९८ ई०।
२. 'आचार्य : द्विवेदी' सं० निर्मल तालवार, पृ० ७१ पर उद्धृत।
३. उपरिवत्।
४. 'भारतजीवन', १५ मई १८९९ ई०।
५. 'सरस्वती', जून, १९०१ ई०।
६. उपरिवत्, अगस्त, १९०१ ई०।
७. उपरिवत्, जनवरी, १९०३ ई०।
८. उपरिवत्, फरवरी, १९०५ ई०।
९. उपरिवत्, जुलाई, १९०६ ई०।

कविता में विधाता की अन्य भूलों का निर्देश करने के पश्चात् उन्होंने हिन्दी-पत्रिकाओं के सम्पादकों की अज्ञता की ओर भी संकेत किया है :

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार,
लिखवाता है उनके कर से नये-नये अखबार।[1]

हिन्दी को सम्पन्न बनाने के लिए तो वे सबसे प्रार्थना करते थे :

तोसों कहौं कहु कवे ! मम और जोवो,
हिन्दी दरिद्र हरि तासु कलंक धोवो।[2]

हिन्दी के अल्पज्ञ अधकचरे लेखकों पर द्विवेदीजी ने 'ग्रन्थकार-लक्षण' कविता मे व्यंग्य किया है :

शब्दशास्त्र है जिसका नाम ?
इस झगड़े से जिन्हें न काम,
नहीं विरामचिह्न तक रखना
जिन लोगों को आता है।
इधर-उधर से जोर-बटोर,
लिखते हैं जो तोड़-मरोड़।
इस प्रदेश में वे ही पूरे—
ग्रन्थकार कहलाते हैं।[3]

'सरस्वती' जैसी पत्रिकाएँ उस समय जैसे आर्थिक संकट का सामना कर रही थीं, उस ओर भी संकेत उन्होने 'सरस्वती का विनय' लिखकर दिया :

यद्यपि वेश सदैव मनोमोहक धरती हूँ,
वचनों की बहुभाँति रुचिर रचना करती हूँ।
उदर हेतु मैं अन्न नहीं तिस पर पाती हूँ,
हाय हाय ! आजन्म दुःख सहती आती हूँ॥[4]

हिन्दी-साहित्य को विकसित करने के उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिखी गई उनकी कविताएँ काव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नही हैं। ऐसी कविताओं को समीक्षकों के कोप का भोजन बनना पड़ा है। जैसे, डॉ० सुधीन्द्र ने लिखा है :

"द्विवेदीजी के लिए कविता बायें हाथ का खेल हो गई थी। अपने आदेश-निर्देश तक वे पद्य के ही माध्यम से दिया करते थे।"[5]

---

१. श्रीदेवीदत्त शक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० २९१।

२. उपरिवत्, पृ० २६२।

३. 'सरस्वती', अगस्त, १९०१ ई०, पृ० २५५।

४. 'सरस्वती', जनवरी, १९०३ ई०, पृ० १४।

५. 'सरस्वती', फरवरी, १९०५ ई०, पृ० ५३।

ऐसी निर्देशात्मक कविता का एक सुन्दर उदाहरण उनकी 'ग्रन्थकारों से विनय' शीर्षक कविता है। इसमें नितान्त काव्यत्व-हीन शैली में द्विवेदीजी ने हिन्दी के लेखकों को आदेश दिया है :

> इंगलिश का ग्रन्थसमूह बहुत भारी है,
> अति विस्तृत जलधि-समान देहधारी है।
> संस्कृत भी सबके लिए सौख्यकारी है,
> उसका भी ज्ञानागार हृदयहारी है।
> इन दोनों में से अर्थरत्न ले लीजै,
> हिन्दी को अर्पण उन्हें प्रेमयुक्त कीजै।[1]

स्पष्ट है कि कविता के माध्यम से द्विवेदीजी ने न केवल हिन्दी की दुर्दशा की ओर संकेत किया और साहित्यकारों का मार्गनिर्देश किया, अपितु इन्हीं के द्वारा उन्होंने अपनी साहित्यिक मान्यताओं का भी प्रस्तुतीकरण किया। 'हे कविते' शीर्षक रचना सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से उनकी सर्वश्रेष्ठ कविता है। **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने लिखा है :

" 'हे कविते' एक पद्यबद्ध निबन्ध है। इसमें कविता के स्वरूप का निर्धारण किया गया है। द्विवेदीजी की दृष्टि में कविता क्या है और क्या नहीं है, ये दोनों ही बातें उसमे स्पष्ट हो गई है।"[2]

'हे कविते' के आधार पर ही कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी ने भावना के रसात्मक आख्यान, लोकहित और भक्ति-प्रेरणा को काव्य में आन्तरिक शोभा का विधान करनेवाला तत्त्व माना है। रसवादी द्विवेदीजी की काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं का निष्कर्ष इन पंक्तियों मे अभिव्यक्त हुआ है :

> सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
> अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे।
> सरीर तेरा सब शब्द मात्र है,
> नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही।[3]

इस प्रकार, स्पष्ट है कि द्विवेदीजी ने अपनी अनेक कविताओं में भाषा और साहित्य की समस्याओं का उपस्थापन किया है, समस्याओं के समाधान का मार्ग सुझाया है और अपनी मान्यताओं की भी अभिव्यक्ति की है। जिस प्रकार वे अपने समसामयिक साहित्यक वातावरण से भली भाँति परिचित थे, उसी प्रकार तत्कालीन सामाजिक

---

१. 'सरस्वती', फरवरी, १९०५ ई०, पृ० ५३।

२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'हे कविते की कविता', 'साहित्य-सन्देश', नवम्बर, १९३९ ई०, पृ० ९१।

३. 'सरस्वती', जून, १९०१ ई०, पृ० २००।

राजनीतिक, सांस्कृतिक परिवेश में व्याप्त अव्यवस्था एवं कुरीतियों से भी वे अनभिज्ञ नहीं थे। द्विवेदीजी की बहुत सारी कविताओं में हमें सामाजिक समस्याओ का अंकन मिलता है। **डॉ० गंगाप्रसाद विमल** ने ठीक ही लिखा है :

"कवि-आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविताओं में हमें सामयिक कविताएँ व्यंग्य-कविताएँ एवं सोद्देश्य कविताएँ मिल जाती है। इन तीनों आधारों पर हम एक सर्वमान्य लक्ष्य का आभास पाते हैं । उनकी सोद्देश्य कविताओं में भी एक आदर्श की झलक है, इसी तरह सामयिक समस्याओं के समाधान के लिए भी उनके पास अस्पष्ट-सा समाधान है, व्यंग्य-कविताएँ वे आदर्शच्युत जीवन-योगियों को चेतवनी देते हुए रचते है, अन्ततः वहाँ भी एक आदर्श की परिपूर्त्ति होती है ।.... इसी आधार पर हम आचार्य द्विवेदी के आदर्श व्यक्तित्व की काव्यसृष्टि की एक समग्र दृष्टि आदर्शवाद (साहित्यिक आदर्शवाद) को उनकी कविता की केन्द्रीय चेतना-बिन्दु मान सकते है। ... द्विवेदीजी की काव्यसृष्टि को हम केवल कविता तक ही सीमित नही रख सकते, अपितु हमें समसामयिक जीवनबोध को सामने रखना होगा।"[1]

युगीन परिवेश की विविध समस्याओं पर रचित उनकी कविताओं में नैतिकता-पूर्ण आदर्शवाद ही परिलक्षित होता हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ ही राष्ट्रीय भावना ने महात्मा गान्धी के नेतृत्व में जैसा स्वरूप धारण किया था, उसका प्रभाव भी द्विवेदीयुगीन काव्य पर पड़ा। यद्यपि, एक युगान्तर उपस्थित हो गया था और भारतेन्दु-युग से चली आ रही देशभक्ति की भावना ने अब स्वतन्त्रता-प्राप्ति का लक्ष्य ग्रहण कर लिया था, तथापि राजभक्ति की धारा भी क्षीण एवं मन्दगति से बह रही थी। द्विवेदीजी भी अपनी 'बालविनोद' शीर्षक कविता में आलस्य, फूट, मद-मोह आदि दूर करने की प्रार्थना ईश्वर से करने के साथ ही सम्राट् एडवर्ड के चिरायु होने की कामना करते हैं :

है एक और बिनती तुमसे हमारी,
सो भी करो सफल है प्रभु पापहारी।
ये सातवें नृप नए एडवर्ड देव,
रानी समेत चिरजीवी रहें सदैव।।[2]

परन्तु, परवर्त्ती कई कविताओं में उन्होंने भारतमाता और स्वतन्त्रता की चर्चा की है। 'वन्दे मातरम्' की छाया लेकर द्विवेदीजी ने हिन्दी में गीत लिखे। इस गीत

---

१. डॉ० गंगाप्रसाद विमल : 'द्विवेदीजी की काव्यसृष्टि', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० ९२ ।

२. 'सरस्वती', फरवरी, १९०२ ई०, पृ० ५०।

में भारतमाता को सजल, सफल बताया गया है और इस मूर्त्ति की ही भावना को अपना इष्ट माना गया है :

पानी की कुछ कमी नहीं है, हरियाली लहराती है।
फल और फूल बहुत होते हैं, रम्य रात छवि छाती है।
मलयानिल मृदु-मृदु बहती है, शीतलता अधिकाती है,
सुखदायिनी वरदायिनी तेरी मूर्त्ति मुझे अति भाती है।[१]

भारत-वन्दना के क्रम में द्विवेदीयुगीन कवियों ने जन्मभूमि के सौख्य और रूपांकन के साथ-ही-साथ सम्पूर्ण जनजीवन को जयनाद से आह्लादित कर दिया है। द्विवेदीजी की एक कविता 'जन्मभूमि' में भी इसी भावना को अभिव्यक्ति मिली है। जन्मभूमि की कल्पना एक गृह के रूप मे की गई है तथा प्रत्येक भारतवासी को उसमें निवास करनेवाले एक परिवार का अंग बताया गया है। यथा :

यह जो भारतभूमि हमारी,
जन्मभूमि हम सबकी प्यारी।
एक गेह सम विस्तृत भारी,
प्रजा कुटुम्ब तुल्य है सारी॥[२]

इस प्रकार, उन्होंने जन-एकता एवं जन-बन्धुत्व का मन्त्रोच्चार कर जन्मभूमि-वन्दना का नया आयाम प्रस्तुत किया। स्वतन्त्रता का समर्थन भी उन्होंने 'सेवा-वृत्ति की विगर्हणा' शीर्षक कविता में जोरदार शब्दों में किया है :

स्वतन्त्रता-तुल्य अति ही अमूल्य रत्न,
देखा न और बहु बार किया प्रयत्न।
स्वातन्त्र्य में नरक बीच विशेषता है,
न स्वर्ग भी सुखद जो परतन्त्रता है॥[३]

स्वदेशी-आन्दोलन के अन्तर्गत विदेशी वस्तुओं के व्यापक बहिष्कार का जो दौर उन दिनों चला था, द्विवेदीजी ने भी 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' लिखकर अपना योग उसमे दिया। उन्होंने लिखा :

स्वदेशी वस्त्र को स्वीकार लीजै,
विनय इतना हमारा मान लीजै।
शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागो,
न जाओ पास इससे दूर भागो।[४]

---

१. 'सरस्वती', फरवरी-मार्च, १९०३ ई०, पृ० ५०।
२. उपरिवत्, पृ० ५१।
३. 'सरस्वती', सितम्बर, १९०२ ई०, पृ० २९१।
४. सरस्वती, जुलाई, १९०३ ई०, पृ० २३४।

राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ-ही-साथ द्विवेदी-युगीन कवियों का ध्यान सामाजिक अस्तव्यस्तता और दूषणों पर भी गया। डॉ० परशुराम शुक्ल विरही ने लिखा है :

"अपने समाज की समकालीन सामाजिक और आर्थिक दशा पर कवियों ने अनेक प्रकार से अपनी भावाभिव्यक्ति की है। कहीं सीधे-सादे रूप में यथार्थ चित्रण किया है, कहीं समाज और देश की दयनीय दशा पर क्षोभ प्रकट किया है, कहीं हास्य-व्यंग्य के चुटीले माध्यम से कवि ने अपनी बात कही है।"[१]

आचार्य द्विवेदीजी की कविताओं में भी देश की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक दशा के अंकन की यही प्रविधियाँ अपनाई गई है। नारी-सुधार, ब्राह्मण-समाज के उत्थान, दहेज-प्रथा, आर्थिक संकट, बाल-विवाह, मांस-भक्षण आदि देशव्यापी विविध समस्याओं और कुप्रथाओं को विषय बनाकर द्विवेदीजी ने कविताएँ लिखी। इस दृष्टि से उनकी 'भारतदुर्भिक्ष'[२], 'बाल-विधवा-विलाह',[3] 'मांसाहारी को हण्टर',[४] 'विधि-विडम्बना',[५] 'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप'[६], 'ठहरौनी'[७] आदि खड़ी बोली की तथा 'कान्यकुब्जलीलामृतम्' जैसी संस्कृत की कविताएँ द्रष्टव्य हैं। अपने समाज में व्याप्त कुरीतियों के कारण द्विवेदीजी को गहरा क्षोभ था, इस कारण उन्होने अवसर मिलते ही उन दुर्गुणों को प्रकाश मे लाया है। देश की दुर्गति पर उन्हे भी इतना ही क्षोभ था, जितना दुःख भारतेन्दु एवं उनके सहयोगी साहित्यकारों को होता था। भारतेन्दु श्रीहरिश्चन्द्र'[८] की तरह उन्होने भी भारत-दुर्दशा पर आँसू बहाये हैं :

> यदि कोई पीड़ित होता है,
> उसे देख सब घर रोता है।
> देश-दशा पर प्यारे भाई,
> आई कितनी बार रुलाई ॥[९]

---

१. डॉ० परशुराम शुक्ल विरही : 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद', पृ० ९० ।

२. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १०५ ।

३. 'भारतमित्र', ७ अक्टूबर, १८९८ ई० ।

४. 'हिन्दी-बंगवासी', १९ नवम्बर, १९०० ई० ।

५. 'सरस्वती', मई, १९०१ ई०, पृ० १४७-१४८ ।

६. 'सरस्वती', सितम्बर, १९०६ ई०, पृ० ३५१—३५४ ।

७. 'सरस्वती', नवम्बर, १९०६ ई०, पृ० ४३७—४४२ ।

८. 'रोवहु सब मिलिके आवहु भारत भाई।
हा हा भारत दुर्दशा देखि न जाई ॥'
—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'भारत-दुर्दशा', भारतेन्दु-ग्रन्थावली, पृ० ४६९ ।

९. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३६७ ।

देश-भर में जैसी विडम्बना व्याप्त थी, उसकी ओर संकेत उन्होंने अपनी 'विधि-विडम्बना' शीर्षक कविता में किया है :

> **दुराचारियों को तू प्रायः धर्माचार्य बनाता है,**
> **कुत्सित कर्म-कुशल-कुटियों को अक्षरज्ञ उपजाता है।**
> **मूर्ख धनी विद्वज्जन निर्धन उलटा सभी प्रकार,**
> **तेरी चतुराई को ब्रह्मा ! बार-बार धिक्कार।**[१]

विधाता को धिक्कारने के व्याज से इन पंक्तियों मे देश की विविध उल्टी व्यवस्थाओं की ही चर्चा हुई है। अपनी काव्यकुब्ज ब्राह्मण-जाति की अधोगति का द्विवेदीजी को बड़ा क्षोभ था। 'कान्यकुब्जलीलामृतम्' तथा 'कान्यकुब्ज-अबलाविलाप' में उनके इस असन्तोष को अभिव्यक्ति मिली है। यथा :

> **हे भगवान ! कहाँ सोये हो ? विनती इतनी सुन लीजै,**
> **कामिनियों पर करुणा करके कमले ! जरा जगा दीजै।**
> **कनवजियों में घोर अविद्या जो कुछ दिन से छाई है,**
> **दूर कीजिए उसे दयामय ! दो सौ दफे दुहाई है।**[२]

कान्यकुब्जों मे व्याप्त अज्ञान के अन्धकार के दूर करने के साथ-ही-साथ स्त्रियों के उत्थान की प्रार्थना भी द्विवेदीजी ने ईश्वर से की है। स्त्रियों की अशिक्षा तथा उनकी सामाजिक अधोगति को दूर करने के सम्बन्ध में उन्होंने महिला-परिषद् (काशी) के लिए रचे गए गीतों में हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। वे लिखते हैं :

> **पढ़ती थी वेद तक जहाँ महिला सदैव ही,**
> **नारी-समूह है वही अज्ञान हमारा।**[३]

'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप' में उन्होने नारी-जीवन की समस्त वेदना को मुखरित किया है। इसी क्रम में वे **गोस्वामी तुलसीदास** की ख्यात पंक्तियो (ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी) पर व्यंग्य भी करते है। यथा :

> **महामलिन से मलिन काम हम करती हैं दिनरात,**
> **दुखी देख पति पिता पुत्र को व्याकुल हो कृश करतीं गात।**
> **हे भगवान हाय ! तिस पर भी उपमा कैसी पाती हैं,**
> **ढोल तुल्य ताड़न अधिकारी हमीं बनाई जाती हैं॥**[४]

स्त्रियों की समस्या से ही सम्बद्ध दहेज की प्रथा भी है। द्विवेदीजी ने **'ठहरौनी'** कविता में इस प्रथा की निःसारता एवं निर्ममता का बखान किया है :

---

१. 'सरस्वती', मई १९०१ ई०, पृ० १४७।

२. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ४३७।

३. 'सरस्वती', जनवरी, १९०६ ई०, पृ० ३७।

४. 'सरस्वती', सितम्बर, १९०६, पृ० ३५२।

लड़के के विवाह में कहिए मोलतोल क्यों करते हो ?
इस काले कलक को हा हा ! क्यों अपने सिर धरते हो ?
जिनके नहीं शक्ति देने की क्यों उनका धन हरते हो ?
चढ़कर उच्च सुयश-सीढ़ी पर क्यों इस भाँति उतरते हो ?[१]

अपने कई धार्मिक और नैतिक आदेशों की अभिव्यंजना द्विवेदीजी ने की है। मांसाहारियों पर व्यंग्य करनेवाली अपनी कविता 'मांसाहारी को हण्टर' में उन्होंने देश में खानपान-सम्बन्धी नैतिकता पर बल दिया है :

धिक्कार तोहिं, नर-जन्म वृथा हि पायो,
आहार मांस करि मानुषता नसायो।
तोसों भले पशु, असभ्य मनुष्य आदि,
हा हन्त ! हन्त !! तव जीवन जन्मबादि ।।[२]

इस प्रकार, द्विवेदीजी ने युग की आवश्यकता और समाज की माँग के अनुरूप दुर्भिक्ष, कान्यकुब्जो की अधोगति, स्त्रीशिक्षा, विधवाओं की दशा, मांसभक्षण, स्वतन्त्रता आदि कई विषयों को कविता का आलम्बन बनाया। उनकी समकालीन सामाजिक कविताधारा मुख्य रूप से नैतिक आदर्शो से व्याप्त थी। भारतेन्दु-युगीन कवियों ने समाज के अवगुणों को दूर करने के लिए हास्य और व्यंग्य की मनोरजन-कारी सुधारात्मक नीति अपनाई थी, परन्तु द्विवेदीजी एवं उनके समसामयिक कवियों ने सामाजिक अवनति को सुधारने के लिए नीतिपरक—आदर्शवादी मार्ग अपनाया। सच पूछा जाय, तो हिन्दी-कविता में आदर्शवादिता का चरम प्रस्तुतीकरण द्विवेदी-कालीन काव्य में ही हुआ। सामाजिक-नैतिक आदर्शो की अभिव्यंजना करनेवाली कविताओं के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने आध्यात्मिक तत्त्वो को भी अपनी कविता का आलम्बन बनाया। भर्तृहरि, पण्डितराज जगन्नाथ और कालिदास प्रभृति की संस्कृत-भक्तिपरक रचनाओं का अनुवाद करने तथा सात्त्विक ब्राह्मण-वंश में जन्म लेने के संस्कार-स्वरूप उनके हृदय मे भवित एवं अध्यात्म की ज्योति भी जल रही थी। ईश्वर की भक्ति-सम्बन्धी उनकी अनेक कविताएँ प्रार्थना की कोटि की हैं, तथा उनमें मुख्य रूप से देश की बिगड़ी हुई दशा एवं हिन्दी की अल्पप्रगति को सुधारने की कामना की गई है। द्विवेदीजी की ऐसी कविताओं में 'त्राहि ! त्राहि !! त्राहि !!!'[३]

---

१. 'सरस्वती', नवम्बर, १९०६ ई०, पृ० ४३८।

२. 'हिन्दी-बंगवासी', १९ नवम्बर, १९०० ई०।

३. 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार', ७ अप्रैल, १८९९ ई०।

'प्रार्थना'[१] 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना'[२] आदि उल्लेखनीय है। इनमें भगवान् से सुधार एवं उच्च आदर्शस्थापन की कामना ही की गई है। यथा :

हे जगदीश! शीश मैं अपनो बीस बार महि धारी।
पुनि पुनि पुनि तृण तोहि जोरि कर विनती करौं तिहारी॥
कोप शान्त करि कान्त रूप धरि हरे! हरहु दुख भारी।
न तु पाताल प्रवेश करेगो अब यह देश दुखारी॥[३]

द्विवेदीजी की कई कविताओं में ईश्वर और जगत् से सम्बद्ध उनके आध्यात्मिक विचारों का उपस्थापन हुआ है। 'देवीस्तुतिशतक' उनकी मौलिक भक्तिपूर्ण काव्यरचना है। दैहिक तापों से मुक्ति पाने के लिए चण्डी भवानी की रूप-वर्णनयुक्त स्तुति एवं उनके प्रति अपने आत्मनिवेदन को द्विवेदीजी ने इस रचना में मुखर किया है, साथ-ही-साथ लोकहित की भावना से भी उन्होंने अपने 'देवी-स्तुतिशतक' को अनुप्राणित किया है। संस्कृत की सूर्यशतक, परमेश्वरशतक, चण्डी-शतक आदि रचनाओं की पद्धति पर इसकी रचना हुई है और तदनुकूल ही इसमें भी देवी के विराट् रूप की स्तुति गाई गई है। यथा :

शक्ति त्रिशूल असिपास गदा कुठारा,
धन्वा धुरीण युत केहरि पै सवारा।
जासों समस्त महिषासुर सैन्य हारी,
ता अष्टबाहु जननीहि नमो हमारी॥[४]

देवी चण्डी की ही भाँति ईश्वर के अन्य रूपों तथा उनकी महिमा का भी अंकन उन्होंने अपनी कुछ कविताओं में किया है। इस कोटि की उनकी प्रमुख कविताओं में 'अयोध्या का विलाप'[५], 'ईश्वर की महिमा'[६], 'भगवान की बड़ाई'[७], 'गोरी'[८], 'गंगा-भीष्म'[९] आदि की चर्चा की जा सकती है। ईश्वर के अस्तित्व में अगाध विश्वास रखने और आध्यात्मिक रुचि से सम्पन्न होते हुए भी द्विवेदीजी ने धार्मिक

---

१. 'सरस्वती', फरवरी, १९०२ ई०, पृ० ८६—९३।
२. 'आचार्य द्विवेदी' : (सं०) निर्मल तालवार, पृ० ७१ पर उद्धृत।
३. 'हिन्दी-बंगवासी', २९ नवम्बर, १८८७ ई०।
४. 'आचार्य द्विवेदी' : (सं०) निर्मल तालवार पृ० ७० पर उद्धृत।
५. 'सुदर्शन', मार्च, १९०० ई०।
६. 'सरस्वती', दिसम्बर, १९०१ ई०, पृ० ४०६।
७. 'सरस्वती', मार्च, १९०६ ई०, पृ० १०२-१०३।
८. 'सरस्वती', पृ० १०३-१०४।
९. 'सरस्वती', मई १९०६ ई०, पृ० १७३-१७४।

क्षेत्र में व्याप्त विविध कुरीतियों का विरोध किया। विधवा-विवाह को अपनी 'बाल-विधवा-विलाप' कविता में सगत बतलाकर और कान्यकुब्ज ब्राह्मण-समाज की अवनति का कई कविताओं मे निर्देश कर उन्होने परम्परित धर्मध्वजियों को कुपित कर दिया था। 'कथमहं नास्तिकः' शीर्षक संस्कृत-कविता में द्विवेदीजी ने उन सारे धर्माचार्यों की पोल खोली है, जो उन्हे नास्तिक कहा करते थे। इस कविता मे उनकी धार्मिक विचार-धारा का सर्वाधिक प्रखर एवं समन्वित सुधारवादी रूप मिलता है। कुल मिलाकर, द्विवेदीजी ने अपनी ईश्वरीय सत्ता के प्रति आस्था तथा धार्मिक कुप्रथाओं के परिष्कार की अभिलाषा को अपनी अध्यात्म-सम्बन्धी कविताओं में अभिव्यक्त किया है। भक्तिपरक रचनाओं के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने कई सौन्दर्यपरक कविताओं की भी रचना की। सौन्दर्य के क्षेत्र में उन्होंने नारी-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य दोनों का उपस्थापन अपनी कविता में किया है। नारी-सौन्दर्य के चित्रण की दिशा मे उनकी निजी शृंगार-वर्णन-सम्बन्धी नैतिक मान्यताएँ सदा बाधक बनी है। डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त ने लिखा है :

"द्विवेदीजी काव्य में शृंगार रस को स्थान न देने के प्रति प्रायः सजग रहे हैं, किन्तु रविवर्मा के चित्रों पर आधारित कविताओं एवं 'विहार-वाटिका' में वे अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह नही कर पाये है। इन कविताओं में नायिका के हाव-भाव, नख-शिख-सौन्दर्य, वसनभूषण-सज्जा और संयोग-वियोगात्मक स्थितियों का उल्लेख इस बात को प्रमाणित करता है कि वे शृंगार रस के प्रति उदासीन नहीं रहे है।"[1]

'विहार-वाटिका' में द्विवेदीजी ने जयदेव-विरचित ख्यात शृंगार-काव्य 'गीतगोविन्द' के कतिपय छन्दों का भावानुवाद किया है और इस अनुवाद में भी शृंगारिक प्रसंगों के अनुकूल सौन्दर्य-वर्णन से वे बाज नही आये हैं। जैसे, नायिका राधा का यह रूप द्रष्टव्य है :

सुषमा सदन सुचि रूप सुन्दर धन्य लखि मन मानही।
अनमोल गोल अडोल गौर उरज युगुल समान ही ॥[2]

'कुमारसम्भवसार' में कालिदास द्वारा वर्णित पार्वती की सुन्दरता को अनूदित करने में भी द्विवेदीजी ने इसी प्रतिभा का परिचय दिया है। स्त्री-सौन्दर्य के वर्णन का ही उदाहरण उनके द्वारा भर्तृहरि-कृत 'शृंगारशतक' के अनुवाद 'स्नेहमाला' में भी अनेक स्थलों पर प्रस्तुत हुआ है। यथा :

चन्द्रानन सरसिज नयन स्वर्णमयी सब देह।
कच कुंचित लखि होत हैं बलि बलि अलिगण खेह ॥
चक्रवाक कुच केहरि कटि नितम्ब विस्थूल।
वचन सरस मृदु अपर सब तिय स्वभाव के मूल ॥[3]

---

१. डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त : 'आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त', पृ० १२३।
२. निर्मल तालवार : (सं०) 'आचार्य द्विवेदी', पृ० ६६ पर उद्धृत।
३. उपरिवत्।

परन्तु, जितनी स्वच्छन्दता एवं मुक्त हृदय के साथ द्विवेदीजी ने अनूदित काव्य-कृतियों में शृंगार तथा नारी-सौन्दर्य का अंकन किया है, उतनी रुचि तथा सहृदयता के साथ वे अपनी मौलिक कविताओं में नारी के रूप-वर्णन की दिशा में प्रवृत्त नही हुए। इस दिशा मे उनकी शृंगार-विषयक काव्यगत मान्यताएँ बाधक थीं। यही कारण है कि नारी के रूप-सौन्दर्य के चित्रण में उनकी लेखनी सहमी-सहमी है। **डॉ० रामसकलराय शर्मा** ने उनके ऐसे सौन्दर्य-वर्णनों के सन्दर्भ में लिखा है :

"कवि की स्थिति यहाँ ठीक वैसी ही जँचती है, जैसे कोई गंगास्नान के लिए एक लम्बी यात्रा करके आये, परन्तु घाट पर पहुँचकर चुल्लू भर पानी मस्तक पर चढा ले और सीढ़ियों पर बैठकर स्नान की क्रिया पूरी कर ले और धारा में तैरने का साहस न करे।"[1]

नारी के सौन्दर्य-अंकन की दिशा में द्विवेदीजी की प्रतिभा का सर्वाधिक स्फुरण 'सरस्वती' में प्रकाशित **राजा रविवर्मा** के पौराणिक ख्यात आख्यानों पर आधृत तैलचित्रों के काव्यात्मक परिचय देने के सन्दर्भ में हुआ। राजा रविवर्मा के चित्र सन् १९०० ई० से ही 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगे थे। परन्तु, सरस्वती-सम्पादन का भार ग्रहण करते ही द्विवेदीजी ने उनके चित्रो की व्याख्या करनेवाली परिचयात्मक कविताओं को चित्रों के साथ-साथ प्रकाशित करने की परम्परा का सूत्रपात किया। चित्रकला के साथ काव्यकला के पारस्परिक संयोग को स्थापित करने के लिए द्विवेदीजी ने न केवल दूसरों से इस कोटि की कविताएँ लिखवाईं और हिन्दी के प्राचीन कवियों के दोहे चित्रों के साथ प्रकाशित किये, अपितु स्वयं भी खड़ी बोली में कई परिचयात्मक कविताओं की रचना की। रम्भा, कुमुदसुन्दरी, महाश्वेता, ऊषा-स्वप्न, गौरी, गंगा, भीष्म, प्रियंवदा, इन्दिरा आदि चित्रों पर इन्हीं शीर्षकों की उनकी कविताएँ हैं। इन कविताओं में अधिकांश का सम्बन्ध नारी-सौन्दर्य से है।

'रम्भा' का रूप इस प्रकार है :

वेश विचित्र बनाया इसने,
मुख-मयंक दिखलाया इसने।
भृकुटी धनुषाकार मनोहर,
अरुण दुकूल बहुत ही सुन्दर ॥[2]

इसी प्रकार, 'कुमुदसुन्दरी' की शोभा दर्शनीय है :

इसके अधर देख जब पाते,
शुष्क गुलाब फूल हो जाते।
कोमल इसकी देहलता है,
मूर्त्तिमती यह सुन्दरता है ॥[3]

---

१. डॉ० रामसकलराय शर्मा : 'द्विवेदी-युग का हिन्दी-काव्य', पृ० ९३।
२. निर्मलतालवार : (सं०) 'आचार्य द्विवेदी', पृ० ७८ पर उद्धृत।
३. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३७७।

स्पष्ट ही ऐसी परिचयात्मक कविताओं में द्विवेदीजी द्वारा किया गया नारी-सौन्दर्य-वर्णन अपेक्षित मनोहारिता और सुरुचि से सम्पन्न नहीं है। कविता इन स्थलों पर आदर्शवादी नीतियों से दबी होने के कारण पूर्ण रूप से उन्मुक्त नहीं हो सकी है। साथ ही, काव्यत्व की दृष्टि से भी इन कविताओं में किसी विशेषता के दर्शन नहीं होते हैं। निर्मम तुकबन्दी अथवा शब्दो को पद का रूप प्रदान करना ही इसे कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, 'महाश्वेता' के इस वर्णन में आलोचक भला किस काव्यगत सौन्दर्य का शोध कर सकते हैं :

यह सुन्दरी कहाँ से आई,
सुन्दरता अति अद्भुत पाई।
सूरत इसकी अति भोली है,
और न इसकी हमजोली है ॥[1]

इस प्रकार, 'प्रियंवदा' के अधोलिखित वर्णन मे भी किसी प्रकार का कोई काव्यत्व नहीं है :

सीखा चित्र बनाना इसने,
करके कौशल नाना इसने।
पढ़ना और पढ़ाना इसने,
पति का चित्त चुराना इसने ॥
पुरुषों में भी जाना इसने।
मन्द-मन्द मुस्काना इसने।
सुधा-सलिल बरसाना इसने,
जरा नहीं शरमाना इसने ॥[2]

स्पष्ट है कि नारी-सौन्दर्य के मौलिक काव्याभिव्यजन में द्विवेदीजी को सफलता नहीं मिली है। प्रकृति-सौन्दर्य के क्षेत्र में भी उनकी प्रतिभा ने मौलिकता का प्रदर्शन नहीं किया है। कालिदास जैसे महाकवियों के काव्य में वर्णित प्रकृति को हिन्दी में अनूदित करने में भी वे अधिक सफल नहीं हुए है। उनकी कविताओं में कहीं तो प्रकृति का भाव-चित्रण हुआ है और कही रूपगत चित्रण हुआ है। प्रकृति के रूप-चित्रण की दृष्टि से 'प्रभातवर्णनम्' की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

क्व मामनादृत्य निशान्धकारः पलाय्य पापः किल यस्तनोति ।
ज्वलन्निव क्रोधभरेण भानुरङ्गाररूपः सहसाविरासीत् ॥[3]

---

१. निर्मल तालवार : (सं०) 'आचार्य द्विवेदी', पृ० ७८ पर उद्धृत ।

२. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ४४१ ।

३. उपरिवत्, पृ० १६९ ।

द्विवेदीजी की प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी कतिपय मौलिक कविताएँ संस्कृत में लिखी गई हैं और कुछ की रचना खड़ी बोली में हुई है। ऐसी कविताओं में 'प्रभातवर्णनम्', 'सूर्यग्रहणम्', 'शरत्सायंकाल.', 'वसन्तः', 'कोकिलः' आदि की चर्चा की जा सकती है। इनमें भी द्विवेदीजी की संस्कृत-पद्यावली विशेष प्रसादयुक्त एवं काव्योचित है। यथा :

> कुशेशयैः स्वच्छजलाशयेषु
> वधूमुखाम्भोजदलैर्गृहेषु ।
> वनेषु पुष्पैः रचितः सपर्य्या,
> तत्पादसंस्पर्शनया कृतासीत् ॥[१]

इसके विपरीत, उनकी खड़ी बोली में रचित प्रकृति-सौन्दर्य-सम्बन्धी कविताओ में अपेक्षित प्रवाह एवं काव्यात्मकता के दर्शन नही होते । डॉ० उदयभानु सिंह ने द्विवेदीजी की ऐसी कविताओं के सन्दर्भ में लिखा है :

"निरूपित और निरूपयिता की दृष्टि से द्विवेदीजी के प्रकृति-वर्णन में केवल दृश्य-दर्शक-सम्बन्ध की व्यंजना हुई है, तादात्म्य-सम्बन्ध की नहीं । यही कारण है कि उनकी प्रकृति-विषयक कविताओं में गहरी अनुभूति की अपेक्षा वर्णनात्मकता ही अधिक है।"[२]

खड़ी बोली में लिखी गई द्विवेदीजी की प्रकृति-सम्बन्धी कविताएँ अधिकांशतः बालोपयोगी स्तर की हैं। यथा 'कोकिल' का यह वर्णन द्रष्टव्य है :

> कोकिल अति सुन्दर चिड़िया है,
> सच कहते हैं, अति बढ़िया है।
> जिस रंगत के कुँवर कन्हाई,
> उसने भी वह रंगत पाई ॥[3]

इस एक उदाहरण के आधार पर ही यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि द्विवेदीजी की प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी खड़ी बोली की कविताएँ सफल नहीं हो सकी है। प्रमुख रूप से द्विवेदीजी ने साहित्यिक एवं सामयिक-राष्ट्रीय समस्याओं, अध्यात्म. प्रकृति एवं सौन्दर्य को ही अपनी कविता का विषय बनाया है। साथ-ही-साथ, वे अन्य उपयोगी एवं सामयिक विषयों की भी उपेक्षा नहीं कर सके। इस कारण, उनकी कविताओं का एक पृथक् विभाग इन विविध विषयों पर आश्रित भी माना जा सकता है। इस कोटि

---

१. देवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० १६९ ।

२. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और अनका युग', पृ० ११५ ।

३. 'सरस्वती', सितम्बर, सन् १९०१ ई०, पृ० ३०० ।

की विविध-विषयात्मक कविताओं में 'गानविद्या'[१], 'श्रीहार्नली-पंचक'[२] 'विचार करने योग्य बातें'[३], 'शहर और गाँव'[४], 'शरीर-रक्षा'[५], 'भवन-निर्माण-कौशल'[६] आदि की चर्चा की जा सकती है। स्पष्ट ही, इनमें विषय का अद्भुत वैविध्य मिलता है। एक ओर शरीर-रक्षा के उपायों पर कविता लिखी गई है, तो दूसरी ओर शहर और गाँव का वार्त्तालापमय तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है; एक ओर गानविद्या को कविता का विषय बनाया गया है, तो दूसरी ओर भवन-निर्माण-कला पर कविता लिखी गई है। इस प्रकार, द्विवेदीजी की कविताई के विविध विषयों पर आश्रित आयाम दृष्टिगत होते हैं। 'सरस्वती' के पन्नों को भरने के लिए उन्हे कविता को विविध स्तरों पर लिखना पड़ा। इसी कारण, उनकी काव्य-कला कोई निश्चित रूप नही धारण कर सकी और कई विषयों में उलझकर रह गई।

विधान की दृष्टि से द्विवेदीजी की काव्य-रचनाओं के चार रूप सामने आये हैं : प्रबन्ध, मुक्तक, गीत और गद्यकाव्य। प्रबन्ध-रचना की मूल आत्मा को अभिव्यक्त करने की दृष्टि से द्विवेदीजी ने किसी महाकाव्य अथवा खण्डकाव्य की रचना नहीं की थी। उनकी कई लम्बी कविताओं मे प्रबन्ध के अनुकूल वातावरण मिलता है, कथात्मकता का निर्वाह मिलता है और पद्य-प्रबन्ध के सभी गुण मिलते है। उनकी ऐसी कथात्मक प्रबन्ध-कविताओं में हम 'सुतपंचाशिका', 'द्रौपदीवचन-वाणावली', 'जम्बुकी-न्याय', 'टेसू की टाँग' आदि की गणना कर सकते हैं। साथ ही, द्विवेदीजी की कई कविताओं में प्रबन्ध एवं मुक्तक के गुण एक साथ मिलते हैं। इस कोटि की रचनाओं का रूप-विधान मुख्यतया वस्तुवर्णनात्मक है। इनके विषय में डॉ० उदयभानु सिंह ने लिखा है :

"वस्तुवर्णनात्मक पद्यप्रबन्धों में बिना किसी कथानक के किसी वस्तु या विचार का प्रबन्धकाव्य की भाँति कुछ दूर तक निर्वाह किया गया है और फिर कविता समाप्त हो गई है।"[७]

इस श्रेणी की कविताओं को प्रबन्धमुक्त की संज्ञा भी दी जा सकती है। द्विवेदीजी की 'कुमुदसुन्दरी', 'भारत दुर्भिक्ष', 'समाचारपत्र-सम्पादकस्तव:', 'गर्दभ-काव्य' जैसी रचनाएँ इसी कोटि की हैं। शुद्ध रूप से मुक्तक कही जानेवाली कई

---

१. 'सरस्वती', सितम्बर, १९०३ ई०, पृ० ३०७-३०८।
२. 'सरस्वती', अक्टूबर, १९०३ ई०, पृ० ३४६।
३. 'सरस्वती', फरवरी, १९०४ ई०, पृ० ४६-४७।
४. 'सरस्वती', अप्रैल, १९०६ ई०, १५४—१५६।
५. 'सरस्वती', मई, १९०६ ई०, पृ० १७४।
६. 'सरस्वती', जुलाई, १९०९ ई०, पृ० ३१९—३२४।
७. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० १०५।

कविताएँ भी द्विवेदीजी ने लिखी हैं। मुक्तक-रचनाओं में द्विवेदीजी ने मुख्य रूप से सौन्दर्य अथवा उपदेश को विषय के रूप ग्रहण किया है। 'स्नेहमाला', 'विहार-वाटिका', 'प्रभातवर्णनम्', 'सूर्यग्रहणम्' जैसी उनकी मुक्तक-रचनाओं मे नारी अथवा प्रकृति के सौन्दर्य का निरूपण ही लक्ष्य प्रतीत होता है। दूसरी ओर, 'विचार करने योग्य बातें' और 'विनयविनोद' में नीति-उपदेश के लिए मुक्तक-शैली में काव्यप्रयोग द्विवेदीजी ने किये हैं। प्रबन्ध और मुक्तक की परम्परित शैलियों मे काव्य-रचना करने के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने कतिपय गीत भी लिखे। महिला-परिषद् के लिए लिखे गये गीत और 'टेसू की टाँग' की गणना इनमें हो सकती है। आल्हापरक गेयता के आधार पर 'सरगौ नरक ठेकाना नाहीं' की गिनती भी गीतों की शृंखला में होनी चाहिए। गीतों के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने गद्यकाव्य-लेखन की दिशा में भी प्राथमिक प्रयास किया। उनकी 'प्लेगराजस्तव', 'समाचारपत्रों का विराट रूप' जैसी रचनाएँ गद्यकाव्यात्मक गरिमा से सपन्न हैं। इस कोटि की कविताओं में कल्पना एवं भाव-व्यंजना की उच्चता भले न हो, परन्तु गद्यकाव्य की दिशा में पहलकदमी होने के कारण इनका ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है।

द्विवेदीजी ने अपनी कविताओं में संस्कृत, हिन्दी, बँगला, मराठी और उर्दू के विविध छन्दों का प्रयोग किया है। वे छन्द को कविता की आत्मा नहीं मानते थे और उनकी दृष्टि में छन्द का महत्त्व अलंकार के ही समकक्ष था। डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त ने लिखा है :

"छन्दोविधान की दृष्टि से उन्होंने काव्य में समर्थ छन्दों की योजना पर बल देते हुए वर्णवृत्तों और अतुकान्त रचना का समर्थन किया है। उन्होंने अपनी कविताओं में छन्दोवैविध्य रखते हुए मात्रिक छन्दों के अन्तर्गत मुख्यतः दोहा, हरिगीतिका और तोमर का प्रयोग किया है।"[1]

छन्दों का प्रयोग करने में द्विवेदीजी ने वास्तव में वैविध्य दिखलाया है। उन्होंने संस्कृत-हिन्दी की हरिगीतिका, दोहा, स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, शिखरिणी, भुजंगप्रयात, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, नाराच, चामर, वसन्ततिलिका, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, तोमर,पज्झटिका, सवैया आदि जैसी छन्द-सरणियों का प्रयोग किया है। संस्कृत-वृत्तों का प्रयोग करते समय मराठी-काव्यरचना-पद्धति उनके दृष्टिपथ में थी। बँगला के अमित्राक्षर छन्द को भी उन्होंने अपनाया। अपनी प्रारम्भिक अनूदित एवं मौलिक कविताओं की रचना द्विवेदीजी ने वसन्तलतिका, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित,इन्द्रवज्रा और मालिनी जैसे गणात्मक वृत्तों मे ही की है। वे गणात्मक छन्दों के प्रयोग में विशेष सिद्ध थे। अतुकान्त काव्य-रचना उन्हें विशेष

१. डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त : 'आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त', पृ० १२६।

इष्ट नहीं है। तुक मिलाने का मोह उनकी कविताओं का सौन्दर्य, गति एवं लय सब कुछ हरण कर लेता था, परन्तु तुक मिलाकर ही वे कविताएँ लिखते थे। उनकी कविताओं में केवल 'हे कविते' ही अन्त्यानुप्रास-रहित है। स्वयं तुकपूर्ण कविता का विविध छन्दों में सर्जन करने के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने अन्य कवियों को भी विविध छन्दों के प्रयोग के लिए प्रोत्साहित किया।

द्विवेदीजी ने भावना के रसात्मक आख्यान को कविता का शोभाधायक तत्त्व माना है। वे रस की काव्यात्मा के रूप में निष्पत्ति करने में असमर्थ रहे हैं। 'गर्दभकाव्य', 'ग्रन्थकार-लक्षण', 'टेसू की टाँग', 'ठहरौनी' आदि कविताओं में हास्यरस तथा व्यंग्य की सुन्दर व्यंजना मिलती है, परन्तु उनकी अधिकांश कविताओं में काव्य-सौन्दर्य का वास्तविक विन्यास नहीं दीख पड़ता है। **डॉ० आशा गुप्त** ने स्पष्ट किया है :

"द्विवेदीजी के काव्य में विषय की प्रधानता एवं रचना के सप्रयोजन होने से वे काव्योचित गुण न आ सके, जो सहृदय पाठक को आह्लादित कर सकते। अधिकांश कविताएँ भावों के वाचन-मात्र हैं, न उनमें शब्द-सौन्दर्य है और न अर्थ की रमणीयता।"[1]

इसी कारण, द्विवेदीजी की कविताओं में अलंकार-योजना भी समर्थ एवं स्पष्ट नहीं हो सकी है। कहीं-कहीं यमक और अनुप्रास का प्राचीन परिपाटी के अनुकूल प्रस्तुतीकरण हुआ है। यथा :

वृत्यनुप्रास : **नाभि नवल नीरज दिखलाती,**
स्तन-तट से पट को खिसकाती।[2]
यमक : **गौरी गौरीशिखर सुधारी।**[3]

इसी तरह, कतिपय अन्य अलंकारों के भी प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप :

उपमा-विषय : **वरद नील नीरद सम काला।**
प्रतीप : **इसके भृकुटी-भय का मारा,**
लोप शरासन है बेचारा।
इसके अधर देख जब पाते,
शुष्क गुलाब फूल हो जाते ५

---

१. डॉ० आशा गुप्त : 'खड़ी बोली-काव्य में अभिव्यंजना' पृ० २४९।
२. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३७५।
३. उपरिवत्, पृ० ४०५।
४. उपरिवत्, पृ० ३८५।
५. उपरिवत्, पृ० ३७८।

व्यतिरेक : रूपवती यह रम्भा नारी,
सुरपति तक को यह अति प्यारी।
रति, धृति भी दोनों बेचारी,
इसे देख मन में हैं हारी।[१]

अर्थान्तरन्यास : सौम्यस्वरूप शिव ने सिर पै बिठाया,
सर्वप्रकार अति आदर भी दिखाया।
तो भी महाकृश कलाधर की कला है,
हा हा ! पराजय नहीं किसको खला है।[२]

निश्चय ही, इन उदाहरणों में अलंकार की उपस्थिति लक्षित होती है, फिर भी इन कविताओं में न कथन की मनोरम भंगिमा है और न विशेष काव्यगत चमत्कार ही दीख पड़ता है। इसी भाँति, द्विवेदीजी ने अपनी कविताओं में कहावतों और मुहावरों का भी प्रयोग किया है। इनके उपयोग से कविता में किंचित् सजीवता आई है, परन्तु इनका प्रचुर उपयोग नहीं हुआ है। उनके सम्पूर्ण काव्य में मात्र 'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप' और 'ठहरौनी' को ही कहावतों-मुहावरों के सजीव प्रयोग की दृष्टि से उल्लेखनीय माना जा सकता है। इन दोनों ही कविताओं में मार्मिक प्रसंगों की मुहावरों के माध्यम से व्यजना की गई है। यथा :

पैदा जहाँ हुई हम घर में सन्नाटा छा जाता है।
बड़े बड़े कुलवानों का तो मुँह फीका पड़ जाता है।[३]

और :

कन्या-कुल को भाँति-भाँति से पीड़ित हम नित करते हैं।
मुनियों के वंशज होने का फिर भी दम भरते हैं।।[४]

फिर भी, अधिकांशतः द्विवेदीजी की कविताओं में उच्च कोटि के कवित्व एवं सजीवता का अभाव खलता है। भाषा एवं व्याकरण का अपने युग में नेतृत्व करनेवाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविताओं में भाषा और व्याकरण-सम्बन्धी कई दोष दृष्टिगत होते हैं। भाववाचक संज्ञापद सर्वनाम, शब्द-सन्धि, क्रियापद, लिंग, आदि के अनुचित प्रयोग तथा दूरान्वय, शैथिल्य आदि से सम्बद्ध विभिन्न दोष उनकी कविताओं में दीखते हैं। प्रारम्भिक रचनाओं को द्विवेदीजी भाषा-संकरता तथा विकृत शब्दों (मिष, मूरखताई, सुहागिलपन आदि) के अनावश्यक प्रयोग से नहीं बचा सके हैं। यथा :

---

१. देवीदत्त शुक्ल (सं०) : 'द्विवेदी काव्यमाला', पृ० ३७८।
२. उपरिवत्, पृ० ३०३।
३. उपरिवत्, पृ० ४२५।
४. उपरिवत्, पृ० ४३६।

अद्भुत मेरी सुन्दरताई, मूर्त्ति मनोहर मैंने पाई ।[1]

क्रियापद-सम्बन्धी दोष के दो उदाहरण द्रष्टव्य है :

नहीं कहीं भी भुवनान्तराल में,
दिखा पड़े है तव रूपरम्यता ।[2]

और : **जिनकी कीर्त्तिध्वजा अभी तक**
सतत फिरै हैं फहरानी ।[3]

लिंगदोष का तो एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा :

नूतन चित्र-चरित्र प्रसार,
करके उनकी चित्त अनुसार ।[4]

कहीं तुक के मोह और कही भाषा में कसावट लाने के लिए द्विवेदीजी ने संज्ञाओं को ही क्रियापद में परिणत कर देने की भूल कई बार की है । यथा :

काम कामिनी की ले छाया
जिसे चतुर्मुख ने निर्माया ।[5]

और : **सुषमा सर उसने अवगाहा**[6]

और : **सुरसरि ने इनको स्वीकारा ।**[7]

ऐसे ही विविध व्याकरणगत दोषो से व्याप्त होने के साथ-साथ द्विवेदीजी की कविता का प्रधान अवगुण है उसकी रसहीनता एवं शैथिल्य । आदर्श खड़ी बोली में तुकपूर्ण काव्य-रचना करने के आग्रह ने द्विवेदीजी की कविताओं में अद्भुत शैथिल्य ला दिया है । अपने आदर्शों की पूर्त्ति के लिए सचेष्ट होने के कारण द्विवेदीजी अपनी रचनाओं को समुचित कवित्वपूर्ण आभा नहीं प्रदान कर पाये हैं । डॉ० रामकुमारसिंह ने ठीक ही लिखा है :

"द्विवेदीजी के अनुवादों के छोड़कर अन्य लगभग सभी मौलिक रचनाएँ विचारों अथवा भावों की पद्य में परिणति-मात्र है । उनमें आनन्दस्वरूप रसों की निष्पत्ति करनेवाले गुणों, शब्द एवं अर्थ-सौन्दर्यो का नितान्त अभाव है । उनमें उद्बोधनात्मक कविताओं के अतिरिक्त अन्यान्य गति और लय सरलता तथा माधुर्य

१. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३८९ ।
२. उपरिवत्, पृ० २९१ ।
३. उपरिवत्, पृ० २८१ ।
४. उपरिवत्, पृ० ३०० ।
५. उपरिवत्, पृ० ३७७ ।
६. उपरिवत्, पृ० ३८६ ।
७. उपरिवत्, पृ० ४१५ ।

आदि विशेषताएँ मिलती ही नही। व्यंग्य एवं उद्‌बोधनात्मक रचनाओं मे केवल प्रवाह और ओजस्विता कभी-कभी दिखलाई पड़ जाती है। माधुर्य को तो द्विवेदीजी की नैतिकता साफ हजम कर गई है।"[१]

निश्चय ही, द्विवेदीजी के नेतृत्व में काव्य की मनोहारिता का ह्रास हुआ है। वे आदर्शवाद के पोषक, प्रचारक तथा काव्य के प्रोत्साहक थे। उपदेशों और घोषणाओं से खड़ी बोली का काव्य अपनी मनोरमता एवं रसात्मकता खो बैठा। द्विवेदीजी की निजी कविताएँ भी काव्यगत सौन्दर्य एवं सरलता से हीन प्रतीत होती है। उनमें कविता कही जाने योग्य किसी तत्त्व के दर्शन नहीं होते। अधोलिखित पंक्तियाँ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य है, जिनमें काव्यगत सौरस्य का लेशमात्र नहीं :

> **देखो यहाँ सकल बालक ये खड़े हैं,**
> **छोटे अनेक दस-पाँच कहीं बड़े हैं।**
> **हे हे दयालु इनका कर थाम लीजै,**
> **कीजै कृपा अब इन्हें मत छोड़ दीजै।**[२]

काव्यगत शैथिल्य एवं गद्यवत् पद्यसर्जन की इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप द्विवेदीजी काव्य-रचना के क्षेत्र में सफल नहीं हो सके। निष्कर्षतः, **डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय** के शब्दों में कहा जा सकता है :

"द्विवेदीजी के अपने काव्य में उनकी देशभक्ति, भाषा-भक्ति, जनता-भक्ति आदि उच्च भावनाओं का प्रसार हमें प्रभावित करता है, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति में कवि को सफलता नहीं मिली है।"[३]

कथा-साहित्य :

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने समसामयिक कहानी-उपन्यास जैसी कथात्मक विधाओं को अपनी लेखनी का उपादान नहीं बनाया। भाव एवं रचना-पक्ष की दृष्टि से तत्कालीन कथा-साहित्य द्विवेदीजी से उस सीमा तक प्रभावित नहीं है, जिस सीमा तक निबन्ध-रचना, कविता और भाषा का संचालन द्विवेदीजी के निर्देशानुसार होता था। कथा-साहित्य के नाम पर द्विवेदीजी ने स्वयं घोषणा करके कुछ नही लिखा है। फिर भी, उनकी कतिपय रचनाओं में कथा का आनन्द मिल जाता है। इस क्रम में सर्वप्रथम द्विवेदीजी द्वारा संस्कृत-महाकाव्यों के गद्य में किये गये भावार्थबोधक अनुवादों की चर्चा की जा सकती है। 'महाभारत', 'रघुवंश',

१. डॉ० रामकुमार सिंह : 'आधुनिक हिन्दी-काव्यभाषा', पृ० ४०६।
२. श्रीदेवीदत्त शुक्ल : (सं०) 'द्विवेदी-काव्यमाला', पृ० ३६२।
३. डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : 'आधुनिक हिन्दी-कविता : सिद्धान्त और समीक्षा', पृ० १२४।

'कुमारसम्भव', 'मेघदूत' एवं 'किरातार्जुनीयम' जैसे ख्यात संस्कृत-ग्रन्थों का खड़ी बोली-गद्य में भावार्थबोधक अनुवाद द्विवेदीजी ने प्रस्तुत किया है। इन अनुवादों की काया गद्य में होने के कारण कथात्मक हो गई है। इन्हे पढ़ते समय 'महाभारत', 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव', 'किरातर्जुनीयम्' आदि की कथा का ही बोध होता है एवं इन अनुवादों का सारा परिवेश कथा-साहित्य के अनुकूल ही है। इसी तरह, द्विवेदीजी द्वारा रचित उन कतिपय निबन्धों की भी गणना कथा-साहित्य के अन्तर्गत की जा सकती है, जिनकी चर्चा कथात्मक निबन्ध की संज्ञा देकर आलोचक कर आये है। ऐसे निबन्धों की कोटि में 'रसज्ञरंजन' के अन्तर्गत संकलित 'हंससन्देश' और 'नल का दुस्तर दूतकार्य' जैसी रचनाओ की चर्चा की जा सकती है। इन दोनों ही निबन्धों का रचना-विधान एवं स्वरूप कथात्मक है और द्विवेदीजी के कथा-साहित्य की सूची में इनकी गणना की जा सकती है। यही स्थिति **नारायण भट्ट** के संस्कृत-नाटक 'वेणीसंहार' के द्विवेदीजी द्वारा किये गये आख्यायिका जैसे भावार्थ-बोधक अनुवाद की भी है। इसका स्वरूप भी कथामय है। स्पष्ट है, यद्यपि द्विवेदीजी ने कथा-साहित्य के नाम पर किसी मौलिक एवं स्वतन्त्र रचना की सृष्टि नहीं की, तथापि उनके भावार्थबोधक गद्यानुवादों तथा कथात्मक निबन्धों में कथापरक तत्त्वों एवं तत्सम्बन्धी द्विवेदीजी की प्रतिभा की झलक मिल जाती है।

नाटक :

द्विवेदीजी ने नाटकों की रचना में भी विशेष रुचि नहीं दिखलाई। 'सरस्वती' में प्रकाशित व्यंग्य-चित्रों में अवसर मिलने पर वे साहित्य की इस विधा की हीनता की ओर संकेत करते थे, परन्तु उनकी रचनात्मक प्रतिभा इस दिशा में सक्रिय न हो सकी। **डॉ० शत्रुघ्न प्रसाद** के शब्दों में :

"एक ओर वे खड़ी बोली-कविता के परिमार्जन तथा परिवर्द्धन के लिए निर्देशन देते रहे और दूसरी ओर गद्य के परिमार्जन तथा विकास के लिए प्रयत्नशील हुए। मुख्य रूप से वे गद्य के संस्कार, कविता के विकास तथा आलोचना-साहित्य की समृद्धि की ओर उन्मुख हुए। कथा-साहित्य एवं निबन्ध पर भी उनकी दृष्टि रही। परन्तु, नाटकों के विकास पर वे ध्यान नहीं दे सके। उन्होंने उपेक्षा नहीं की। 'नाट्यशास्त्र' प्रमाण है। 'सरस्वती' के 'पुस्तक-परीक्षा' स्तम्भ में नाटकों की परीक्षा भी द्रष्टव्य है। पर, वे नाटकों की ओर आकृष्ट नहीं थे। यह कहा जा सकता है कि अनजाने में नाट्य-साहित्य उपेक्षित रह गया।"[१]

---

१. डॉ० शत्रुघ्न प्रसाद : 'द्विवेदीयुगीन हिन्दी-नाटक', पटना-विश्वविद्यालय की पी-एच्० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, पृ० ७३।

द्विवेदीजी ने **नारायणभट्ट** के संस्कृत-नाटक 'वेणीसंहार' का अनुवाद प्रस्तुत किया था। परन्तु, दुर्भाग्यवश सन् १९१३ ई० में प्रकाशित यह अनुवाद मूल नाटक का नाट्य-रूपान्तर न होकर आख्यायिका के रूप में लिखा गया भावार्थबोधक गद्यानुवाद है। यदि इसे नाटक के रूप में अनूदित किया गया होता, तो द्विवेदीजी की नाट्य-प्रतिभा का परिचय इससे मिलता। परन्तु, संस्कृत-नाटक का कथात्मक अनुवाद प्रस्तुत करके द्विवेदीजी ने स्पष्ट कर दिया है कि नाटकों की रचना में तनिक भी रुचि नहीं। नेता की उदासीनता के कारण उनके अनुसरणकर्त्ता साहित्यकारों ने भी नाटकों की रचना को विशेष महत्त्व नहीं दिया।

जीवनी :

आचार्य द्विवेदीजी के विशाल निबन्ध-साहित्य की चर्चा के प्रसंग में उनके जीवनीपरक निबन्धों की भी व्याख्या होती रही है। परन्तु, साहित्य की वर्त्तमान उन्नतावस्था में जीवनी-साहित्य ने निबन्ध-विधा से अपना रिश्ता तोड़ लिया है और अब जीवनी-सम्बन्धी साहित्य ने एक स्वतन्त्र गद्यविधा का बाना धारण कर लिया है। इस नये परिवेश में हम द्विवेदीजी द्वारा लिखित उन सभी निबन्धो की गणना जीवनी-साहित्य की सीमा मे कर सकते हैं, जिनमें किसी-न-किसी की जीवनी प्रस्तुत की गई है। उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में जीवनियों की रचना की है। जीवनियों को लिखने की आवश्यकता का निर्देश उन्होंने **पं० दुर्गाप्रसादजी** का जीवन-चरित लिखते समय किया है :

"**दुर्गाप्रसादजी** के चरित्र से स्पष्ट है कि एक सामान्य मनुष्य भी यदि वैसी ही सच्चरित्रता और लगन से काम करे—सदाचरण और सद्विद्या के बल से सर्वसाधारण की तो कोई बात नहीं, बड़े-बड़े राजा-महाराओं का भी सम्मान प्राप्त कर सकता है और अपनी कीर्त्ति-कौमुदी से देश-देशान्तरों को धवलित भी कर सकता है।"[१] इसी को सामने रखकर द्विवेदीजी ने अपनी दृष्टि में महान् एवं उच्च चरित्रवाले महापुरुषों एवं नारियों की जीवनियाँ लिखीं। 'सरस्वती' में ऐसी जीवनियों की बहुत बड़ी संख्या में अवस्थिति मिलती है। इन जीवनियों के कई पुस्तकाकार संकलन भी बाद में प्रकाशित हुए हैं। यथा :

१. प्राचीन पण्डित और कवि (सन् १९१८ ई०)
२. सुकवि-संकीर्त्तन (सन् १९२४ ई०)
३. कोविद-कीर्त्तन (सन् १९२४ ई०)
४. विदेशी विद्वान् (सन् १९२७ ई०)
५. चरित्र-चर्या (सन् १९३० ई०)
६. चरित्र-चित्रण (सन् १९३४ ई०)

---

१. 'सरस्वती', मई १९०३ ई०, पृ० १६० ।

इन विविध निबन्धों के संग्रहों में विभिन्न क्षेत्रों में अभूतपूर्व सफलता एवं ख्याति प्राप्त स्त्री-पुरुषों के जीवनवृत्त है। साहित्यकारों एवं साहित्यप्रेमियों (**पं० दुर्गाप्रसाद, माइकेल मधुसूदन दत्त, नवीनचन्द्र सेन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, राय देवीप्रसाद पूर्ण, हाफिज, विलियम जोन्स** आदि), विद्वानों एवं इतिहास-वेत्ताओं (**डॉ० गंगानाथ झा, पं० वामन शिवराम आप्टे, पं० आदित्यराम भट्टाचार्य**. **हर्बर्ट स्पेंसर, बौद्धाचार्य शीलभद्र** आदि), शाहों, राजो एवं सुल्तान (**राजा भगवानदास, सुल्तान अब्दुल अजीज**, फारस के **शाह मुजफ्फरुद्दीन, राजा मानसिंह** आदि), ख्यात राजनीतिज्ञों, राजकीय उच्च पदाधिकारियों और योद्धाओं (जनरल **कुरेपाटकिन, लार्ड कर्जन, लार्ड मिण्टो, कर्नल जालकूट, श्रीगुरु हरिकृष्णजी** आदि), इतिहासप्रसिद्ध एवं नवयुग की आदर्श नारियों (**रानी दुर्गावती, लेडी जेन ग्रे, कुमारी एफ्०पी० कॉब, झाँसी की रानी बाई, श्रीमती निर्मलाबाला सोम** आदि), धर्मप्रचारकों, सुधारकों या किसी भी क्षेत्र में विशिष्ट ख्याति अर्जित करनेवाले पुरुषों (महात्मा **रामकृष्ण परमहंस**, प्रसिद्ध पहलवान **सैण्डो**, प्रसिद्ध मूर्त्तिकार **महातरे, डॉ० जी० थीबो, गायनाचार्य विष्णुदिगम्बर पलुसकर, नवीनचन्द्र सेन** आदि) की जीवनियाँ आचार्य द्विवेदीजी ने लिखी हैं। इन विविध आदर्श नर-नारियों के जीवन-चरित्र लिखने के पीछे आचार्य द्विवेदीजी का यही लक्ष्य था कि देशवासी इन चरित्रों से प्रेरणा ग्रहण करें तथा इनके बतलाये आदर्शपूर्ण मार्ग पर चलकर अधिकाधिक उन्नति कर सकें। इस प्रकार, द्विवेदीजी ने जीवनी-साहित्य का सोद्देश्य प्रणयन किया और अपने इस उद्देश्य में वे सफल भी हुए।

उपयोगी साहित्य :

कला का विभाजन ललित एवं उपयोगी दो विभागों में किया गया है। उपयोगी कलाएँ मानव-आवश्यकताओं की पूर्त्ति में सहायक होती है। इन्हीं उपयोगी कलाओं का शास्त्रीय विस्तृत अध्ययन करनेवाला साहित्य उपयोगी साहित्य कहा जा सकता है। प्राचीन काल में संस्कृत के अन्तर्गत कामसूत्र, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, गणित, ज्यौतिष, शिल्पकला आदि पर ग्रन्थों की रचना हुई थी। परन्तु, परवर्त्ती काल में हिन्दी-साहित्य इन उपयोगी विषयों की दृष्टि से हीन रहा। उपयोगी साहित्य के नाम पर मात्र धर्मशास्त्रीय पुस्तकों की रचना हुई। भारत मे अँगरेजों के आगमन के पश्चात् यहाँ अर्थप्रधान वैज्ञानिक युग का सूत्रपात हुआ। डॉ० **श्रीकृष्ण लाल** ने इस परिवर्त्तन को अधोलिखित शब्दों में व्यक्त किया है :

"उन्नीसवीं शताब्दी में भारतवर्ष में अँगरेजी-राज्य की स्थापना हुई, जिससे देश की आर्थिक, राजनीतिक और व्यावहारिक अवस्था में एक अभूतपूर्व परिवर्त्तन हुआ।... रेल, तार, डाक, मोटर, बिजली इत्यादि के अद्भुत युग में प्रत्येक मनुष्य को विज्ञान, यन्त्रसंचालन-विद्या, आधुनिक समाजशास्त्र इत्यादि का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करना

आवश्यक हो गया।...राष्ट्रीयता की भावना ने हममें अपने अतीत गौरव का इतिहास जानने की प्रेरणा उत्पन्न की और इस प्रकार हमने इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विज्ञान, व्यापार इत्यादि का अध्ययन प्रारम्भ किया।"[1]

युग और समाज की इस माँग को लक्ष्य कर द्विवेदीजी ने विज्ञान, अर्थशास्त्र, धर्म, शिक्षाशास्त्र, आविष्कार, चिकित्सा आदि उपयोगी विषयो पर लेखनी चलाई। 'सरस्वती' के सम्पादक-पद पर रहने के नाते उन्हे विविध उपयोगी विषयों पर लिखने एवं औरों से इन विषयो पर लिखवाने का भरपूर अवसर मिला। उन्होंने उपयोगी साहित्य के अन्तर्गत दो वर्षो के विषयों को ग्रहण किया। उपयोगी साहित्य के ये दो प्रमुख वर्ग इस प्रकार है :

१. उपयोगी साहित्य की वे शाखाएँ, जो परम्परित हैं तथा जिनका चलन प्राचीन भारत मे भी था।
२. उपयोगी साहित्य की वे धाराएँ, जो नवीन हैं तथा आधुनिक वैज्ञानिक युग के फलस्वरूप जिनका विकास हुआ है।

परम्परित उपयोगी साहित्य की सीमा में उनकी धर्म एवं दर्शन-सम्बन्धी रचनाओं की चर्चा की जा सकती है। इस दिशा में उनकी 'आध्यात्मिकी' (सन् १९२७ ई०) शीर्षक पुस्तक की चर्चा ही एकमेव की जा सकती है। इस पुस्तक में धर्म और दर्शन-सम्बन्धी द्विवेदीजी के लेख सकलित हैं। नवीन युगानुरूप उपयोगी विषयों पर द्विवेदीजी ने अनेक मौलिक-अनूदित पुस्तकों की रचना की है। यथा :

१. अर्थशास्त्र :
   'सम्पत्ति-शास्त्र' (सन् १९०८ ई०)
२. विज्ञान एवं आविष्कार :
   (क) 'हिन्दी-वैज्ञानिक कोश' (सन् १९०६ ई०)
३. चिकित्सा एवं प्राणिशास्त्र :
   (क) 'वैचित्र्य-चित्रण' (सन् १९२८ ई०)
   (ख) 'जल-चिकित्सा' (सन् १९०७ ई०)—लुई कुने के तद्विषयक ख्यात ग्रन्थ का अनुवाद।
४. समाजशास्त्र :
   'स्वाधीनता' (सन् १९०७ ई०)—जॉन स्टुअर्ट मिल-रचित 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद।
५. उद्योग-व्यापार :
   'औद्योगिकी' (सन् १९२१ ई०)

---

१. डॉ० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० ३७८।

६. शिक्षाशास्त्र :

'शिक्षा' (सन् १९०६ ई०)—हर्बर्ट स्पेंसर-लिखित पुस्तक 'एजुकेशन' का अनुवाद।

७. कामशास्त्र :

(क) 'तरुणोपदेश' (रचनाकाल : सन् १८९४ ई०)

(ख) 'सोहागरात'—अँगरेजी कवि बायरन-कृत 'ब्राइडल नाइट' का अनुवाद।

इन विषयों पर लेखनी दौड़ाने के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी के कर्त्तृत्व का बहुत बड़ा उपयोगी साहित्य-विषयक अश 'सरस्वती' के अंकों में बिखरा पड़ा है। विविध शिल्पों, कुतूहलवर्द्धक तत्त्वों, नवीन आविष्कारों, सामाजिक विषयो और समस्याओं पर निबन्धों-टिप्पणियों की रचना उन्होंने की है। वे सम्पादक को देश का बौद्धिक विधायक मानते थे। उन्होंने लिखा है :

"देश का स्वास्थ्य किस तरह सुधर सकता है, कृषि, शिल्प और वाणिज्य की उन्नति कैसे हो सकती है, शिक्षा का विस्तार और उत्कर्ष-साधन कैसे किया जा सकता है, किन उपायों के अवलम्बन से हम राष्ट्र-सम्बन्धी नाना प्रकार के अधिकार पा सकते है, सामाजिक कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं—इत्यादि अनेक विषयों पर सम्पादकों को लेख लिखने चाहिए।"[1]

सम्पादक के इस धर्म का उन्होने स्वयं पालन किया है एवं अर्थशास्त्र, विज्ञान, चिकित्सा, प्राणिशास्त्र, समाजशास्त्र, उद्योग-व्यापार, शिक्षाशास्त्र एवं कामशास्त्र आदि विविध विषयों पर पुस्तकों की रचना की, निबन्धों तथा टिप्पणियों का प्रणयन किया। इन विविध उपयोगी विषयों में मात्र कामशास्त्र-सम्बन्धी द्विवेदीजी की दो पुस्तकें ही अप्रकाशित रह गई हैं : 'तरुणोपदेश' एवं 'सुहागरात'। इन दोनों को स्वयं द्विवेदीजी ने रसीली पुस्तकें कहकर सम्बोधित किया है और इनके अप्रकाशित रह जाने में अपनी धर्मपत्नी का उपकार माना है। यथा :

"दुर्घटना कुछ ऐसी हुई कि उसने ये पुस्तकें देख लीं। देखा ही नहीं, उलट-पुलट कर पढ़ा भी। फिर क्या था, उसके शरीर में कराला काली का समावेश हो गया।... उसने उन पुस्तकों की कापियों को आजन्म कारावास या कालेपानी की सजा दे दी। वे उसके सन्दूक में बन्द हो गईं। उसके मरने पर ही उनका छुटकारा उस दायमुलहब्स से हुआ।... इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के इस पंक-पयोधि में डूबने से बचा लिया।"[2]

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'विचार-विमर्श', पृ० ४४।

२. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी : 'मेरी जीवनरेखा', 'भाषा' : द्विवेदी-स्मृति-अंक, पृ० १५।

इन दोनों रसीली पुस्तकों का अप्रकाशित रह जाना द्विवेदीजी की गरिमा के अनुकूल ही है। कम-से-कम 'सुहागरात' का अश्लीलत्व तो इतना बढ़ा-चढ़ा है कि उसे द्विवेदीजी जैसे गुरु-गम्भीर व्यक्ति की रचना मानने में ही सन्देह होता है। 'तरुणोपदेश' को अपने विषय की प्रथम हिन्दी-पुस्तक होने का श्रेय दिया जा सकता है। इससे पूर्व हिन्दी मे कामशास्त्र की इतनी विशद व्याख्या करनेवाली कोई पुस्तक नहीं लिखी गई है। परन्तु, यह पुस्तक अप्रकाशित रह गई। स्पष्ट है कि द्विवेदीजी की अनेक मौलिक-अनूदित, प्रकाशित अथवा अप्रकाशित रचनाएँ हिन्दी के भाण्डार को उपयोगी साहित्य से भरने की आकांक्षा से लिखी गईं। आज उपयोगी साहित्य का लेखक साहित्यिक इतिहास मे चर्चित नही होता है, परन्तु हिन्दी-भाषा और साहित्य की उस विकासावस्था मे तो चिकित्सा, ज्योतिष, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, शिक्षाशास्त्र आदि उपयोगी साहित्यो को समृद्ध करनेवाला भी हिन्दी का साहित्यकार कहा जाता था। उसी युग की मूल भावना को ग्रहण कर द्विवेदीजी ने उपयोगी विषयों के साहित्य को अपनी प्रतिभा का दान दिया।

अन्य रचनाएँ :

पत्रकारिता, निबन्ध, समीक्षा, कविता, कथा, नाटक, जीवनी और उपयोगी साहित्य जैसी विविध साहित्यिक विधाओं को अपनी लेखनी के स्पर्श से पल्लवित करने के साथ द्विवेदीजी ने कुछ अन्य रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं, जिनकी गणना इन विधाओं की सीमा में सम्भव नहीं है। इस कोटि में इनके द्वारा लिखी गई कई बालोपयोगी पाठ्य-पुस्तकों एवं स्कूल-रीडरों की चर्चा की जा सकती है। ऐसी कुल पुस्तकें इस प्रकार हैं :

१. हिन्दी की पहली किताब
२. लोअर प्राइमरी रीडर
३. अपर प्राइमरी रीडर
४. शिक्षासरोज
५. बालबोध या वर्णबोध
६. जिला कानपुर का भूगोल

इन सभी स्कूली किताबों का प्रकाशन सन् १९११ ई० में हुआ था। इसी तरह, 'अवध के किसानों की बरबादी, (सन् १९११ ई०) सामयिक समस्या पर लिखी गई पुस्तक है। द्विवेदीजी के समय में कतिपय साहित्यिक झगड़े भी चल रहे थे। विशेष रूप से उनका नागरी-प्रचारिणी सभा के साथ चल रहा विवाद उन दिनों बड़ा उग्र हो गया था। इसी विवाद की मनोभूमिका में अपने ब्राह्मणजन्य सहज क्रोधी स्वभाव को उन्होने एक पुस्तक लिखकर अभिव्यक्त किया। 'कौटिल्य-कुठार' नामक

इस पुस्तक की रचना उन्होंने नागरी-प्रचारिणी सभा और उसकी कार्यविधि पर कटु प्रहार करने के लिए की थी। परन्तु, बाद में अपनी उग्रता को दबाकर उन्होंने 'कौटिल्य-कुठार' को अप्रकाशित ही रहने दिया। द्विवेदीजी की प्रतिभा उनके भाषणों में भी उभरी है और उनके तीन लम्बे भाषणों का पुस्तकाकार प्रकाशन भी हुआ है। यथा :

१. तेरहवें हिन्दी-साहित्य सम्मेलन (कानपुर) के स्वागताध्यक्ष-पद से दिया गया भाषण (सन् १९२३ ई०)।
२. 'आत्मनिवेदन' (काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा किये गये अभिनन्दन-समारोह के समय दिया गया अभिभाषण, सन् १९३३ ई०)।
३. प्रयाग में आयोजित द्विवेदी-मेले के अवसर पर दिया गया भाषण (सन् १९३३ ई०)।

इन तीनों भाषणों में द्विवेदीजी के विनय, हिन्दी-प्रेम और देशहितैषिता की अभिव्यक्ति हुई है। आचार्य द्विवेदीजी की साहित्यिक महत्ता का सर्वाधिक बिखरा-निखरा रूप उनके पत्र-साहित्य में दृष्टिगत होता है। **श्रीपरमात्माशरण बंसल** ने लिखा है :

"पत्रलेखन साहित्य की एक कला है। यद्यपि साहित्यकार पत्र द्वारा व्यक्तिगत भावनाओं और विचारों को किसी विशेष व्यक्ति तक ही प्रदर्शित करता है, परन्तु जब पत्र प्रकाशित हो जाते हैं, तब वे साहित्य बनकर समष्टि का कल्याण करते हैं। [illegible] आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का पत्र-साहित्य इसी कोटि का है।" [1]

द्विवेदीजी के पत्रों को देखने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किस प्रकार उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से संसार-भर के हिन्दी-लेखकों को एकता के सूत्र में बाँधा, उनका मार्गनिर्देश किया और उन्हें प्रोत्साहित किया। उनके पत्रों का सम्पादन **श्रीबैजनाथ सिंह विनोद** ने 'द्विवेदी-पत्रावली' (सन् १९५४ ई०) नाम से किया है। अब भी द्विवेदीयुगीन साहित्यिक इतिहास के अमूल्य रत्न द्विवेदीजी के २८०१ पत्र नागरी-प्रचारिणी सभा में सुरक्षित पड़े हैं। इन सबका अपना विशिष्ट महत्त्व है।

द्विवेदीजी की कविता से प्रारम्भ कर उनके पत्र-साहित्य तक का सर्वेक्षण प्रस्तुत करने के पश्चात् द्विवेदीजी की लेखनी की शक्ति पर आश्चर्य व्यक्त करने के सिवा कुछ और शेष नहीं रह जाता है। उन्होंने आमरण हिन्दी-सेवा का जो व्रत लिया था, उसी के परिणामस्वरूप विविध विधाओं और विषयों में उनकी गति निर्बाध रही। मोटे तौर पर उनके सम्पूर्ण साहित्य के आधार पर अनुमान लगाया जाय, तो कहा

---

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु : 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास', भाग १३, पृ० २१।

जा सकता है कि द्विवेदीजी ने २५ वर्ष के भीतर लगभग २५ हजार पृष्ठ लिखे हैं। एक वर्ष में एक हजार पृष्ठ की रफ्तार से लिखने का परिश्रम करके ही वे अपने युग की समस्त साहित्यिक गतिविधियो के अगुआ बन सके। निष्कर्षतः, हम **डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु** की निम्नोद्धृत पंक्तियों से सहमति प्रकट करते हुए कह सकते है:

"सन् १९०० मे १९२० ई० तक का हिन्दी-साहित्य सभी दिशाओं में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से द्विवेदीजी की प्रतिभा का ऋणी है। नये युग की अवतारणा के नायक, बहुमुखी विकास के मन्त्रदाता और हिन्दी की निश्चित प्रगति के पुरोहित वही थे। हिन्दी का बहुविध साज-सज्जा से सुमज्जित जो मनोरम महल आज खड़ा है, उसकी दृढ़ भित्ति उन्हीं की देन है।"[1]

१. डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु : 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास', भाग १३, पृ० २१।

शोध-निष्कर्ष

साहित्येतिहास में युग-विशेष का नामकरण किसी साहित्यकार के नाम पर करना तभी सार्थक होता है, जब उस साहित्यसेवी ने अपने समसामयिक साहित्य के विविध अगों को अभूतपूर्व स्पर्श से स्पन्दित किया हो एवं समस्त साहित्यिक गतिविधियों का नेतृत्व किया हो। भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग जैसे नामों की यही सार्थकता है। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल का द्वितीय चरण आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व से संचालित था, अतएव उक्त अवधि को विद्वानों ने 'द्विवेदी-युग' की संज्ञा दी है। यथा :

"बीसवी शताब्दी के प्रथम पच्चीस वर्षो के साहित्यिक विकास और प्रगति के मन्त्रदाता और पुरोहित द्विवेदीजी ही थे। यह युग वास्तव में द्विवेदी-युग था।"[1]

"सं० १९६० में वे 'सरस्वती' के सम्पादक हुए। उन्होंने एक प्रभविष्णु और सफल सेनापति की भाँति हिन्दी के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। यहीं से अराजकता-युग का अन्त और द्विवेदी-युग का प्रारम्भ हुआ।"[2]

द्विवेदी-युग के नाम से संज्ञापित इस सम्पूर्ण अवधि (सन १९००—१९२५ ई०) की साहित्यिक गतिविधियों पर तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। अतएव, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं उनके समसामयिकों की साहित्यिक उपलब्धियों की वास्तविक पृष्ठभूमि इन्हीं युगीन परिस्थितियों में निहित है। उन्नीसवीं शती के अन्त होते-होते ब्रिटिश-शासन भारत-भर में भली भाँति स्थापित हो चुका था और लार्ड कर्जन जैसे प्रतिनिधि शासकों की भारतविरोधी नीतियों ने देश की राजनीतिक स्थिति को एक नया मोड़ देना प्रारम्भ कर दिया था। सारे देश में सरकारी नीतियों के विरुद्ध आवाज उठने लगी थी और स्वतन्त्रता का आह्वान किया जाने लगा था। इसी युग में सन् १९२० ई० के आसपास भारत के राजनीतिक क्षितिज पर महात्मा गान्धी का अवतरण हुआ। प्रादुर्भाव के साथ ही अहिंसा और स्वदेशी-आन्दोलन का जोर चला। इन राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। कवियों ने महात्मा गान्धी तथा उनके अहिंसात्मक आन्दोलन को अपनी कविता का विषय बनाया। स्वयं द्विवेदीजी ने भी 'स्वदेशी वस्त्र-स्वीकार' जैसी कविता का प्रणयन किया। राजनीतिक स्तर पर भारत-

---

१. डॉ० श्रीकृष्णलाल : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० ३२।

२. डॉ० उदयभानु सिंह : 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग', पृ० २६५।

भर में काँगरेस-सरकार एवं क्रान्तिकारी दल ने जैसी चहल-पहल मचा रखी थी, उसका भरपूर प्रभाव साहित्य पर पड़ा। परन्तु, देश की स्वतन्त्रता एवं अँगरेज-सरकार के साथ चल रहे संघर्ष को यथोचित वाणी नहीं मिल सकी। जिस प्रकार भारतेन्दु एवं उनके सहयोगी साहित्यकारों ने सन् १८५७ ई० के गदर को साहित्य का विषय नहीं बनाया, उसी प्रकार द्विवेदीजी एवं उनके अनुकरण-कर्त्ता साहित्यसेवियों ने भी स्वातन्त्र्य-आन्दोलन को उसके विस्तार के अनुरूप अभिव्यक्ति नहीं दी। युगवेत्ता होते हुए भी द्विवेदीजी सरकार के कोपभाजन हो जाने के सम्भावित भय से राष्ट्रीय आन्दोलनों को पूरी तरह अपना समर्थन नहीं दे सके। परन्तु, उस युग की सामाजिक-सास्कृतिक अवनति पर उनकी दृष्टि गई। भारतेन्दु-युग से ही विविध सामाजिक कुरीतियों एवं सांस्कृतिक अनाचारों के विरुद्ध साहित्यिक आन्दोलन छिड़ गया था। **राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन** प्रभृति समाजसुधारकों की विचारधारा से भारतेन्दु का मत मेल खाता था। द्विवेदी-युग तक भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक दुर्गुणों में सुधार का सारा आन्दोलन आर्यसमाज के नेतृत्व में चला आया था। आर्यसमाज के साथ पूर्ण सहमति न रहते हुए भी द्विवेदीजी एवं उनके युगीन साहित्यकारों ने समाज और धर्म में व्याप्त कुरीतियों के अन्त को महत्त्व दिया। बाल-विवाह, विधवा-विवाह, नारी-शिक्षा, [illegible], अछूतोद्धार जैसे विषयों पर साहित्य-लेखन हुआ। इस काल के सांस्कृतिक, धार्मिक एवं सामाजिक धरातल पर आदर्शवाद के दर्शन होते हैं।

प्राचीन भारत की गौरवगाथा दुहराकर जिस प्रकार, आर्यसमाज के प्रचारक सांस्कृतिक स्तर पर आदर्शों को प्रस्तुत कर रहे थे, उसी प्रकार द्विवेदी-युगीन साहित्यसेवियों ने भी अतीत का गौरवगान करके वर्त्तमान की अधोगति के सम्मुख उच्च आदर्श की स्थापना की। अतीत का अंकन एवं इतिवृत्त प्रस्तुत करने का मोह इस अवधि के प्रत्येक कवि-लेखक में परिलक्षित होता है। आर्थिक दृष्टि से भी भारत की स्थिति उन दिनों अच्छी नहीं थी। भारत में सम्पूर्ण ब्रिटिश-शासन की कथा ही शोषण की कथा है। द्विवेदी-युग भी इसका अपवाद नहीं था। कर, शोषण एवं अकाल से त्रस्त जनता के आँसू पोंछने एवं आर्थिक विषमता के खिलाफ नारे लगाने का किंचित् कार्य साहित्य-सेवियों ने भी किया। इस युग की सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक स्थिति जितनी अराजकतापूर्ण थी, लगभग वैसी ही अव्यवस्था भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी व्याप्त थी। आचार्य द्विवेदीजी के आगमन के पूर्व हिन्दी-साहित्य का लेखन भाषा की व्यवस्था एवं विषयों की संकीर्णता से ग्रस्त था। कवि व्रजभाषा में ही काव्य-रचना के लिए कृतसंकल्प थे एवं गद्यकारों ने व्याकरण के नियमों की अवहेलना करके लिखना ही अपना धर्म बना लिया था। साथ ही, प्राचीन काल से चली आ रही भक्ति एवं घोर शृंगारिकता की विषय-सीमा से मुक्त होने के लिए हिन्दी-साहित्य छटपटा रहा था। इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी अपने सामयिक

परिवेश के प्रति अधिक जागरूक नहीं थे और उन्होने समकालीन कुछ ही समस्याओं पर ध्यान दिया। परन्तु, भाषा और साहित्य की अराजकता के विनाश का जैसा युगान्तरकारी कार्य उन्होने किया, वही उन्हें आचार्यत्व एवं विषय की दृष्टि से रुचिकर बनाया। साहित्यिक लेखन को सँवार कर एक निश्चित गति प्रदान करने का कार्य उन्होंने अकेले किया। नये-नये विषयों की ओर उन्मुख कर उन्होंने हिन्दी-कविता एव गद्य को एक नया मोड़ दिया। इस प्रकार, वे अपने समकालीन परिवेश से सम्बद्ध रहने के साथ-ही-साथ साहित्यिक व्यवस्था के संस्थापक के रूप में सामने आये। उनके कर्त्तृत्व मे युग की आत्मा एव साहित्यगत उन्नयन के दर्शन एक साथ होते है। यह उनके युग-नेतृत्व की विशेषता कही जा सकती है। अतएव, वास्तव में बीसवीं शती का यह प्रथम चरण (सन् १९००—१९२५ ई०) द्विवेदी-युग था एवं आचार्य द्विवेदी इस युग के विधाता थे।

आचार्य द्विवेदी जिस युग की साहित्य-धारा के मार्गदर्शक बने, वह पर्याप्त अराजकतापूर्ण युग था। स्थिति यह थी कि सभी अपनी-अपनी डफली लेकर अपना राग अलाप रहे थे। कोई किसी की सुननेवाला नही था। सर्वत्र एक अजीब-सी उथल-पुथल थी। **डॉ० रामसकलराय शर्मा** ने लिखा है:

"ऐसी परिस्थिति में एक ऐसे स्वतन्त्र व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, जो किसी के झूठे वर्चस्व को स्वीकार न करे तथा अपने स्वतन्त्र विचारों से भाषा के क्षेत्र में मार्गदर्शन करे।...यह वही कर सकता था, जिसमें प्रतिभा का सम्बल हो, विवेक की गहरी दृष्टि हो, जीवन की अखण्ड ज्योति हो, कार्य के प्रति निष्ठा हो और हो किसी से भी न डरनेवाला साहस।"[१]

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदो के विराट् व्यक्तित्व में युगनेता बनने की सारी विशेषताएँ थी। उनके चरित्र में बाल्यकाल से ही कष्ट सहने, कठिनाइयों से जूझने की क्षमता एवं स्वाभिमान पर अटल रहने का गुण आ गया था। उनके परिचितों एवं शिष्यों ने एक स्वर से उनकी सफलता की कुंजी घोर परिश्रम, दृढ संकल्प, ईमानदारी, कर्त्तव्यपरायणता एवं मनुष्यत्व को माना है। उनकी काया चाहे कभी स्वस्थ भले ही न रही, परन्तु मन सदैव स्वस्थ रहा। अपने दीर्घ साहित्यिक जीवन में उन्हें अनेकानेक मतभेदों एवं विरोधो का सामना करना पड़ा, परन्तु उन्होंने चाणक्य की भाँति विरोधियों का सामना कर उन्हें परास्त किया और असीम धैर्य, क्षमता एवं दक्षता दिखलाते हुए विजय का डंका बजाया। उनका जन्म सं० १९२१ वैशाख शुक्ल चतुर्थी को हुआ। बचपन से ही अध्ययन की प्रगाढ लालसा उनमें विद्यमान थी। इस कारण नवयुवक होने पर रेलवे की सेवा में सिगनलमैन, माल बाबू, स्टेशनमास्टर, चीफ क्लर्क जैसे नीरस असाहित्यिक पदों पर काम करते हुए भी उन्होंने पढ़ने-लिखने

१. डॉ० रामसकलराय शर्मा : 'द्विवेदी-युग का हिन्दी काव्य', पृ० ७०।

की आदत नहीं छोड़ी । वास्तविकता तो यह है कि इन्ही पदों पर कार्य करते समय उन्होंने मराठी, संस्कृत, हिन्दी, अँगरेजी आदि का विधिवत् अध्ययन किया और हिन्दी में अपनी साहित्यिक प्रतिभा को मुखरित किया । अपने प्रखर स्वाभिमान के कारण उन्होंने रेलवे की डेढ़ सौ रुपयों की नौकरी पर लात मारकर २५ रुपये माहवार पर 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य प्रारम्भ किया । यदि उनमे धन के प्रति अनासक्ति एवं स्वयं के प्रति इतना स्वाभिमान न होता, तो हिन्दी-साहित्य एक युगप्रवर्त्तक की सेवाओं से वंचित रह जाता । रेलवे की नौकरी करते हुए द्विवेदीजी भविष्य में ट्राफिक सुपरिण्टेण्डेण्ट अथवा किसी और भी बड़े पद पर जा सकते थे, इससे सरकार का रेलवे विभाग लाभान्वित होता । परन्तु, रेलवे की नौकरी छोड़कर उनके साहित्यिक क्षेत्र में चले आने से सारा हिन्दी-साहित्य, हिन्दीभाषी जनता एवं प्रकारान्तर से भारतवर्ष लाभान्वित हुआ । 'सरस्वती'-सम्पादन का पद ग्रहण करते ही उनके सामने यह स्थिति स्पष्ट हो गई थी कि हिन्दी-संसार विविध जटिलताओं एवं संकीर्णताओं से बँधा हुआ है ।

इन परम्परित बन्धनों से हिन्दी-भाषा एवं साहित्य को मुक्ति दिलाने का व्रत उन्होंने नही लिया, अपितु उन्होंने मात्र सुधारात्मक नियम-पालन की नीति अपनाई । परम्परा के प्रति विद्रोह का कार्य हिन्दी में छायावाद-युग से प्रारम्भ हुआ । अपने युग में भाषा एवं साहित्य की अव्यवस्था को सुधार कर सँवारने का बीड़ा द्विवेदीजी ने अपनाया । उनकी इस नवीन दृष्टि ने प्राचीन परिपाटी के अन्धभक्तों को जगा दिया ओर वे सब दल बाँधकर इस महावीर के साथ जूझ पड़े । आचार्य द्विवेदीजी ने सबका सामना किया और हिन्दी-साहित्य की धारा को स्वच्छ कर मनोनुकूल दिशा प्रदान की । इस युगान्तरकारी कार्य में उनके चरित्र एवं स्वभावगत विशेषताओं ने उनकी विशेष सहायता की । न्यायप्रियता, सरलता, दृढता, विनम्रता, सादगी, नियमितता, सत्यनिष्ठा, धैर्य, व्यवस्थाप्रियता, गुणग्राहकता, निर्भयता, स्पष्टवादिता, आत्माभिमान, [illegible], सग्रहवृत्ति, सहृदयता और श्रमशीलता को उनके चरित्र के प्रमुख गुणों के रूप मे पहचाना जा सकता है । वे आजीवन इन्हीं चारित्रिक गुणों की रक्षा करते रहे । इन्हीं के कारण उन्हें विरोधों का सामना करना पड़ा, आर्थिक-दैहिक-पारिवारिक कष्ट झेलने पड़े और इन्हीं की वजह से हिन्दी-साहित्याकाश में एक तपः-पूत ध्रुवतारे-सा स्थान-गौरव भी प्राप्त है । द्विवेदीजी का सत्यपूत, प्रेमजनित एवं शिक्षाप्रद, कभी विनोदमय तो कभी गम्भीरता से ओतप्रोत ओजस्वी वार्त्तालाप सुनने का सौभाग्य जिन लोगों को प्राप्त हुआ है, वे उनकी सहृदयता, आत्मीयता और सरलता के कारण उनको कभी विस्मृत नहीं कर सकते । एक बार के दर्शन अथवा बातचीत से ही द्विवेदीजी ऐसा गहरा आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर लेते थे कि मिलने-वाला प्रभावित हुए बिना न रहता था । साथ ही, जिन लोगों ने उनके साथ कृत्रिमता,

कपट एवं चाटुकारिता का आचरण रखा, उन्हें द्विवेदीजी का स्वभाव इस्पात की तरह कठोर मालूम हुआ। उनके स्वभाव का यह विरोधाभासपूर्ण जीवन-दर्शन ही उनकी उपलब्धियों एवं सफलताओं के मूल में रहा।

साहित्यिक उपलब्धियों के नाम पर उनकी रचनाओं की संख्या बहुत बड़ी है। गद्य और पद्य में उनकी मौलिक-अनूदित-प्रकाशित रचनाओं की संख्या ८० से ऊपर है। आचार्य द्विवेदीजी की पुस्तकों में सभी कोटि की विभिन्न विषयों की रचनाओं का संकलन हुआ है। उनकी रचना का अधिकांश पुस्तकाकार प्रकाशित होने के पूर्व 'सरस्वती' के पन्नों पर छप चुका था। इस कारण उनकी रचनाओं में साहित्यिक निर्मिति की वैसी सुडौल गरिमा नहीं दीखती है, जैसी साहित्यकार की स्थायी कृति में दीखनी चाहिए। पत्रिका में प्रकाशित साहित्य के अनुरूप बिखराव एवं अशृंखलित विन्यास उनकी कविताओं से निबन्धों-टिप्पणियों तक दीखता है। पुस्तक के रूप में सर्वप्रथम उनकी कविता-कृति 'देवीस्तुतिशतक' सन् १८९२ ई० में छपी थी और उसके बाद जब प्रकाशन का सिलसिला जारी हुआ, तब आचार्यप्रवर के निधन के पश्चात् भी नहीं रुका। कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि द्विवेदीजी ने प्रतिवर्ष एक हजार पृष्ठ की गति से लेखन किया और २५ वर्ष की अवधि में लगभग २५ हजार पृष्ठ सामग्री लिख डाली। उनकी रचनाओं की विस्तृत सूची एवं उनमें व्याप्त वैविध्य को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि द्विवेदीजी व्यक्ति नहीं संस्था थे। अँगरेजी के ख्यात विद्वान् समालोचक **डॉ० जॉनसन** के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि जितना कार्य अकेले **जॉनसन** ने किया, उतना कार्य कई साहित्यिक संस्थाओं द्वारा ही सम्भव था। यही बात द्विवेदीजी के सन्दर्भ में भी दुहराई जा सकती है। उन्होंने हिन्दी-भाषा और साहित्य के संस्कार तथा परिष्कार का जो अभूतपूर्व कार्य किया, वह किसी अकेले व्यक्ति के नहीं, कई विशाल संस्थाओं के ही वश की बात थी। द्विवेदीजी द्वारा किया गया यह ऐतिहासिक कार्य ही उनके रचनात्मक साहित्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण एवं गौरवशाली है। साहित्य किस कोटि का है, इसकी अपेक्षा उन्होंने साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए एवं कैसे लिखा जाना चाहिए, इसके निर्देश पर ध्यान दिया। भाषा और साहित्य के इसी परिष्कारात्मक दृष्टिकोण को लेकर उनकी साहित्यिक महत्ता स्वीकार की जा सकती है। **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने उनकी इस विलक्षणता का उल्लेख किया है :

"...संसार के आधुनिक साहित्य में यह एक अद्भुत-सी बात है कि एक आदमी अपने 'क्या' के बल पर नहीं, बल्कि 'कैसे' के बल पर साहित्य का स्रष्टा हो गया।"[1]

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण रचनात्मक साहित्य अधिकांशतः उत्तम कोटि का नहीं है एवं उसके आधार पर द्विवेदीजी अपने ही युग के कई साहित्यकारों

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : 'विचार और वितर्क', पृ० ८३।

की तुलना में ओछे प्रतीत होगे। यह सत्य कई विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से स्वीकार किया है।[1] परन्तु, रचनात्मक साहित्य की अपेक्षा उनका रचनात्मक कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक गरिमा से सम्पन्न है। निज साहित्य-सर्जन द्वारा द्विवेदीजी भले ही साहित्य की राशि मे गौरवपूर्ण वृद्धि नहीं कर सके, परन्तु समसामयिक लेखकों को साहित्यिक अभावों की पूर्त्ति की दिशा में उन्मुख करने, हिन्दी-भाषा एवं साहित्य का संस्कार करने एवं हिन्दी-जगत् को अभिनव विषयों की ओर मोड़ने में उनकी बुद्धि एवं प्रतिभा का लोहा हिन्दी-साहित्य सदैव मानता रहेगा।

आचार्य द्विवेदीजी की साहित्यिक महत्ता का प्रमुख आधार उनकी सम्पादन-कला थी और इसी कारण 'सरस्वती' को उनकी कीर्त्ति की पताका कहा जा सकता है। हिन्दी-संसार को नये लेखकों-विषयों से परिचित कराने एवं भाषा-साहित्य को परिष्कृत करने का युगान्तरकारी कार्य उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से ही किया। सन् १९०३ ई० मे जिस समय उन्होंने इस पत्रिका का सम्पादकत्व ग्रहण किया, उस समय तक हिन्दी में सम्पादन-कला का कोई आदर्श स्थापित नहीं हुआ था। पत्रिकाओं में उपयोगी विषय, समय की पाबन्दी, भाषा, लेखकों की ख्याति इत्यादि पर ध्यान नहीं दिया जाता था। इस कारण, अधिकांश हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं की अकालमृत्यु हो जाया करती थी। 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथ में लेते ही द्विवेदीजी ने हिन्दी में नये-नये उपयोगी विषयों को प्रस्तुत करना शुरू किया और पत्रिका का कलेवर विविध-विषयमण्डित बना दिया। नवीन विषयों पर लेखनी चलाने के लिए लेखकों की भी कमी थी। द्विवेदीजी ने देश-विदेश के हिन्दीभाषी विद्वानों को लिखने के लिए प्रेरित

---

१. (क) "मौलिक रचना की दृष्टि से उनकी सेवा-साधना का महत्त्व उतना नहीं है, जितना साहित्य की अनेकमुखी सामग्री एकत्र करने में।" —डॉ० लक्ष्मी-नारायण सुधांशु' : हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १३, पृ० २०।

(ख) "उनकी मौलिक रचनाओं का महत्त्व अधिक नहीं है, परन्तु वे एक महान् शक्ति के प्रतीक थे, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य को बल प्रदान किया और इस दृष्टि से उनका महत्त्व बहुत अधिक है।"—डॉ० श्रीकृष्ण लाल : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० ३१।

(ग) "यह बात निर्विवाद है कि उस युग की साहित्यिक साधनाओं की अग्रगति को दृष्टि में रखकर विचार करने पर द्विवेदीजी की वक्तव्य-वस्तु प्रथम श्रेणी की नहीं ठहरती। उसमें नवीन और प्राचीन, प्राच्य और पाश्चात्य, साहित्य और विज्ञान—सब कुछ है, पर सभी सेकेण्ड हैण्ड और अनुसंकलित।"

—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क, पृ० ७९।

किया और प्रोत्साहन देकर 'सरस्वती' का अपना विशाल लेखक-परिवार तैयार कर लिया। 'सरस्वती' के इस लेखक-समुदाय ने हिन्दी-साहित्य का भाण्डार अभूतपूर्व रीति से भरा है और इसके लिए हिन्दी-जगत् सदैव द्विवेदीजी का ऋणी रहेगा। उन्होंने न केवल नये-नये विषयों का उपस्थापन किया और नये लेखकों-कवियों को प्रकाश में लाया, अपितु साहित्यिक लेखन का एक आदर्श मार्ग भी 'सरस्वती' द्वारा निर्देशित किया। इसी सन्दर्भ मे डॉ० **ओंकारनाथ शर्मा** ने लिखा है :

"द्विवेदीजी का प्रबल व्यक्तित्व एक विद्युत्-गृह की भाँति चतुर्दिक् शक्ति-संचार कर रहा था और चतुर्दिक् अनुशासन का भाव दिखाई पड़ता था। ... प्रत्येक लेखक के लिए 'सरस्वती' के निबन्ध रचना-कार्य के उदाहरण थे और द्विवेदीजी के शब्द प्रेरणा थे।"[1]

साहित्यकारो का मार्ग-निर्देश करने एवं 'सरस्वती' का सम्पादन करने के क्रम में उनकी सर्वाधिक विशिष्ट उपलब्धि भाषा-सुधार के क्षेत्र में रही। इसी क्षेत्र में वे सबसे अधिक सक्रिय भी थे। उनके पूर्व सम्पादक रचनाओं की भाषा-शैली एवं रचना-विन्यास पर ध्यान नहीं देते थे। इस कारण भाषा-सम्बन्धी अव्यवस्था हिन्दी-जगत् में व्याप्त थी। व्रजभाषा और पण्डिताऊ भाषा का प्रचुर प्रभाव भी हिन्दी पर परिलक्षित होता था। व्याकरण के नियमों की अवहेलना तो आम बात थी। ऐसे समय में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ आई सभी रचनाओं की भाषा को व्याकरण और रचना-विन्यास की दृष्टि से सुधार कर प्रस्तुत करना शुरू किया। उनके इस भाषाई आन्दोलन के फलस्वरूप परम्परित साहित्यिकों ने इनके विरुद्ध जेहाद बोल दिया। भाषा के नाम पर बड़ा भीषण साहित्यिक विवाद छिड़ गया। इस झगड़े में द्विवेदीजी के साथ **श्रीबालमुकुन्द गुप्त, गोपालराम गहमरी, गोविन्दनारायण मिश्र, मन्नन द्विवेदी** आदि साहित्यसेवी सम्बद्ध थे। परन्तु, घोर विरोध एवं विवादों के बीच भी द्विवेदीजी ने भाषा की स्वच्छता से सम्बद्ध अपनी नीति नहीं छोड़ी और 'सरस्वती' की रचनाओं का भाषा-संस्कार करते-करते सम्पूर्ण हिन्दी-भाषा एवं साहित्य को ही एक सर्वथा नई भाषागत क्रांति के दौर में खड़ा कर दिया। उनके अकथ परिश्रम एवं सत्प्रयासों के फलस्वरूप ही हिन्दी-भाषा अपने वर्त्तमान व्यवस्थित रूप को पा सकी। इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी की निजी प्रारम्भिक रचनाओं में वे सारी व्याकरण एवं भाषागत त्रुटियाँ विद्यमान हैं, जिनको दूर करने के लिए उन्होंने भाषा-आन्दोलन चलाया। उनकी परवर्त्ती रचनाएँ आदर्श भाषा एवं व्याकरण-सम्मत रचना-विधान का उदाहरण हैं। व्याकरण की स्वच्छता एवं भाषा की सफाई से सम्बद्ध क्रान्ति के द्विवेदीजी

---

१. डॉ० ओंकारनाथ शर्मा : 'हिन्दी-निबन्ध का विकास', पृ० १०८।

प्रवर्त्तक कहे जा सकते हैं। यह ऐतिहासिक कार्य करने का सुन्दर अवसर उन्हें 'सरस्वती' का सम्पादन होने के नाते ही प्राप्त हुआ। अतएव, 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उनकी साहित्यिक उपलब्धियाँ सबसे अधिक प्रकट हुई हैं, इसमें सन्देह नहीं।

हिन्दी-गद्य की भाषा को परिष्कृत करने के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी ने गद्यशैली को भी परिनिष्ठित रूप प्रदान किया। अपने समय तक की गद्यशैलियों को भाषा-संस्कार, विषय-निरूपण एवं भाव-प्रकाशन की दृष्टि से उन्होंने एक नया ही विधान दिया। उनकी गद्यशैली को किसी रचना-विशेष अथवा विषय-विशेष से सम्बद्ध नहीं किया जा सकता है। द्विवेदीजी ने विषय के अनुसार शैलियाँ अपनाई हैं। इसी कारण उनकी गद्यशैली में अनेकरूपता है, फिर भी भाव-प्रकाशन की दृष्टि से उनकी गद्यशैली को प्रमुखतः तीन विभागों—आलोचनात्मक, परिचयात्मक और व्यंग्यात्मक—में विभक्त किया जा सकता है। इनमें भी परिचयात्मक अथवा विवेचनात्मक (विवरणात्मक) कोटि की गद्यशैली उनकी प्रतिनिधि गद्यशैली है। अपने सभी निबन्धों एवं समीक्षाओं में उन्होंने मुख्यतया यही शैली अपनाई है। जिस प्रकार अध्यापक अपने छात्रों को एक ही बात बार-बार सरल रीति से समझाता है, उसी प्रकार द्विवेदीजी ने भी इस परिचयात्मक गद्यशैली में विषय-विवेचन किया है। शैली की ही भाँति गद्य-रचनाओं में द्विवेदीजी की भाषा भी सरल एवं प्रवाहमयी है। उनकी भाषा को समझने के लिए शब्दकोश की आवश्यकता नहीं महसूस होती। भाषा-शैली के अनुसार ही कहीं प्रखर, कहीं प्रवाहमयी और कहीं चुटीली बनकर सामने आई है। भाषाशैली की सरलता एवं विवेचनगत स्पष्टता के उदाहरणरूप हम द्विवेदीजी के निबन्धों की चर्चा कर सकते हैं। उनके निबन्धों में विविध विषयों का सरल स्पष्ट शैली में जितना मनोहारी विवेचन हुआ है, वह प्रशंसनीय है। द्विवेदीजी का निबन्ध-साहित्य इतिहास, विज्ञान, अर्थशास्त्र, गृहविज्ञान, जीवनी आदि विविध उपयोगी विषयों से भरा हुआ है। 'सरस्वती' में प्रकाशित उनके इन निबन्धों का परवर्त्ती काल में पुस्तकाकार प्रकाशन भी हुआ। परन्तु, निबन्ध-विधा के लिए अपेक्षित गुणों का इन निबन्धों में हम अधिकांशतः अभाव पाते हैं। विषय, आकार एवं प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से द्विवेदीजी के निबन्ध साहित्य की सीमा में रखी जानेवाली अधिकांश रचनाएँ टिप्पणी की कोटि की हैं। 'सरस्वती' के सफल सम्पादक होने के कारण द्विवेदीजी विविध विषयों पर सूचनात्मक टिप्पणियाँ तो लिख सके, लेकिन उन टिप्पणियों में निबन्धोचित व्यक्तिपरकता एवं प्रवाहसम्पन्नता नहीं ला सके। इस कारण, वे सफल निबन्धकार नहीं कहे जा सकते हैं और न उनके तथाकथित निबन्धों को शीर्ष कोटि का निबन्ध ही कहा जा सकता है। कई विद्वानों ने इस आशय के

वक्तव्य दिये हैं।[1] निबन्धों की तुलना में द्विवेदीजी का आलोचनात्मक साहित्य अधिक प्रौढ है। प्राचीन भारतीय आदर्शों पर उनके समीक्षा-सिद्धान्त आधृत थे और उन्हीं सिद्धान्तों पर उन्होने कविता, नाटक आदि के सम्बन्ध में अपनी समीक्षा-दिशा निर्धारित की। द्विवेदीजी की समीक्षाओं का मूल प्रेरक स्रोत उनका सम्पादकीय जीवन माना जा सकता है। लोकजीवन के मंगल की कामना एवं रसात्मकता को वे काव्य, नाटक आदि का लक्ष्य मानते थे। **डॉ० शंकरदयाल चौऋषि** ने ठीक ही लिखा है :

"द्विवेदीजी की समीक्षाएँ तथा काव्य-विवेचनाएँ केवल कर्त्तव्य-पालन के निमित्त नहीं होती थीं। वे सोद्देश्य तथा निर्माणकारी होती थी। वे उनके द्वारा काव्यकारों का मार्गदर्शन भी करना चाहते थे। इसलिए, उन्होंने कठोर, मर्यादावादी तथा संयमित आलोचक का चोला धारण किया था।"[2]

निर्भीक एवं लोकमंगलकारी आलोचक होने के साथ-ही-साथ द्विवेदीजी अपने समसामयिक वातावरण के प्रति सुधारात्मक दृष्टिकोण रखनेवाले सामाजिक प्राणी भी थे। अतएव, समीक्षा के बीच में सामयिक समस्याओं का प्रसंग आने पर वे समीक्षक-धर्म त्याग कर सुधारक-वक्तव्य देने लगते थे। उनकी ऐसी नीति के दर्शन अधिकांशतः पुस्तक-परीक्षाओं में दीख पड़ते हैं। जैसे, सन् १९०७ ई० की 'सरस्वती' में 'स्त्रीशिक्षा' पुस्तक की आलोचना करते हुए उन्होंने स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता पर ही विस्तार से विचार किया है। ऐसी समीक्षा समस्याप्रधान हो जाती है और समीक्षक-धर्म से च्युत होकर ही लिखी जा सकती है। द्विवेदीजी की समीक्षाओं में बहुधा यह दोष मिलता है। इसका कारण एकमेव यही माना जा सकता है कि द्विवेदीजी मुख्यतः लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित थे। कुल मिलाकर, द्विवेदीजी के

---

१. (क) "सच तो यह है कि चाहे जिस कारण से भी हो, द्विवेदीजी की निबन्धकारिता का स्वतन्त्र रूप से विकास न हो सका। उनकी छोटी-छोटी रचनाएँ संख्या में लगभग ढाई सौ है, मगर सब टिप्पणी जैसी हैं।" —श्रीहंसकुमार तिवारी : 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १३, पृ० १०४।

(ख) स्वाधीन चिन्तन, अनभिभूत विचार, अछूती भावना—जो निबन्ध की आन्तरिक स्वरूप-शक्तियाँ है, इनके निबन्धों में कम ही मिलती है। इनमें संग्रहबोध की विविधता, जानकारी की बहुश्रुतता और पत्रकारिता की सूचना-सम्पन्नता ही अधिक है।"—श्रीजयनाथ नलिन : हिन्दी-निबन्धकार, पृ० १०३।

२. डॉ० शंकरदयाल चौऋषि : 'द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन', पृ० १५९।

आलोचना-साहित्य के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि आचार्य-परम्परा में द्विवेदीजी ने भी अपने समीक्षात्मक निष्कर्षों का सर्जन किया और तदनुकूल आचरण की आदर्शवादी नीति हिन्दी-जगत् के सम्मुख रखी। **डॉ० राजकिशोर कक्कड़** ने उनके समीक्षा-साहित्य के बारे में लिखा है : "उनका महत्त्व उनके आलोचनात्मक साहित्य की अपेक्षा उनकी प्रेरणा पर निर्मित साहित्य के लिए अधिक है। वे साहित्य के आलोचक से कहीं अधिक जीवन, भाषा, साहित्य-रचना, आदर्श, सामयिक नीति तथा अपने समस्त युग की गतिविधि के आलोचक थे।"[1]

रह गई द्विवेदीजी की कविता। काव्यक्षेत्र भी द्विवेदीजी की लेखनी से अछूता नही बचा है। उन्होने व्रजभाषा, हिन्दी, संस्कृत और बैंसवाड़ी में कविताएँ लिखी हैं। अपनी मौलिक और अनूदित कविताओं में उन्होंने विविध सामाजिक, पौराणिक और साहित्यिक विषयों का प्रस्तुतीकरण किया है। अनुवादों में तो द्विवेदीजी कविता के सौन्दर्य, रसात्मकता एवं भाव-प्रकाशन क्षमता की रक्षा कर सके हैं, परन्तु मौलिक, कविताओं में ऐसा नही हो सका है। उनकी अधिकांश मौलिक कविताएँ गद्य का रूपान्तर-मात्र बनकर रह गई हैं। उनमे कहीं भी कवित्व एवं रसात्मकता के दर्शन नही होते। मौलिक कविताओ की तुलना मे द्विवेदीजी की अनूदित कविताएँ अधिक अच्छी बन पड़ी है। मौलिक काव्य में जो भी असरसता एवं प्रवाहहीनता परिलक्षित होती है, उसका कारण द्विवेदीजी की अतिशय नैतिकता एवं आदर्शवादिता को ही माना जा सकता है। कविताओं में भी इस नीरसता एवं कवि के रूप में द्विवेदीजी की असफलता को विभिन्न आलोचकों ने भी लक्ष्य किया है।[2] अतएव, द्विवेदीजी की कविताओं को उनकी प्रसिद्धि का आधार नहीं बनाया जा सकता है।

---

१. डॉ० राजकिशोर कक्कड़ : 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य में आलोचना का विकास', पृ० ५८८।

२. (क) "द्विवेदीजी के अनुवादों को छोड़कर अन्य लगभग सभी मौलिक रचनाएँ विचारों अथवा भावों की पद्य में परिणति-मात्र हैं। उनमें उन आनन्दस्वरूप रसों की निष्पत्ति करनेवाले गुणों—शब्द एवं अर्थ-सौन्दर्यों का नितान्त अभाव है।...माधुर्य को तो द्विवेदीजी की नैतिकता साफ हजम कर गई है।"—डॉ० रामकुमार वर्मा : 'आधुनिक हिन्दी-काव्यभाषा', पृ० ४०६।

(ख) "द्विवेदीजी के अपने काव्य में उनकी देशभक्ति, भाषाशक्ति, जनताभक्ति आदि उच्च भावनाओं का प्रसार हमें प्रभावित करता है, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति में कवि को सफलता नहीं मिली है।"—डॉ० विश्वम्भर-नाथ उपाध्याय : 'आधुनिक हिन्दी-कविता : सिद्धान्त और समीक्षा', पृ० १२४।

(ग) "रस की प्रधानता देने पर भी वे अपनी रचनाओं में रस की निष्पत्ति करने में असमर्थ रहे हैं।"—डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त : 'आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त, पृ० १२२-१२३।

द्विवेदीजी का इतर साहित्य वैविध्य-पूर्ण एवं बिखरा हुआ है। कथा-साहित्य के क्षेत्र में भी उनकी लेखनी का कमाल किंचित् मात्रा मे दीखता है और जीवनी-साहित्य की रचना में तो द्विवेदीजी पटु ही थे। नाटकों की रचना द्विवेदीजी ने नही की। उपयोगी विषयों के साहित्य का भाण्डार उन्होंने 'सरस्वती' के माध्यम से भरा और इस दिशा में उनकी उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण भी हैं। आविष्कार, चिकित्सा-विज्ञान, प्राणिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र जैसे उपयोगी शास्त्रो से सम्बन्ध रखनेवाली कई मौलिक-अनूदित रचनाएँ द्विवेदीजी ने प्रस्तुत की।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की सम्पूर्ण साहित्यिक उपलब्धियों के इस अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि साहित्यकार केवल अपने रचनात्मक साहित्य से ही ऐतिहासिक गौरव का अधिकारी नही बन जाता है। द्विवेदीजी इसके उदाहरण है। उनके द्वारा लिखा गया साहित्य अधिकांशतः शीर्षकोटि का नही है, फिर भी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उनका महत्त्व आलोक-स्तम्भ के समान है एवं उनके नाम पर सामयिक काल का नामकरण 'द्विवेदी-युग' उचित ही हुआ है। **डॉ० रामअवध द्विवेदी** ने लिखा है :

"साधारणतया कह सकते हैं कि द्विवेदीजी में असाधारण प्रतिभा न थी, न वे महान् चिन्तक ही थे, परन्तु उनमें सुधारक का उत्साह था और उद्देश्य की पूर्त्ति के निमित्त कार्य करने की शक्ति थी। इन्ही कारणो से वे अपने युग के अप्रतिम साहित्यकार है।"[1]

द्विवेदीजी ने साहित्यिक मार्ग-निर्देशन करके, भाषा और व्याकरण की दृष्टि से हिन्दी का संस्कार करके एवं हिन्दी-जगत् का परिचय विभिन्न नये लेखकों-कवियों से कराकर वह ऐतिहासिक स्थान हिन्दी के साहित्येतिहास में प्राप्त कर लिया था, जिसके लिए महान् साहित्यिक उपलब्धियों की पृष्ठभूमि अन्य साहित्यिक रखते है। द्विवेदीजी की साधना का यही उत्कर्ष एव निष्कर्ष माना जा सकता है। हिन्दी-साहित्य की आज जितनी भी उन्नति हुई है, उसकी विकासात्मक दिशा का निर्देश द्विवेदीजी ने किया था। अतएव, आधुनिक समस्त हिन्दी-साहित्य द्विवेदीजी की ही देन है—यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण नही कहा जायगा।

●

१. डॉ० रामअवध द्विवेदी : 'हिन्दी-साहित्य के विकास की रूपरेखा', पृ० १६०।

प्रमुख सहायक ग्रन्थ एवं पत्रिकाएँ

हिन्दी :

अर्जुनदास केडिया : भारती भूषण, प्र० सं०, १९८७ सं० ।

आशा गुप्त : खड़ी बोली-काव्य मे अभिव्यंजना, प्र०सं०, सन् १९६२ ई० ।

ओंकारनाथ शर्मा : हिन्दी-निबन्ध का विकास, प्र० सं०, सन् १९६४ ई० ।

उदयभानु सिंह : महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, प्र० सं०, सन् १९५३ ई० ।

उर्मिला गुप्त : हिन्दी-कथासाहित्य के विकास में महिलाओं का योग, प्र० सं०, सन् १९६६ ई० ।

कमलेश्वरप्रसाद भट्ट : हिन्दी के प्रतिनिधि आलोचकों की गद्य-शैलियाँ, प्र० सं०, सन् १९६८ ई० ।

कृष्णवल्लभ जोशी : नव्य हिन्दी-समीक्षा, प्र० सं०, सन् १९६६ ई० ।

कृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास, प्र० सं०, सन् १९४२ ई० ।

केसरीनारायण शुक्ल : आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, प्र० सं०, सन् २००४ वि० (१९४७ ई०) ।

गणपतिचन्द्र गुप्त : हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, प्र० सं०, सन् १९६५ ई० ।

गुलाब राय : १. अध्ययन और आस्वाद, आत्माराम ।
२. आलोचना-कुसुमांजली, रूपकमल ।
३. काव्य के रूप, आत्माराम, सन् १९४७ ई० ।
४. नवरस, द्वि० सं०, सन् १९३४ ई० ।
५. सिद्धान्त और अध्ययन, छठा सं०, सन् १९६५ ई० ।
६. हिन्दी-गद्य का विकास और प्रमुख शैलीकार, प्र० सं०, सन् १९५९ ई० ।

गोपाल राय : हिन्दी-कथासाहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव, प्र० सं०, सन् १९६५ ई० ।

गोविन्द त्रिगुणायत : शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, भाग १-२, सन् १९६२ ई० ।

जगन्नाथप्रसाद शर्मा : १ हिन्दी-गद्य के युगनिर्माता, नन्दकिशोर ब्रदर्स,काशी।
२. हिन्दी की गद्यशैली का विकास, नागरी-प्रचारणी सभा, काशी, सं० १९८७ वि०।

जनार्दनस्वरूप अग्रवाल : हिन्दी में निबन्ध-साहित्य, द्वि० सं०, सन् १९५३ ई०।

जयचन्द राय : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : सिद्धान्त और साहित्य, दिल्ली, सन् १९६३ ई०।

जयनाथ नलिन : हिन्दी-निबन्धकार, द्वि० सं०, सन् १९६४ ई०।

जितराम पाठक : राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि में आधुनिक हिन्दी-काव्य का विकास, पटना-विश्वविद्यालय, पी-एच्० डी० शोध-प्रबन्ध, सन् १९६२ ई०।

जेकब पी० जॉर्ज : आधुनिक हिन्दी-गद्य और गद्यकार, प्र० सं०, सन् १९६६ ई०।

दशरथ ओझा समीक्षा-शास्त्र, राजपाल ऐण्ड सन्स, दिल्ली, सन् १९५५ ई०।

देवराज : १. आधुनिक समीक्षा, लखनऊ, सन् १९५४ ई०।
२. छायावाद का पतन, वाणी मन्दिर, छपरा, सन् १९४८ ई०।
३. प्रतिक्रियाएँ, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् १९६६ ई०।
४. साहित्य-चिन्ता, दिल्ली, सन् १९५० ई०।

देवराज उपाध्याय : साहित्य तथा साहित्यकार, जयपुर, सन् १९६० ई०।

देवीदत्त शुक्ल : द्विवेदी-काव्यमाला, प्र० सं०, सन् १९४० ई०।

देवीशंकर अवस्थी : आलोचना और आलोचना, कानपुर, सन् १९६१ ई०।

धीरेन्द्र वर्मा : १. परिषद्-निबन्धावली, भाग १-२।
२. विचारधारा, प्रयाग, सं० १९९८।
३. हिन्दी-साहित्यकोश, भाग २, प्र० सं०, सन् १९६३ ई०।

नन्ददुलारे वाजपेयी : १. आधुनिक साहित्य, सं० २००७ वि०।
२. नया साहित्य : नये प्रश्न, सन् १९५५ ई०।
३. राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ, सन् १९६२ ई०।
४. राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध,सन् १९६५ ई०।
५. हिन्दी-साहित्य : बीसवी शताब्दी, सन् १९४५ ई०।

नगेन्द्र : १. अनुसन्धान और आलोचना,दिल्ली,सन् १९६१ ई०।
२. आधुनिक हिन्दी-कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, द्वि० सं०, सन् १९६२ ई०।

३. आलोचक की आस्था, दिल्ली, प्र० स०, सन् १९६६ ई० ।
४. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, दिल्ली, सं० २०१३ वि० ।
५. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, दिल्ली, द्वि० सं०, सन् १९६३ ई० ।

नलिनविलोचन शर्मा : १. दृष्टिकोण, पटना, सन् १९४७ ई० ।
२. मानदण्ड, पटना, सन् १९६३ ई० ।

नामवर सिंह : १. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, प्रयाग, सन् १९५४ ई० ।
२. इतिहास और आलोचना, काशी, सन् १९६२ ई० ।
३. छायावाद, बनारस, सन् १९५५ ई० ।

निर्मल तालवार(सम्पा०) : आचार्य द्विवेदी, साहित्य-प्रतिष्ठान, आगरा, सन् १९६४ ई० ।

पट्टाभिसीतारमैया : काँगरेस का इतिहास, भाग १ ।

पशुराम शुक्ल विरही : आधुनिक हिन्दी-काव्य में यथार्थवाद, प्र० सं०, सन् १९६६ ई० ।

प्रकाशचन्द्र गुप्त : १. आधुनिक हिन्दी-साहित्य : एक दृष्टि, बीकानेर, सन् १९५२ ई० ।
२. आज का हिन्दी-साहित्य, दिल्ली, सन् १९६६ ई० ।
३. नया हिन्दी-साहित्य : एक दृष्टि, बनारस, प्र० स०, सन् १९४० ई०, तृ० सं०, सन् १९४६ ई० ।
४. साहित्य-धारा, बनारस, सन् १९५६ ई० ।
५. हिन्दी-साहित्य की जनवादी परम्परा, प्रयाग, सन् १९५३ ई० ।

प्रतापनारायण टण्डन : समीक्षा के मान और हिन्दी-समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ (२ खण्ड), लखनऊ, सन् १९६५ ई० ।

प्रभाकर माचवे : १. व्यक्ति और वाङ्मय, साहनी प्रकाशन, दिल्ली ।
२. सन्तुलन, दिल्ली, सन् १९५४ ई० ।
३. समीक्षा की समीक्षा, दिल्ली, १९५३ ई० ।

प्रभात शास्त्री (सम्पादक) : संचयन, प्र० सं० १९४९ ई० ।

प्रेमनारायण टण्डन : द्विवेदी-मीमांसा, प्र० सं०, सन् १९३९ ई० ।

ब्रजरत्नदास (सम्पा०) : भारतेन्दु-ग्रन्थावली, भाग १, प्र० सं० (२००७ वि०) ।

ब्रह्मदत्त शर्मा : हिन्दी-साहित्य में निबन्ध, चतुर्थ सं०, सन् १९५६ ई० ।

भगवत्स्वरूप मिश्र : हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास, देहरादून, सन् १९६१ ई०।

भगीरथ मिश्र : १. अध्ययन, लखनऊ, सन् १९६३ ई०।
२. कला, साहित्य और समीक्षा, दिल्ली, सन् १९६३ ई०।
३. साहित्य-साधना और समाज, लखनऊ।

भारतीय : लेखनी उठाने के पूर्व, प्र० सं०, सन् १९४० ई०।

महावीरप्रसाद द्विवेदी : १. आलोचनांजलि, इण्डियन प्रेस, प्रयाग सन् १९२८ ई०।
२. कालिदास और उनकी कविता राष्ट्रीय हिन्दी-मन्दिर, जबलपुर, सं० १९७७ वि०।
३. कालिदास की निरंकुशता, प्रयाग, सन् १९११ ई०।
४. कुमारसम्भव, तृ० सं०, सन् १९२८ ई०।
५. नैषधचरितचर्चा, कलकत्ता, सन् १९१६ ई०।
६. प्राचीन कवि और पण्डित, प्र० सं०, सन् १९१८ ई०।
७. रसज्ञ-रंजन, आगरा, सं० २००६ वि० (सप्तम संस्करण)
८. लेखांजलि, कलकत्ता, सं० १९८५ वि०।
९. विक्रमांकदेवचरितचर्चा, प्रयाग, सन् १९०७ ई०।
१०. विचार-विमर्श, भारती भण्डार, काशी, सं० १९८१ वि०।
११. समालोचना-समुच्चय, प्रयाग, सन् १९३० ई०।
१२. साहित्य-सन्दर्भ, लखनऊ, सं० १९८५ वि०।
१३. साहित्य-सीकर, प्रयाग, सन् १९४८ ई०।
१४. सुकवि-संकीर्त्तन, लखनऊ, प्र० सं०।
१५. हिन्दी-कालिदास की आलोचना, झाँसी, सन् १९०१ ई०।

मिश्रबन्धु : १. साहित्य-पारिजात, लखनऊ।
२. मिश्रबन्धु-विनोद (४ भाग), लखनऊ।

रमाकान्त त्रिपाठी हिन्दी-गद्यमीमांसा, कानपुर, सन् १९३२ ई०।

रवीन्द्रनाथसहाय वर्मा : १. पाश्चात्य साहित्यालोचन और हिन्दी पर उसका प्रभाव, गोरखपुर, सन् १९६० ई०।
हिन्दी-काव्य पर आंग्ल प्रभाव, कानपुर, सं० २०११ वि०।

रांगेय राघव : १. काव्य, कला और शास्त्र, आगरा, सन् १९५५ई०।
: २. काव्य, यथार्थ और प्रगति, आगरा, सं० २०१२ वि०।
: ३. प्रगतिशील साहित्य के मानदण्ड, आगरा, सन् १९५४ ई०।

राजकिशोर पाण्डेय भारतीय भाषाओं का आधुनिक साहित्य, प्र० सं०, सन् १९६१ ई०।

रामअवध द्विवेदी हिन्दी-साहित्य के विकास की रूपरेखा, प्र० सं०।

रामकुमार वर्मा : १. साहित्यशास्त्र, इलाहाबाद, सन् १९५६ ई०।
२. साहित्य-समालोचना, प्रयाग, सं० १९८७ वि०।
३. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, इलाहाबाद, सन् १९३८ ई०।

रामकुमार सिंह : आधुनिक हिन्दी-काव्यभाषा, प्र० सं०, सन् १९६५ ई०।

रामगोपाल सिंह चौहान : भारतेन्दु-साहित्य, प्र० सं०, सन् १९५७ ई०।

रामचन्द्र प्रसाद : हिन्दी-आलोचना पर पाश्चात्त्य प्रभाव, शोध-प्रबन्ध, पटना-विश्वविद्यालय, सन् १९६७ ई०।

रामचन्द्र मिश्र : श्रीधर पाठक तथा हिन्दी का पूर्व-स्वच्छन्दतावादी काव्य, प्र० सं०, सन् १९५९ ई०।

रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, नवाँ संस्करण, सन् २००९ वि०।

रामदरश मिश्र : हिन्दी-आलोचना का इतिहास, प्र० सं०, सन् १९६० ई०।

रामयतन सिंह भ्रमर : आधुनिक हिन्दी-कविता में चित्र-विधान, प्र० सं०, सन् १९६५ ई०।

रामविलास शर्मा : १. भारतेन्दु-युग, चतुर्थ सं०, सन् १९६३ ई०।
२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, द्वि० स०, सन् १९६६ ई०।
३. भाषा और समाज, दिल्ली, सन् १९६१ ई०।
४. भाषा, साहित्य और संस्कृति, सन् १९५४ ई०।
५. लोक-जीवन और साहित्य, आगरा, सन् १९५५ ई०।
६. संस्कृति और साहित्य, आगरा, सन् १९५५ ई०।

लक्ष्मीनारायण गुप्त : हिन्दी-भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन, प्र० स०, सं० २०१८ वि० (सन् १९६१ ई०)।

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' : हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास, नागरी-प्रचारिणी सभा, सन् १९६५ ई०।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : १. आधुनिक हिन्दी-साहित्य, हिन्दी-परिषद्, प्रयाग-विश्वविद्यालय, सन् १९४१ ई० ।
२. उन्नीसवीं शताब्दी, प्र० सं०, सन् १९३३ ई० ।
३. आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका, प्रयाग-विश्वविद्यालय, सन् १९५२ ई० ।
४. हिन्दी-गद्य की प्रवृत्तियाँ, प्र० सं०, सन् १९५८ ई० ।
५. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, लखनऊ, सन् १९५२ ई० ।

वासुदेवनन्दन प्रसाद : विचार और निष्कर्ष, प्र० सं०, सन् १९५६ ई० ।

विजयेन्द्र स्नातक : आलोचना : रामचन्द्र शुक्ल (डॉ० गुलाब राय और विजयेन्द्र स्नातक द्वारा सम्पादित), दिल्ली, द्वि० स०, सन् १९६२ ई० ।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र : १. वाङ्मय-विमर्श, चतुर्थ सं०, सं० २००८ वि० ।
२. हिन्दी का सामयिक साहित्य, सरस्वती-मन्दिर, काशी, स० २००८ वि० ।

विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : आधुनिक हिन्दी-कविता : सिद्धान्त और समीक्षा, प्र० सं०, सन् १९६२ ई० ।

शकरदयाल चौऋषि : द्विवेदी-युग की हिन्दी-गद्यशैलियों का अध्ययन, प्र० सं०, सन् १९६५ ई० ।

शचीरानी गुर्टू : हिन्दी के आलोचक, दिल्ली, सन् १९५५ ई० ।

शत्रुघ्न प्रसाद : द्विवेदीयुगीन हिन्दी-नाटक, पटना-विश्व० शोध-प्रबन्ध, सन् १९६८ ई० ।

शान्तिप्रिय द्विवेदी : १. युग और साहित्य, प्रयाग, सन् १९४१ ई० ।
२. साहित्यिकी, बाँकीपुर, सन् १९३८ ई० ।
३. संचारिणी, प्रयाग, सन् १९४१ ई० ।
४. सामयिकी, काशी, सं० २००१ वि० ।
५. हमारे साहित्यनिर्माता, प्र० सं०, सन् १९४७ ई० ।

शितिकण्ठ मिश्र : खड़ी बोली का आन्दोलन, प्र०सं० सन् १९५८ ई० ।

शिवकरण सिंह : आलोचना के बदलते मानदण्ड और हिन्दी-साहित्य, प्र० सं०, सन् १९६७ ई० ।

शिवचन्द्र प्रताप : हिन्दी-साहित्य : एक रेखाचित्र, प्र० सं०, सन् १९५७ ई० ।

शिवपूजन सहाय (सं०) : १. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, प्र० सं०, सन् १९३३ ई० ।
२. शिवपूजन-रचनावली, भाग ४, प्र० सं०, सन् १९५९ ई० ।

शिवदान सिंह चौहान : १. आलोचना के मान, दिल्ली, सन् १९५८ ई० ।
२. आलोचना के सिद्धान्त, दिल्ली, १९६० ई० ।
३. आलोचना : इतिहास तथा सिद्धान्त, दिल्ली, द्वि० सं०, सन् १९६४ ई० ।
४. साहित्य की परख, प्रयाग, सन् १९४८ ई० ।
५. साहित्य की समस्याएँ, दिल्ली, सन् १९५१ ई० ।
६. साहित्यानुशीलन, दिल्ली, सन् १९५५ ई० ।
७. हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष, द्वि० सं०, सन् १९६१ ई० ।

शिवनाथ : हिन्दी-आलोचना की अर्वाचीन प्रवृत्तियाँ, प्र० सं०, सन् १९६१ ई० ।

सुधीन्द्र : १. हिन्दी-कविता में युगान्तर, प्र० सं०, सन् १९५६ ई० ।
२. हिन्दी-कविता में क्रान्ति-युग, प्र० सं०, सन् १९४७ ई० ।

सुरेशचन्द्र गुप्त : आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त, प्र० सं० सन् १९६० ई० ।

सुषमा नारायण भारतीय राष्ट्रवाद के विकास की हिन्दी-साहित्य में अभिव्यक्ति, प्र० सं०, सन् १९६६ ई० ।

सन्तबख्श सिंह : बीसवीं शती के प्रथम दो दशकों की 'सरस्वती' और आधुनिक साहित्य के विकास में उसका योग, पी-एच० डी० शोध-प्रबन्ध, बी० एच० यू०, सन् १९६३ ई० ।

हजारीप्रसाद द्विवेदी (सं०) : १. पण्डित जगन्नाथ तिवारी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, प्र० सं०; सन् १९६६ ई० ।
२. विचार और वितर्क, प्र० सं०, सन् १९४५ ई० ।
३. साहित्य-सहचर, वाराणसी, सन् १९६५ ई० ।
४. हिन्दी-साहित्य, सं० २००९ वि० ।

हरिवंशराय 'बच्चन' (सं०) : पत्रकारिता के गौरव : बाँकेबिहारी भटनागर, प्र०सं०, सन् १९६७ ई० ।

अंगरेजी :

Bradley, A. C. : Oxford Lectures on Poetry, London, 1962.

Caudwell,Christopher : Studies in a Dying Culture, London 1956.

Collingwood, R. C. : The Principles of Art, Oxford, 1962.

Daiches, David. : 1. Literary Easays,London & Edinburgh, 1956.
2. A Study of Literature for Readers and Critics, New York, 1948.

Eliot, T. S. : The Sacred Wood, London, 1957.

Frye, Northrop : Anatomy of Criticism, Princeton, 1957.

Ghiselin, Brewster : The Creative Process, A Mentor Book, 1955.

Highet, Gilbert : The Classical Tradition, Oxford, 1949.

Holloway, John : The Charted Mirror, London, 1960.

Hudson, W. H. : An Introduction to the Study of Literature, London, 1958.

Hulme, T. E. : Speculations.

Jarrell. Poetry and the Age, New York, 1962.

Jones, Edmnmd D. : English critical Essays, XIX Century, 1945.

Levin, Harry (Ed.) : Perspectives of Crticism, Cambridge, 1950.

Lucas, F. L. : Style, 1956.

Murry, Middleton : The Problem of Styles, 1962.

Scott James, R. A. : The Making of Literature, 1944.

Wimsatt, William K. (Jr)& Cleanth Brooks : Literary Criticism : A Short History, New York, 1959.

Worsfold, W. Basil : The Principles of Criticism, London, 1923.

पत्र-पत्रिकाएं :

१. अवन्तिका
२. आलोचना
३. कल्पना
४. नागरी-प्रचारिणी पत्रिक
५. नई धारा
६. माध्यम
७. सरस्वती
८. हिन्दी-अनुशीलन
९. हिमालय